हिन्दी-आन्दोलन

संपादक

लक्ष्मीकान्त वर्मा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रयाग

प्रकाशन-वर्ष	शक १८८६ : सन् १९६४
संस्करण	प्रथम संस्करण : २१०० प्रतियाँ
मूल्य	रु० [illegible] ५० पैसे
प्रकाशक	गोपालचन्द्र सिंह सचिव, प्रथम शासन-निकाय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मुद्रक	रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश सरकार ने जब विधान सभा और प्रशासन के कार्यों में २६ जनवरी, १९६४ के बाद भी अंग्रेज़ी को कायम रखने का निश्चय किया और इस निश्चय को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से विधान-परिषद् में विधेयक प्रस्तुत किया, तब समस्त हिन्दी-जगत् में, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश में, घोर असंतोष प्रकट किया जाने लगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से यह माँग की गयी कि वह इस विधेयक के विरोध में जनमत को प्रबल करने के लिए आन्दोलन संगठित और संचालित करे। सम्मेलन के तत्त्वावधान में प्रयाग में हिन्दी-संघर्ष-समिति का संघटन किया गया। प्रान्त भर में व्यापक रूप से संघर्ष का वातावरण तैयार करने का आयोजन किया गया। श्री बालकृष्ण राव के नेतृत्व में प्रयाग के साहित्यकारों, पत्रकारों तथा अन्य हिन्दी-हितैषियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल मुख्य मंत्री श्रीमती सुचेता कृपालानी और प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कमलापति त्रिपाठी से मिला। संघर्ष-समिति की ओर से प्रयाग और प्रयाग के बाहर आन्दोलन आयोजित किया। संघर्ष-समिति ने इस प्रसंग में एक विवरणिका 'हिन्दी-समाचार' के नाम से प्रस्तुत की। इसमें प्रयुक्त सामग्री का संकलन हिन्दुस्तान, धर्मयुग, माध्यम, सम्मेलन-पत्रिका, सम्मेलन के दीक्षान्त भाषण, राष्ट्रभाषा जयन्ती-अंक, स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी-संघर्ष का इतिहास, तथा हिन्दी-भाषा-आन्दोलन आदि पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों से हुआ है। सम्मेलन इन सबके लेखकों और प्रकाशकों का आभारी है।

संघर्ष-समिति के प्रयास के फलस्वरूप प्रदेश-सरकार ने निश्चय प्रकट किया कि वह विधेयक को रद्द हो जाने देगी। यह हिन्दी-जगत् और हिन्दी-प्रेमियों के लिए हर्ष की बात थी। संघर्ष-समिति का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ और न उसे समाप्त होना चाहिए।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन-निकाय ने संघर्ष-समिति द्वारा आयोजित आन्दोलन की सफलता पर समिति को बधाई दी और उसने निश्चय किया कि 'हिन्दी-समाचार' को परिवर्त्तित, परिवर्द्धित कर नये रूप में उसे सम्मेलन की ओर से प्रकाशित किया जाय। इस निश्चय के परिणामस्वरूप 'हिन्दी-आन्दोलन' का प्रकाशन किया जा रहा है। सम्मेलन को विश्वास है कि हिन्दी का कार्य करने वाले देश-विदेश के बहुसंख्यक हिन्दी-सेवियों के लिए यह ग्रन्थ अपने कार्य के सिलसिले में उपयोगी सिद्ध होगा। इसके प्रकाशन का यही प्रयोजन है। हमें यह विश्वास है कि इस ग्रन्थ का अच्छा स्वागत होगा। हिन्दी का आन्दोलन अब तनिक भी शिथिल नहीं किया जा सकता ; अतः हम इसकी आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ का अगला संस्करण और भी अधिक परिवर्त्तित और समृद्ध रूप से प्रकाशित कर सकेंगे।

गोपालचन्द्र सिंह
सचिव, प्रथम शासन-निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

विषय-सूची

खण्ड : १

हिन्दी ही क्यों ?

खण्ड : २

अंग्रेजी क्यों नहीं ?

खण्ड : ३

दक्षिण भारत और हिन्दी-आन्दोलन

खण्ड : ४

हिन्दी-संघर्ष-समिति

हिन्दी आन्दोलन के सूत्रधार राष्ट्रपिता बापू

बापू के सङ्कल्प

मैं यदि तानाशाह होता—

तो आज ही विदेशी भाषा में शिक्षा का दिया जाना बन्द कर देता।

सारे अध्यापकों को स्वदेशी भाषाएँ अपनाने को मजबूर कर देता।

जो आनाकानी करते, उन्हें बर्ख़ास्त कर देता।

मैं पाठ्य पुस्तकों के तैयार किये जाने का इन्तज़ार न करता।

५. ७. १९२८

—यंग इण्डिया

बालकृष्ण राव

यदि मैं तानाशाह होता

'यदि मैं तानाशाह होता तो विदेशी माध्यम द्वारा शिक्षा तुरंत बंद कर देता, जो अध्यापक इस परिवर्तन के लिए तैयार न होते उन्हें बर्खास्त कर देता, पाठ्यपुस्तकों के तैयार किये जाने का इंतज़ार न करता।' पिछले प्रायः एक पखवारे भर प्रयागनिवासी महात्मा गांधी के इन शब्दों को अपने नगर के अनेक स्थानों पर चिपके पोस्टरों पर लिखे देखते रहे हैं। उत्तर प्रदेश-शासन द्वारा जो 'भाषा विधेयक' विधानमंडल में प्रस्तुत हुआ था उसे ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि हम लोगों ने राष्ट्रपिता के इन शब्दों को याद करने-कराने की कोशिश की।

शासन के इस प्रयास से जो चेतना जागृत हुई, स्वभाषा के अपमान की जो तीव्र प्रतिक्रिया हमारे मन में हुई, उसके फलस्वरूप ऐसा जान पड़ने लगा कि 'स्वदेशी आंदोलन' की तरह 'स्वभाषा आंदोलन' भी चल निकलेगा। प्रयाग ने इस स्वतःस्फूर्त अभियान में प्रदेश का नेतृत्व किया। एक सार्वजनिक सभा में विधेयक का विरोध किया गया, निश्चय किया गया कि विरोध को सक्रिय, सुसंघटित संघर्ष का रूप देने के लिए योजना-बद्ध कार्य किया जाय। एक 'हिंदी संघर्ष समिति' स्थापित हुई जिसके तत्वावधान में एक व्यावहारिक कार्यक्रम बना। निश्चित हुआ कि सितंबर ८ से एक 'विधेयक विरोधी सप्ताह' मनाया जाय जिसकी पूर्णाहुति हिंदी दिवस (सितंबर १४) को एक सार्वजनिक सभा के रूप में हो। आंदोलन की एक विवरणिका प्रकाशित हो, नगर के विभिन्न क्षेत्रों में सभाएँ की जायँ, एक सबल संघात जनसमूह के मन और मस्तिष्क पर पड़े। शासन ने विधान परिषद में अपने विधेयक को प्रस्तुत करने के पहले ही विचार बदल दिया। इसका श्रेय किसी एक व्यक्ति या वर्ग को देना ग़लत है: शासन का यह मत-परिवर्तन मूलतः सद्‌विवेक के सहसा जाग उठने का परिणाम था या संभाव्य जनविरोध की कल्पना का, यह कौन जाने। पर यह अस्वाभाविक नहीं था कि हिंदी वालों ने विधेयक की विभीषिका का हट जाना अपने अभियान की सफलता का प्रमाण माना।

विधेयक के रद्द होने—या रद्द होना निश्चित हो जाने—के बाद 'विधेयक विरोधी सप्ताह' मनाने की ज़रूरत नहीं रही। यह सहज स्वाभाविक जान पड़ता यदि 'संघर्ष समिति' एक औपचारिक बैठक कर के शासन को बधाई देती और अपनी कार्यसिद्धि पर प्रसन्न होकर 'खेल खत्म' का नोटिस लटका कर, दरवाज़े बंद कर देती। पर उसने किया कुछ और ही। उसने बधाई का संदेश तो मुख्य मंत्री के पास भेजा पर साथ ही यह भी निश्चय किया कि न अपना नाम बदलेगी न काम। विधेयक के विरोध में न सही, पर 'संघर्ष' जारी रखने की आवश्यकता अब भी थी—इस कारण समिति ने अपने कार्यक्रम को प्रायः पूर्ववत ही रखने का निश्चय किया। इसके अनुसार सप्ताह भर स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं, पोस्टर चिपकाये गये, लेख लिखे-लिखवाये गये, हर

प्रकार से एक व्यापक, जीवंत 'हिंदी आंदोलन' के अस्तित्व का बोध कराने के लिए उसके उपयुक्त वातावरण बनाने की चेष्टा की गयी। 'हिंदी दिवस' के दिन एक सार्वजनिक सभा श्री अमृतलाल नागर की अध्यक्षता में हुई जिसमें उपस्थित लोगों ने एक सामूहिक प्रतिज्ञा की कि हिंदी को उसका पद पूर्णरूपेण जब तक नहीं मिलेगा तब तक संघर्ष करते रहेंगे। सितंबर ८ से १४ तक (जिसे 'हिंदी सप्ताह' का नाम दिया गया था) जैसी सक्रियता परिलक्षित हुई थी यदि वैसी ही भविष्य में भी होती रही तो निश्चयपूर्वक एक ऐसी प्रेरक शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो जनभाषा को उसके अपेक्षित पद पर प्रतिष्ठित कराने में सफल होगी। हिंदी का प्रश्न केवल लेखकों और बुद्धिजीवियों का प्रश्न नहीं है, सामान्य जनता का प्रश्न है। विधेयक के विरोध में उठे आंदोलन का वास्तविक मूल्य और महत्व यही है कि वह 'लेखकों और बुद्धिजीवियों की बेचैनी' बन कर नहीं रह गया। सच्ची बात तो यह है कि आरंभ से ही उसका रूप एक व्यापक जन आंदोलन का ही रहा; जो लेखक और बुद्धिजीवी इसमें सक्रिय सहायक हुए वे भी लेखक और बुद्धिजीवी होने के कारण नहीं बल्कि इस कारण कि हिंदी के आंदोलन को सामान्य हिंदीभाषी जनता का आंदोलन मान सके, सबके साथ कंधे से कंधा मिला कर काम करने के लिए तैयार हो सके, लेखक और बुद्धिजीवी होने के नाते अपने को एक विशिष्ट वर्ग के रूप में अलग रखने के मोहजाल से मुक्त हो सके। प्रयाग के आंदोलन में जिस प्रकार मुक्त रूप से राजनीतिक कार्यकर्ता, लेखक, व्यवसायी, वकील, क्लर्क और अन्य अनेक वर्ग एक-दूसरे के स्वर में स्वर मिला कर हिंदी की बात कह सके, अपने अनेक पारस्परिक मतभेदों को भुला और दबा कर जिस प्रकार हिंदी के प्रश्न पर एकमत हो सके, वह सचमुच स्तुत्य है। जो प्रयाग में संभव हो सका वह निश्चय ही अन्यत्र भी हो सकता है—और यदि हिंदी को अंग्रेज़ी का स्थान सचमुच लेना है तो हो कर ही रहेगा।

प्रयाग के 'हिंदी सप्ताह' की अवधि में हुई अनेक सभाओं और गोष्ठियों में से एक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सितंबर १२ को उत्तर प्रदेश के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष श्री राधाकृष्ण के सभापतित्व में एक महत्वपूर्ण विचार-गोष्ठी हुई जिसमें ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में हिंदी को माध्यम के रूप में अपनाने के प्रश्न पर अधिकारी विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये। भाग लेने वालों में विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान तथा राजनीति शास्त्र के और स्थानीय इंजीनियरिंग तथा मेडिकल कालेजों के प्राध्यापक और उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता थे। इस बात पर सभी एकमत थे कि विज्ञान अथवा औद्योगिकी के किसी भी क्षेत्र में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाने में ऐसी कोई भी दिक्कत नहीं है जो आसानी से दूर न की जा सके। सभी ने कहा कि पारिभाषिक शब्दों के समुचित पर्याय हिंदी में हों या न हों, हिंदी को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा का माध्यम तुरंत बनाया जा सकता है—बशर्ते कि कोई सचमुच बनाना चाहे। लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष ने अपने विस्तृत अनुभव के आधार पर कहा कि "सारे प्रयत्नों के बावजूद देश में अंग्रेज़ी का स्तर बराबर गिरता ही जा रहा है, और गिरता ही जायगा। हम जितनी जल्दी इस बात को समझ और मान लें कि आगे बढ़ने के लिए हिंदी के सिवा कोई रास्ता नहीं है, उतना ही देश के लिए कल्याणकर होगा।" और शायद इन शब्दों से भी अधिक महत्वपूर्ण उनका यह कथन था कि "स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेज़ी पर जितना बल कभी नहीं दिया गया था, उसके प्रचार-प्रसार-उन्नयन की जितनी कोशिश कभी नहीं की गयी थी, उससे कहीं अधिक स्वतंत्रता के बाद से की जाने लगी है।" सबसे बड़े हिंदी-भाषी प्रदेश के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के ये शब्द—

सो भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के १७ और हिंदी को राजभाषा बनाने के संकल्प के १४ वर्ष बाद—और उधर, सुदूर नेपथ्य से आती हुई महात्मा गांधी की आवाज़: "यदि मैं तानाशाह होता तो . . ."।

यह निश्चय ही दुख की बात है कि देश के कर्णधार अब तक यही न समझ पाये कि अंग्रेज़ी के महत्व को घटाना हमारे लिए इस समय एक अनिवार्य आवश्यकता है—क्योंकि अभी हमें स्वतंत्र हुए इतने दिन नहीं हुए कि अंग्रेज़ी के प्रति हमारी दृष्टि वैसी ही स्वस्थ, संतुलित और स्पष्ट हो सके जैसी अन्य विदेशी भाषाओं के प्रति सहज ही हो सकती है। माना कि अंग्रेज़ी आज संसार में प्राय: सर्वाधिक उपयोगी भाषा हो गयी है, पर इसका न यह अर्थ है कि प्रत्येक भारतीय के लिए अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी है और न यही कि प्रत्येक अंग्रेज़ी जानने वाले भारतीय को अपने सामान्य, दैनंदिन जीवन में अंग्रेज़ी का उपयोग करना चाहिए। अंग्रेज़ी की अनिवार्य शिक्षा, अंग्रेज़ी के अध्ययन के लिए लोगों को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न, प्रशासकीय कार्य में अंग्रेज़ी का उपयोग—इन में से किस चीज़ की इस कारण ज़रूरत है कि अंग्रेज़ी एक महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय भाषा है ?

इस प्रश्न का उत्तर कौन दे ? जब तक देश के भाग्य-विधायक यह नहीं समझ जाते कि अंग्रेज़ी की गुलामी के विष को राष्ट्र के शरीर से पूरी तरह निकाले बिना पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ संभव नहीं है, कि बना पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ के स्वस्थ, संतुलित, अनाविल दृष्टि उपलभ्य नहीं हो सकती, और बिना स्वस्थ दृष्टि पाये हम कभी अपने लक्ष्य या मार्ग को भली भाँति देख न सकेंगे—जब तक हमारे शासक यह न समझ जायँगे तब तक यह आशा करना व्यर्थ है कि संविधान की राजभाषा-संबंधी धारा सचमुच मान्य होगी। शायद महात्मा गांधी के मन में कहीं यह आशंका छिपी थी कि देश स्वतंत्र भी हो जाय तो भी शायद राष्ट्रीय स्वाभिमान सच्चे अर्थ में जाग्रत न हो पाये। तभी तो उन्होंने अंग्रेज़ी को हटाने के लिए निरंकुश तानाशाह की शक्ति आवश्यक समझी—अन्यथा "यदि मैं तानाशाह होता" की जगह कहते : "यदि भारत स्वतंत्र हो जाता तो . . ."।

●
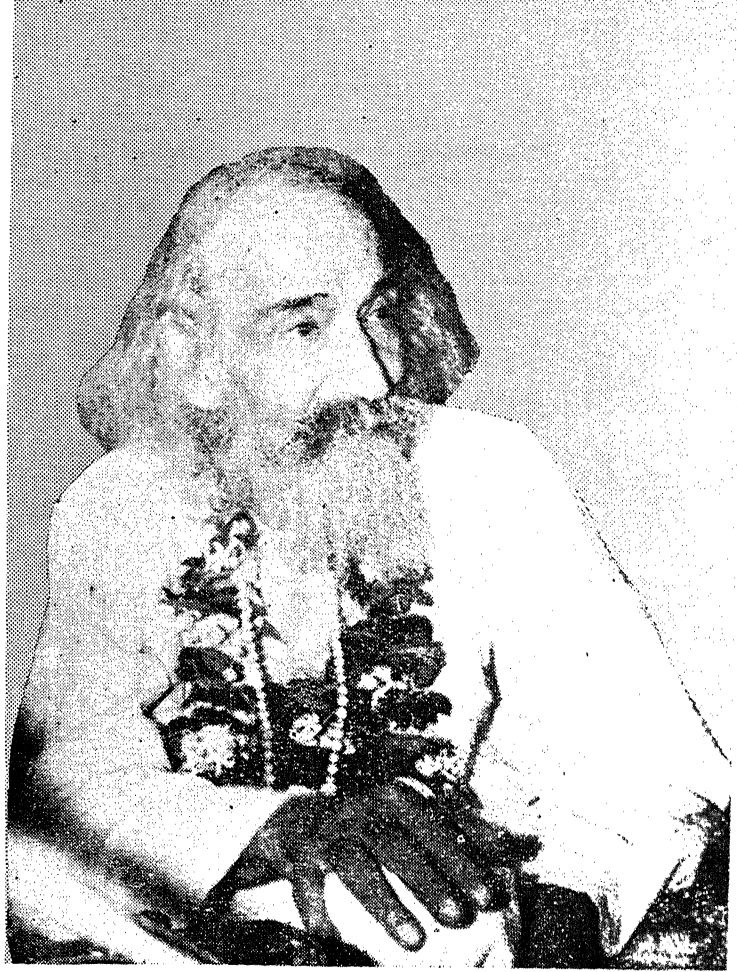
जिनकी प्रत्येक सांस हिन्दी आन्दोलन के लिए उत्सर्ग हुई
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

सम्पादकीय

आज अपने राष्ट्रीय जीवन में जिन संकटों के बीच से हम गुज़र रहे हैं, उनमें से भाषा की समस्या सर्वप्रथम है। बहुत से लोगों ने बहुधा कहा है कि जिस समय देश के सम्मुख अन्न-संकट, अर्थ-संकट हो, उस समय हिन्दी का प्रश्न, भाषा का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे महत्त्वपूर्ण क्या है और क्या नहीं है—इसका निर्णय क्षणिक आवेश में नहीं दिया जा सकता, किन्तु ज़रा-सी बुद्धि लगाने के बाद यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हम चाहे जितनी चेष्टा करके हिन्दी भाषा की प्रगति को रोकना चाहें, वह संभव नहीं है। आज यह बहाने कि देश के सामने अन्न संकट है, देश पर विदेशी आक्रमणकारी आँख लगाये बैठे हैं, या यह कि हम पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में लगे हैं, काम नहीं देंगे; क्योंकि यह सत्य है कि यदि देश के नागरिकों को स्वाभिमानी बनाना है, देश की सुरक्षा करनी है, अन्न संकट की महत्ता को भी जनता को समझाना है और पंचवर्षीय योजनाओं को वास्तविक रूप में जन-मानस का एक जीवन्त अंग बनाना है, तो इसके लिए हमें उनके हृदय के निकट जाना होगा और निकटतम सम्पर्क स्थापित करने के लिए हिन्दी भाषा का आश्रय भी लेना होगा। आज की जनता शासन के प्रति उदासीन है। यही नहीं है, तो वह उसे एक आतंक के रूप में भी ग्रहण करती है और यह स्थिति मात्र इसलिए है, क्योंकि आज शासकवर्ग और जनता के बीच एक गहरी खाई है, एक लम्बी दूरी है। इस खाई और लम्बी दूरी के जहाँ अन्य कारण हैं, वहीं एक मुख्य कारण यह भी है कि आज जनता और शासन के बीच कोई सार्वजनिक भाषा नहीं है। जो है भी उसे सरकारी आफ़िसर, कुछ अंग्रेज़ी समर्थक और कुछ स्वार्थरत वर्गों के लोग फैलने नहीं देना चाहते। परिणाम यह है कि यह दूरियाँ बढ़ती जाती हैं और हम किसी भी प्रकार से उसको मिटा पाने में असमर्थ हैं।

देश ने और हिन्दी-जगत् ने यह भी देख लिया कि गत १५ वर्षों में सरकार ने हिन्दी को विकसित करने के लिए कुछ भी काम नहीं किया है। हमने यह भी देख लिया है कि इन पन्द्रह वर्षों में सरकार ने अंग्रेज़ी को प्रोत्साहन दिया है, और हिन्दी को उसके उचित स्थान से भी नीचे गिराने की चेष्टा की है। आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व हमारे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अंगरेज़ी का प्रवेश ही नहीं था। स्वतन्त्रता के तुरत बाद ही देश में एक मनोवैज्ञानिक वातावरण, अंग्रेज़ी छोड़ कर हिन्दी को स्वीकार करने के लिए तैयार हो चुका था। अदालतों और कचहरियों में हिन्दी चल निकली थी। विश्वविद्यालयों में अधिकांश अध्यापकों ने हिन्दी से पढ़ाने का संकल्प कर लिया था। लेकिन सरकार की नीति का आज यह परिणाम हो गया है कि गत १५ वर्षों में, बजाय हिन्दी को प्रोत्साहन मिलने के, अंग्रेज़ी को प्रोत्साहन मिला है। सरकार ने अंग्रेज़ी पढ़ने-पढ़ाने के लिये जहाँ सुविधाएँ दी हैं, वहाँ हिन्दी को उन सुविधाओं से वंचित रखा है। यदि आज हिंदी ने फिर भी विकास किया है, तो वह मात्र अपने जन-बल और अपनी इच्छा-शक्ति के आधार पर। हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति उसकी आत्मा में वह शक्ति सदैव से ही रही है। उसने सदा इन संघर्षों का सामना किया

है और घोर से घोर मरूथलीय वातावरण में भी रेत से जीवनी शक्ति ले कर उसने अपनी रक्षा की है इसलिए आज भी यदि हिन्दी प्रतिष्ठित हुई दीख पड़ती है, तो वह मात्र अपनी प्रकृतिगत दृढ़ता के कारण ही है। हिन्दी की यह प्रकृतिगत शक्ति उसकी अपनी आत्मा की शक्ति है, जिसे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे तपस्वियों ने अपने रक्त से सींचा है।

आज जिस संघर्ष-समिति के अन्तर्गत हम इस पुस्तक को प्रकाशित कर रहे हैं, वह भी हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल उस संघर्ष के निमित्त है, जो हमें कई विरोधी दिशाओं से लड़नी पड़ रही हैं। संविधान के अनुसार जनवरी १९६५ के बाद से हिन्दी को प्रतिष्ठित होना चाहिए और अंग्रेज़ी को सरकारी राज-काज से हटना चाहिए। शासन की प्रवृत्ति हमें ऐसी नहीं लगती। १७ अगस्त १९६४ को हमारी प्रान्तीय सरकार ने भाषा-विधेयक को प्रस्तुत करके हमारी उस आशंका को सही सिद्ध कर दिया है। यद्यपि भाषा-विधेयक रद्द कर दिया गया है, फिर भी यदि हिन्दीभाषा-भाषी प्रान्त इस अवसर पर जागरूक नहीं रहे और उन्होंने हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के संकल्प में अभी से प्रयास करना नहीं शुरू किया, तो आश्चर्य नहीं कब और किस प्रकार इस बीच हमारे प्रदेशों की सरकारें अंग्रेज़ी को गुप्त द्वार से लाकर प्रतिष्ठित कर दें। इसीलिए हिन्दी संघर्ष समिति ने यह निश्चय किया है कि वह अब अपने संगठन द्वारा हिन्दी को सार्वजनिक जीवन में प्रयोग करने और कराने के प्रयास में संघर्षरत रहेगी। हमने इसके लिए योजना भी बनाई है और उसे कार्यान्वित करने का दृढ़ संकल्प भी लिया है। ऐसे कार्य के लिए यह आवश्यक है कि हम उस जनमत को संगृहीत करें, जो गत १५ वर्षों में हिन्दी के लिए बना है। उसे प्रकाशित करके हम चाहते हैं कि हिन्दी भाषा, भाषी जनता को यह स्पष्ट रूप से बता दें कि यदि वह आज और अभी से इसके लिए दृढ़ संकल्प नहीं होंगे और १९६५ के पूर्व सार्वजनिक व्यवहार में हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने के लिए प्रयास नहीं करेंगे, तो हमारी शिथिलता का लाभ उठा कर अंग्रेज़ी के समर्थक कभी न कभी कुछ न कुछ ऐसा कर बैठेंगे कि हमें उसके लिए पछताना पड़ेगा।

इस अभियान की पहली कड़ी के रूप में हम इस पुस्तक को हिन्दी के प्रेमियों के सम्मुख रख रहे हैं। इस पुस्तक में किसी एक व्यक्ति के विचार नहीं हैं। यह सम्पूर्ण भारत के विद्वानों, चिन्तकों, लेखकों, विचारकों और समाज सेवियों के दृष्टिकोण का संग्रह है। पुस्तक में हमने हिन्दी के ऐतिहासिक सार्वजनिक, सांस्कृतिक और व्यापक तत्त्वों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आज हिन्दी के मार्ग में सब से बड़ा रोड़ा अंग्रेज़ी है। पुस्तक का एक खण्ड अंग्रेज़ी को आगने सामने रख कर हम ने तैयार किया है। अंग्रेजी और हिन्दी की समस्याओं को इस प्रकार भी हमें देखना है।

पुस्तक में जिन खण्डों का हमने विभाजन किया है, उसमें मूल दृष्टि रचनात्मक ही है। इसीलिए पुस्तक के प्रथम खण्ड में "हिन्दी ही क्यों ?" की समस्या पर हम ने विभिन्न विद्वानों का मत प्रस्तुत किया है। पुस्तक का दूसरा खण्ड अंग्रेज़ी से सम्बन्धित है। अंग्रेज़ी और हिन्दी का यह संघर्ष आज का नहीं, यह तो राजा राममोहन राय और लार्ड मेकाले के युग से चला आ रहा है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम अभी तक इसी में उलझे हैं जबकि राजा राममोहन राय जैसे विद्वान् ने आज से शताब्दी पूर्व ही इस महत्त्व को समझ लिया था। राजा राममोहन राय को इस समस्या को लेकर विदेशी शासन-सत्ता से लड़ना पड़ा था। हमारा दुर्भाग्य यह है कि

आज इस समस्या को लेकर हमें अपने ही प्रियजनों से संघर्ष करना पड़ रहा है। सिद्धान्त और आदर्श और देश के हित को ध्यान में रख कर हम अपने प्रिय से प्रिय मित्र और बन्धु से भी संघर्ष कर सकते हैं। हमारी परम्परा भी यह रही है—"तजिय ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही !" राष्ट्र पिता बापू ने भी हमें यही शिक्षा दी है; इसलिए हम हिन्दी के लिए यदि यह संघर्ष चला रहे हैं, तो हमें अपने संघर्ष के इस पक्ष को भी ध्यान में रखना ही है। आज जो अंग्रेज़ी के समर्थक हैं, वे हिन्दी के वैरी हैं और वह चाहे जितने प्रिय हों, उनकी दूषित मनोवृत्ति का विरोध हमें करना ही है। दूसरा खण्ड हमने इसी दृष्टि से सम्पादित किया है, ताकि अंग्रेज़ी अपनाने के दुष्परिणामों से भी हम और आप अवगत हो सकें।

पुस्तक का तीसरा खण्ड दक्षिण भारत और हिन्दी का है। इस खण्ड में हमारी दो दृष्टियाँ रही हैं। पहली तो यह कि हम उत्तर और दक्षिण को भावनात्मक एकता के स्तर पर समझें। इसी दृष्टि से दक्षिण के प्रदेशों में हिन्दी के कार्य-विवरण के साथ-साथ उन प्रदेशों के जन-जीवन और उनकी भाषाओं और हिन्दी भाषा के आदान-प्रदान को ध्यान में रख कर तीसरे खण्ड का सम्पादन किया गया है। इस खण्ड में अधिकांश लेखक हमारे दक्षिण भारत के प्रिय मित्र और हिन्दी-प्रेमी हैं। इसके साथ हम शासन और हिन्दी-विरोधियों को यह भी बताना चाहते हैं कि दक्षिण में हिन्दी का विकास कहाँ तक हो चुका है। प्रायः सरकार यह मिथ्या नारा लगाती है कि दक्षिण हिन्दी का विरोधी है। हमने इस खण्ड में केवल तथ्यों द्वारा यह सिद्ध करना चाहा है कि दक्षिण के शान्तिप्रिय भाइयों पर आरोप लगाना व्यर्थ है। खोट कहीं ओर है। यद्यपि हिन्दी संघर्ष समिति ने इस समय केवल हिन्दीभाषा-भाषी प्रान्तों के कार्य को ही अपना लक्ष्य बनाया है, फिर भी परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से यह आवश्यक था कि हम अपने प्रदेश के साथ-साथ अन्य प्रदेशों के प्रति भी उचित ज्ञान रखें और जनता को भी यह बतायें कि दक्षिण विरोधी नहीं है। यह सरकार का मिथ्या भाषण है।

हिन्दी संघर्ष समिति का निर्माण विधेयक-विरोध के लिए हुआ था। उसके लिए इस समिति ने संघर्ष भी किया था। चौथा खण्ड इसीलिए हिन्दी संघर्ष समिति के कार्य-विवरण, संकल्पों और निश्चयों का संकलन है। इन्हीं निश्चयों के आधार पर हम अब हिन्दी-आन्दोलन को आगे बढ़ायेंगे। पुस्तक के अन्त में हमने हिन्दी-आन्दोलन, योजना और संघर्ष से सम्बन्धित निर्णयों को संकलित किया है।

अन्त में हम उन सभी विद्वान् लेखकों के आभारी हैं, जिनके निबन्धों को यहाँ-वहाँ से, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से लेकर हमने प्रस्तुत पुस्तक का रूप दिया है। हमें आशा है कि उनका सहयोग हमें हिन्दी के संघर्ष में बराबर मिलता रहेगा। साथ ही हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी आभारी हैं, जिसने इस संकलन को प्रकाशित करने के निश्चय से हमारे संकल्प को विशेष शक्ति दी है। इस पुस्तक के सम्पादन में श्री हरिमोहन मालवीय और श्री कुलदीप कपूर ने जो सहयोग दिया है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

—सम्पादक

खण्ड : १

हिन्दी ही क्यों ?

राष्ट्र पिता बापू के वचन

अखिल भारत के परस्पर व्यवहार के लिये भी हमें भारतीय भाषा-समूह में से एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे जनता का अधिकतम भाग पहले से ही जानता और समझता है और जिसे दूसरे लोग भी आसानी से सीख और समझ सकें।

हम लोग अपनी मातृ-भाषा के बजाय अंग्रेजी भाषा के प्रति अधिक प्रेम रखने लगे हैं, इसलिए सुशिक्षित और राजनैतिक मनोवृत्ति वाले वर्गों और साधारण जन-समूह के बीच गहरी खाई पैदा हो गई है। अपनी मातृ-भाषा में गूढ़ विचार व्यक्त करने का वृथा प्रयत्न करते हुए हम गोते खाते हैं। विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के लिए हमारे पास समानार्थक शब्द नहीं हैं। इसका परिणाम अत्यन्त दुखद हुआ है। सर्व-साधारण जन-समूह आधुनिक विचार-सरणी से जुदा पड़ गया है। हम अपने युग के इतने सन्निकट हैं कि भारतवर्ष की महान् भाषाओं के प्रति हमारे इस दुर्लक्ष्य के कारण भारत की जो असेवा हुई है, हमारे लिये उसका ठीक-ठीक अनुमान कर सकना प्रायः कठिन है। यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि जब तक हम बुराई को दूर न करेंगे, तब तक साधारण जनता का मानस 'दिमाग' बंधन में ही जकड़ा रहेगा। स्वराज्य के निर्माण में आम जनता कोई ठोस हिस्सा अदा न कर सकेगी। अहिंसा के आधार पर स्थापित स्वराज्य में यह आवश्यक है कि स्वतंत्रता के आन्दोलन में हर व्यक्ति अपना हिस्सा स्वयं अदा करे। जनता जब तक उसके स्वराज्य के लिये उठाये जाने वाले हर कदम को, उससे निकलने वाले सब अर्थों सहित, पूरी तरह न समझ ले, तब तक वह ऐसा नहीं कर सकती। और यह तब तक असम्भव है, जब तक जो कुछ भी कदम उठाया जाये, उसका मतलब उसकी अपनी भाषा में न समझा जाये।

इसके सिवा अखिल भारत के परस्पर व्यवहार के लिये हमें भारतीय भाषा-समूह में से ऐसी एक भाषा की आवश्यकता है, जिसे जनता का अधिकतम भाग पहले से ही जानता और समझता है, और जिसे दूसरे लोग भी आसानी से सीख और समझ सकें। वह भाषा निर्विवाद रूप से हिन्दी है। इसे उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जानते और समझते हैं। जब यह फारसी लिपि में लिखी जाती है, तब उसे उर्दू कहते हैं।... १९२० से आम जनता को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए हिन्दुस्तानी भाषाओं के साथ ही राजनैतिक विचार रखने वाले आसानी से बोल सकें और कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों और महासमिति की बैठकों के अवसर पर एक मात्र भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कांग्रेस जन आसानी से समझ सकें, ऐसी एक अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा का महत्त्व स्वीकार करने का विचार-पूर्वक प्रयत्न किया जाने लगा। लेकिन, मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि बहुत-से कांग्रेसवादी इस प्रस्ताव पर अमल न कर सके। और, इसलिए कांग्रेसवादियों के स्वयं अंग्रेजी में ही बोलने पर जोर देने और अपनी खातिर दूसरों को भी अंग्रेजी

में ही बोलने के लिए मजबूर करने के, मेरे अपने विचारों के अनुसार, लज्जाजनक दृश्य हमारी नजरों के सामने आते रहते हैं। अंग्रेज़ी भाषा ने हमारे मनों पर जो जादू किया है, उसका असर अभी दूर नहीं हो पाया है। उसके असर में होने के कारण हम भारतवर्ष को, उसके लक्ष्य की प्रगति को, रोक रहे हैं। जितने साल हमने अंग्रेज़ी के अध्ययन में बिताये, यदि उतने महीने भी हम हिन्दुस्तानी सीखने में लगाने की तकलीफ न उठा सकें, तो यों कहना होगा कि जनता के प्रति हमारा प्रेम केवल ऊपरी है।

©

श्री केशवचन्द्र सेन

हिन्दी भाषा ही सर्वत्र प्रचलित है

यदि एक भाषा के न होने के कारण भारत में एकता नहीं होती है, तो और चारा ही क्या है ? तब सारे भारतवर्ष में एक ही भाषा का व्यवहार करना ही एकमात्र उपाय है। अभी कितनी ही भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं। उनमें हिन्दी भाषा ही सर्वत्र प्रचलित है। इसी हिन्दी को भारत वर्ष की एक मात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय, तो सहज ही में यह एकता सम्पन्न हो सकती है। किन्तु राज्य की सहायता के बिना यह कभी भी संभव नहीं है। अभी अंग्रेज़ हमारे राजा हैं, वे इस प्रस्ताव से सहमत होंगे, ऐसा विश्वास नहीं होता। भारतवासियों के बीच फिर फूट नहीं रहेगी, वे परस्पर एक हृदय हो जायेंगे, आदि सोच कर शायद अंग्रेज़ों के मन में भय होगा। उनका ख़याल है कि भारतीयों में फूट न होने पर ब्रिटिश साम्राज्य भी स्थिर नहीं रह सकेगा।

●

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हिन्दी भाषा की समृद्धता

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाय, तो सम्मन पढ़वाने के लिए दो-चार आने कौन देगा, और साधारण-सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया-आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वाले को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारण्ट बता दें।

सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही ऐसा देश है, जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृ-भाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस---एक उर्दू में और एक हिन्दी में--लिख कर भेजें, तो आपको आसानी से मालूम हो जायगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का क्या अनुपात है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं, उनमें हिन्दी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदारों को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिन्दी में रखते हैं। हिन्दुओं का निजी पत्र-व्यवहार भी हिन्दी में होता है। हिन्दुओं के परिवारों में हिन्दी बोली जाती है। उनकी स्त्रियाँ हिन्दी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिन्दी में लिखे जाते हैं, और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिन्दी में शिक्षा देते हैं।

जनगणना के आँकड़ों पर दृष्टि डालने से मेरे कथन की और अधिक पुष्टि हो जायगी। उनसे ज्ञात होगा कि उर्दू जाननेवालों की तुलना में हिन्दी जानने वालों की संख्या अत्यधिक है। अभी तक किसी ने इन तथ्यों की समीक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया है। यदि दिया होता, तो यह विवाद बहुत पहले हमारे पक्ष में तय हो जाता। इस यथार्थता का प्रमाण आपको डाकघर से मिल सकता है। मैंने एक डाकघर में पूछताछ की और मुझे पता चला कि आने-जाने वाले पत्रों में आधे से अधिक ऐसे होते हैं, जिनमें पते हिन्दी अक्षरों में लिखे हुए होते हैं। अदालतों में जो कागजात दाखिल किये जाते हैं, उनमें भी अत्यधिक ऐसे होते हैं जिन पर हस्ताक्षर हिन्दी में होते हैं। विक्रय-नोटिस मनोरंजन या खेलकूद के कार्यक्रम, बहुधा हिन्दी में ही प्रकाशित किये जाते हैं। लखनऊ तथा मुसलमानी प्रभाव के अन्य स्थानों के सिवाय पश्चिमी प्रान्त के किसी भी नगर में पूछताछ करने से मेरे कथन की सच्चाई सिद्ध हो सकती है। ईसामसीह के सन्देश भी, जो ईसाई धर्म प्रचारक जनता में वितरित करते हैं, सामान्यत: हिन्दी में या मराठी, गुजराती, बंगाली जैसी सहपारिवारिक लिपियों में छापे जाते हैं। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि वेग गति से लिखने वाले लेखक हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। मैं यह दृढ़ आश्वासन दे सकता हूँ कि मैं एक मास में ऐसे हजार व्यक्ति प्राप्त कर सकता हूँ।

लोकमान्य तिलक

हिन्दी : भारत की सामान्य भाषा

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अब सर्वत्र समझी जाने लगी है। राष्ट्र के संगठन के लिये आज ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सर्वत्र समझा जा सके। लोगों में अपने विचारों का अच्छी तरह प्रचार करने के लिये भगवान बुद्ध ने भी एक भाषा को प्रधानता देकर कार्य किया था। हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है। राष्ट्रभाषा सर्वसाधारण के लिये जरूर होनी चाहिए। मनुष्य-हृदय एक दूसरे से विचार-विनिमय करना चाहता है; इसलिये राष्ट्रभाषा की बहुत जरूरत है। विद्यालयों में हिन्दी की पुस्तकों का प्रचार होना चाहिये। इस प्रकार यह कुछ ही वर्षों में राष्ट्रभाषा बन सकती है।

० ० ० ०

मेरी समझ में हिन्दी भारत की सामान्य भाषा होनी चाहिये——यानी समस्त हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली भाषा होनी चाहिये। निःसन्देह हिन्दी दूसरे कार्यों के लिये प्रान्तीय भाषाओं की जगह तो ले ही नहीं सकती। सब प्रान्तीय कार्यों के लिये प्रान्तीय भाषाएँ ही पहले की तरह काम में आती रहेंगी। प्रान्तीय शिक्षा और साहित्य का विकास प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा ही होगा; लेकिन एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से मिले, तो पारस्परिक विचार विनिमय का माध्यम हिन्दी ही होनी चाहिये; क्योंकि हिन्दी अब भी अधिकांश प्रान्तों में समझ ली जाती है और बोलने तथा चिट्ठी लिखने लायक हिन्दी थोड़े ही समय में सीख ली जाती है। इस विषय में कोई प्रान्तीय भाषा हिन्दी का स्थान नहीं ले सकती।

●

महामना मालवीय जी

देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा-प्रचार

हमें दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। एक तो हिन्दीभाषा की उन्नति की जाये, दूसरे इसी भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा का प्रचार किया जाय। सभी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति हो रही है। सभी प्रांतों के निवासी अपनी-अपनी भाषा में उच्च शिक्षा देने-दिलाने का प्रबन्ध कर रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि देशी भाषा उच्च शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है। वे कहते हैं कि देशी भाषा घर, बाजार, पत्र-व्यवहार और समाचार-पत्रों के लिए तो उपयुक्त है; किन्तु कालेजों के लिए अनुपयुक्त है। यह बात शोचनीय है। प्रत्येक देश में देशी भाषा द्वारा विद्या का प्रचार होता है। राजकाज, व्यापार इत्यादि सब उन्नति के कार्य देशी भाषा ही के द्वारा उत्तम रीति से हो सकते हैं। जब हम अपने देश के प्राचीन काल की ओर दृष्टि डालते हैं, तब भी मालूम होता है कि इस समय भी यहाँ पर संस्कृत और प्राकृत भाषा में शिक्षा-प्रचार तथा देशोन्नति के सब काम होते थे। अनेक राज्य-क्रान्तियों के कारण, शुद्ध संस्कृत वाणी घिसती तथा बदलती हुई पहले प्राकृत, फिर गाथा और अपभ्रंश के रूप में बदलती गई। जिस काल में जो भाषा प्रचलित हुई, उसी में सब कार्य होते रहे। बौद्धकाल में, अशोक के जमाने में, पाली भाषा के द्वारा सब काम सम्पन्न होते थे। मुसलमानों के जमाने में भी देशी भाषा के ही द्वारा सब कार्य होते थे। उसी समय के लगभग प्राकृत से रूपान्तरित हिन्दी बनी।

अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा पठित विषयों पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में उसे बाधा पड़ती है और उस प्राप्त ज्ञान को अंग्रेजी में व्यक्त करना उसे और भी कठिन होता है। हमारे विद्यार्थियों को किसी भी विषय में उतना अच्छा ज्ञान नहीं हो सकता, जितना उसी विषय का अपनी मातृभाषा-द्वारा अध्ययन करके एक अंग्रेज़ बालक प्राप्त करता है। भारतीय नवयुवक की सोचने तथा अपने को व्यक्त करने की दोनों शक्तियों का ह्रास हुआ है; अतएव राष्ट्रीय शिक्षा अपनी उत्तमता के उच्च शिखर पर तब तक नहीं पहुँच सकती, जब तक जनता की मातृभाषा अपने उचित स्थान पर शिक्षा के माध्यम तथा सर्वसाधारण के व्यवहार के रूप में स्थापित न की जाय।

•
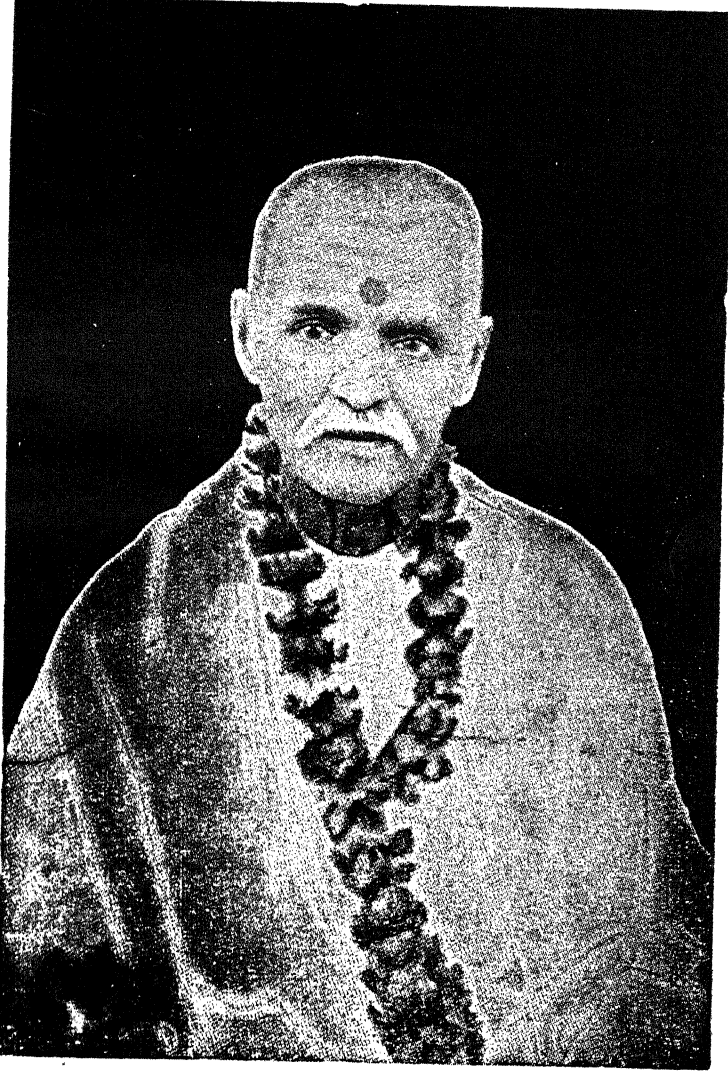
हिन्दी आन्दोलन के प्रेरक महामना मालवीयजी

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

वर्तमान अतीत से सम्बद्ध

मैं सदैव इस विचार से पूर्णतया सहमत रहा हूँ और मैंने स्वयं भी अनेक अवसरों पर कहा है कि हमने विगत काल में जो कुछ प्राप्त किया है, उसी पर सन्तुष्ट नहीं रह सकते और न हम प्राचीन ढाँचों में अपने को पूर्णतया ढाल ही सकते हैं। मैंने लोगों के सम्मुख यह आदर्श रखे हैं—

समय भेदेन धर्म भेद:
अवस्था भेदेन धर्म भेद:

समय और परिस्थितियों के अनुसार हमारे धर्म और कर्त्तव्यों में परिवर्त्तन होता है। यह प्राचीन सूक्तियाँ हैं। हमें यह स्मरण रखना है कि हमारे जीवन-क्रम की साधारण प्रणालियाँ, एक समय तक रहती हैं और फिर चली जाती हैं। संसार गतिशील है। आज की प्रणालियाँ, कल की नई प्रणालियों, रीतियों और विचार-धाराओं को स्थान देती हैं। प्राचीन के पाद-मूल के पीछे नवीन सौंदर्य चलता रहता है। यदि हम चाहें, तो भी जीवन के इस महान मूलभूत तत्त्व से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते।

हमें यह स्मरण रखना है कि हमारी जड़ अतीत में है और उससे हम अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकते। एक प्रकार से हम अतीत के संग एक, सुदृढ़ किन्तु अदृश्य आकाशिक श्रृंखला से बँधे हुए हैं, जो समय के साथ निरन्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु न तो टूटती है और न तोड़ी ही जा सकती है। अत: हम जो कुछ भी करने का प्रयत्न करें, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यता की ओर आगे बढ़ते जायँ, वैसे-वैसे अतीत से हमको बाँधने वाली वह लंबी और सुदृढ़ श्रृंखला दुर्बल न होने पाये, वरन् होना तो यह चाहिए कि वह वृहत् पग-पर और भी दृढ़ होती जाय। मेरा निवेदन है कि हमारा तात्विक राजनीतिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हमारा जीवन भूतकालिक न हो, वरन् वह उस वर्तमान से हो, जो हमें अतीत से बाँधे रखता है।

मैं उन सब गुणों अथवा अच्छाइयों को ग्रहण करने के पक्ष में हूँ, जो पश्चिम हमें सिखा सकता है; परन्तु मैं यहाँ समुपस्थित सभी सज्जनों से यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे इस बात को स्मरण रखें कि पश्चिम में चमकने वाली सभी वस्तुएँ सुवर्ण नहीं हैं। केवल पश्चिमी होने के कारण कोई वस्तु सर्वथा गुणप्रद नहीं हो जायगी। हमारे देश ने भी ऐसी उच्चकोटि की विचारशील, संस्कृति को जन्म दिया है जो समय की गति के साथ, संभवत: सम्पूर्ण मानव जाति के भाग्य-निर्माण पर अधिकाधिक प्रभाव डालेगी।

मेरी मान्यता थी कि यद्यपि यह आवश्यक होता कि आने वाले कुछ समय तक अंग्रेज़ी शासकीय कार्यों में चलती रहेगी, तथापि वह अवधि इतनी लम्बी नहीं होगी। मैंने सोचा था कि इससे बहुत थोड़े समय में ही हम जनता के निकट पहुँच सकेंगे और जनता द्वारा समझी जाने वाली भाषा में कार्य कर सकेंगे। मैं यह बात भूल नहीं जाता कि हमारे दक्षिण के भाइयों के लिए हिन्दी सीखने में अत्यन्त सरल न होगी। फिर भी मेरा निवेदन है कि दक्षिण वालों के लिए हिन्दी सर्वथा अपरिचित नहीं है। उस राष्ट्रपिता के आदर्शों पर, जिसका नाम-स्मरण सदैव हमारे हृदय की सूक्ष्म तंत्री को स्पर्श करता है, दक्षिण भारत में १९१८ ई० में हिन्दी का कार्य आरम्भ किया था। इस अवधि में वहाँ के कई लाख पुरुषों और स्त्रियों ने हिन्दी सीख ली है।

मेरी ऐसी धारणा थी कि हिन्दी को मद्रास की युवक-पीढ़ी के निकट लाने के लिए १५ वर्ष जैसी लंबी अवधि की आवश्यकता न होगी। किन्तु यह बात हमारे दक्षिण के भाइयों के कहने की है कि उन्हें कितने समय की आवश्यकता है और मैं इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि इस विषय में हमें उनके हाथ नहीं बाँधना चाहिए। हम उनको अपनी सेवाएँ अर्पित कर सकते हैं, परामर्श दे सकते हैं, किन्तु इस बात का फ़ैसला हम उन पर ही छोड़ते हैं कि उन्हें कितना समय चाहिए और वह कितने समय में अपनी जनता को संघ के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का व्यवहार करने के लिए तैयार कर सकते हैं। हमने इसी बात को ध्यान में रख कर १५ वर्षों की अवधि स्वीकार की। पहले हमने ५ वर्ष, फिर बढ़ा कर १० वर्ष और अन्त में जब हमने देखा कि हमारे दक्षिण के भाई १५ वर्ष की अवधि चाहते हैं, तो हमने इसे स्वीकार कर लिया।

●

हिन्दी आन्दोलन के कर्णधार डा० सेठ गोविन्द दास

सेठ गोविन्ददास

हमें हिन्दी के लिए क्या करना चाहिए

स्वतंत्र भारत के संविधान में हिन्दी राजभाषा स्वीकृत होने के पश्चात् हमें आशा थी कि अब हिन्दी पर कोई संकट नहीं आयेगा; परन्तु हमने एक ग़लती की, वह थी--पन्द्रह वर्षों में हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी—इसकी स्वीकृति। यदि हम इसके स्थान पर यह निर्णय लेते कि संविधान के लागू होते ही हमारा सारा राज-काज हिन्दी में चलेगा, चाहे वह बहुमत से ही क्यों न हो—और इसके लिए उस समय संविधान-सभा में बहुमत मौजूद था--तो हिन्दी पर इस प्रकार के संकट न आते। आयरलैण्ड में गेलिक भाषा मर चुकी थी, परन्तु आयरलैण्ड के स्वतंत्र होते ही उन्होंने अपना सारा कार्य गेलिक भाषा में आरम्भ किया, जो अबतक ठीक ढंग से चल रहा है। इज़रायल में हिब्रू भाषा मर चुकी थी; परन्तु इज़रायल को स्वतंत्र होने के पश्चात् उन्होंने सब काम हिब्रू में शुरू किया। यही बात हिन्देशिया में हिन्देशियन भाषा के सम्बन्ध में हुई। हिन्दी तो जीवित भाषा थी, भारत के लगभग आधे लोगों की भाषा; अतः जिस दिन वह राजभाषा स्वीकृत की गयी, उसी दिन से सारा राज-काज हिन्दी में चल सकता था।

हिन्दी पर एक के बाद एक संकट

हिन्दी पर उसके राजभाषा स्वीकृत होने के पश्चात् भी, जो निरंतर संकट आते रहे, उसका सब से पहला कारण हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की हिन्दी के सम्बन्ध में अनाधिकार चेष्टाएँ थीं। मैं लोकसभा में और लोकसभा से बाहर भी अनेक अवसरों पर यह कह चुका हूँ कि हमारे देश के लिए यह बड़े से बड़े सौभाग्य की बात है कि पं० जवाहरवाल नेहरू के सदृश्य हमारा नेता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पंडितजी हर विषय में जो कुछ सोचते हैं और करते हैं, वह ठीक है। कुछ वर्ष पूर्व बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में बम्बई के एकमंत्री ने कृत्रिम-नभ-मंडल वाक्य का उपयोग किया और पंडित जी ने उन मंत्री से उसका अर्थ आर्टिफीशियल प्लेनेटेरियम जानने के बाद, उसी सभा में बिगड़ कर यह कहा कि कृत्रिम नभ-मंडल से तो आर्टिफिशियल प्लेनेटेरियम कहीं आसान और बेहतर लफ्ज़ है। लोकसभा में इसी बात की आलोचना करते हुए मैंने कहा था कि जिस व्यक्ति ने हिन्दी की प्राथमिक परीक्षा पास न की हो और आज भी बैठे तो फेल हो जाये, वह यदि कृत्रिम-नभ-मण्डल की अपेक्षा आर्टिफिशियल को आसान और बेहतर लफ्ज़ मानता है, तो वह अनाधिकार चेष्टा करता है। इस समय आकाशवाणी की भाषा के रूप के सम्बन्ध में जो विवाद उठा हुआ है, उसके लिए पंडितजी ही ज़िम्मेदार हैं। अभी हाल की ही पत्रकार-परिषत में उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है, जब उन्होंने बताया कि, आकाशवाणी की वर्तमान भाषा उनकी समझ में नहीं आती।

हिन्दी पर इन संकटों का दूसरा कारण यह है कि प्रधान मंत्रीजी के चारों तरफ़ जो लोग रहते हैं, उनमें से अधिकांश अपने स्वार्थ-वश अथवा भय वश सदा उनकी ठकुरसुहाती करते रहते हैं। तीसरा कारण, अधिकांश हिन्दीभाषीसंसद-सदस्यों का अंग्रेज़ी के प्रति विचित्र मोह है। चाहे ये लोग अंग्रेज़ी के एक एक वाक्य में अनेक गलतियां क्यों न करते हों और फूहड़ से फूहड़ अंग्रेज़ी क्यों न बोलते हों; पर भाषण देंगे तो अंग्रेज़ी में ही। चौथा कारण, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश इन चारों हिन्दीभाषा-भाषी राज्यों का अब तक भी अपने काम को अंग्रेजी में चलाते रहना है। और पांचवाँ कारण यह है कि अहिन्दी भाषा भाषी लोगों के मन में यह भ्रमपूर्ण भय समा गया है कि हिन्दी के उत्कर्ष का अर्थ उनकी मातृभाषा की अवनति है।

प्रधान मंत्रीजी का हिन्दी के प्रति जो रुख है, उसका हमें डट कर विरोध करना है। तानाशाही में ही तानाशाह के हर विचार और कृति का अनुमोदन हो सकता है, प्रजातंत्र में कदापि नहीं। पंडितजी को मैं सच्चा प्रजातंत्रवादी मानता हूँ। वे बहुमत के सम्मुख सदा अपना सिर झुकाते रहे हैं। गांधीजी के समय कांग्रेस के अनेक प्रस्तावों के विरुद्ध रहते हुए भी वह प्रस्ताव जो बहुमत से स्वीकार हो जाता था, पंडितजी सदा उसे शिरोधार्य कर चलते थे ; संविधान में जब भाषा विषयक विवाद चल रहा था और हिन्दी और हिन्दुस्तानी का झगड़ा हो रहा था, उस समय विधान-सभा के कांग्रेस दल में बहुमत से भाषा का नाम हिन्दी स्वीकृत होते ही पंडितजी ने हिन्दुस्तानी का आग्रह छोड़ दिया और हिन्दी समर्थक हो गये। यही बात इस समय की आकाशवाणी की भाषा के रूप में होगी, यदि हम इस विषय में अपने मत पर डटे रहे। जो लोग पंडितजी की सदा ठकुर-सुहाती करते ही रहते हैं, उनका मुझे कोई इलाज नहीं दीखता। अंग्रेज़ी के प्रेमी हिन्दीभाषा-भाषी संसद-सदस्यों के लिए हमें उनके चुनाव-क्षेत्रों में काम कर उनके चुनाव-क्षेत्रों के मतानुसार उनके मत में परिवर्त्तन करना चाहिए।

हिन्दीभाषा-भाषी चारों राज्यों में तो हिन्दी लादने का प्रश्न ही नहीं है। इन चारों राज्यों में भी हमें जनमत तैयार कर इन चारों राज्यों के समस्त कार्यों को हिन्दी में चलवाना ही चाहिए। और मेरा विश्वास है कि यदि इन चारों राज्यों का जनमत, इन चारों राज्यों की सरकारों को विवश करेगा, तो उन्हें अपना सारा काम हिन्दी में करना ही होगा।

अहिन्दी भाषा-भाषियों के भ्रमपूर्ण भय को दूर करने के लिए हमें निम्नलिखित बातों की स्पष्ट घोषणा करनी चाहिए और इस घोषणा के अनुसार चलना चाहिए—

(क) जिन राज्यों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, वहाँ की शिक्षा का माध्यम, विश्वविद्यालय तक क्षेत्रीय भाषा रहे।

(ख) ऐसे राज्यों के सचिवालय का समस्त कार्य क्षेत्रीय भाषाओं में होगा।

(ग) इन राज्यों की अदालतों का भी सारा काम क्षेत्रीय भाषा में होगा।

हमें अहिन्दी भाषा-भाषी जनों को विश्वास दिलाना है कि हमारा झगड़ा क्षेत्रीय भाषाओं से नहीं है और न हम किसी पर हिन्दी लादना चाहते हैं। अंग्रेज़ी हम पर लादी गयी है और अंग्रेजी का स्थान केवल हिन्दी नहीं ले सकती। उसे समस्त भारतीय भाषाओं को मिल कर लेना है। अंग्रेज़ी का चलाया जाना, केवल हिन्दी के विरुद्ध न होकर सभी भारतीय भाषाओं के हित के विरुद्ध है। हिन्दी केवल केन्द्रीय भाषा रहेगी और अन्तर्प्रान्तीय कार्यों की भाषा। क्योंकि देश को एक

सूत्र में बांध रखने के लिए एक भाषा की आवश्यकता है। और वह हिन्दी ही इसलिए हो सकती है कि वह इस देश के लगभग आधे लोगों की मातृभाषा है तथा दक्षिण के कुछ क्षेत्रों को छोड़ दिया जाय, तो शेष भारत में वह समझी जाती है। इसलिए, संविधान में उसे केन्द्र की राजभाषा का स्थान दिया गया है।

लगभग दो वर्ष पूर्व हमारे प्रधान मंत्रीजी ने घोषणा की थी कि सन् १९६५ के बाद भी अनिश्चित काल तक, जब तक कि अहिन्दी भाषा-भाषी अंग्रेजी को चलाना चाहेंगे, वह हिन्दी के साथ चलेगी। हमारे गृहमंत्रीजी ने हाल में ही घोषणा की है कि इस संबंध में वे संसद में शीघ्र ही एक विधेयक उपस्थित करने वाले हैं। आज हमारी संसद का जो रूप है, उसे देखते हुए इस विधेयक के स्वीकृत होने में कोई संदेह नहीं है। इस विधेयक के विरोध से कटुता ही पैदा होगी और देश की एकता की दृष्टि से भाषा के सम्बन्ध में कोई कटुता उत्पन्न करना उचित नहीं है। फिर व्यक्ति के जीवन में दस, बीस, पच्चीस वर्ष का महत्त्व है। किसी राष्ट्र या देश के जीवन में नहीं; परन्तु हमें इस अवसर पर हिन्दी के लिए निम्नलिखित बातें सरकार और संसद से स्वीकृत करा लेना चाहिए—

(क) हिन्दी प्रथम भाषा रहेगी और अंग्रेजी द्वितीय (एसोशियेटेड लैंग्वेज)

(ख) संसद की सब कार्यवाही दोनों भाषाओं में अनूदित होती जायगी, जिस प्रकार राष्ट्र-संघ में होता है।

(ग) हिन्दीभाषा-भाषी केन्द्रीय मंत्रीगण अपने पचास प्रतिशत भाषण हिन्दी में देंगे ; क्योंकि संसद में हिन्दी न समझनेवालों की अपेक्षा अंग्रेजी न समझने वालों की संख्या अधिक है।

(घ) संसद के प्रश्नों का उत्तर हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषा में छपेंगे।

(ङ) हिन्दी के कुछ पत्रों को पूर्ण पत्र बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार उन पत्रों को विज्ञापन, कागज़ आदि की वैसी ही सुविधा देगी, जैसी अंग्रेजी पत्रों को दी जाती है।

हिन्दी के लिए ठोस कार्य

केन्द्रीय सरकार ने हिन्दी के लिए कुछ न किया हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि यह बात सही है कि इन कामों के संबंध में सरकार की गति अत्यन्त धीमी रही है। जो विशिष्ट कार्य केन्द्रीय सरकार ने हिन्दी के लिए किये, वे इस प्रकार हैं—

(क) हिन्दी-निदेशालय की स्थापना।

(ख) स्थायी विधि-आयोग की स्थापना।

(ग) पारिभाषिक शब्दावलियों के निर्माण के लिए स्थायी आयोग की स्थापना।

(घ) साहित्य-निर्माण और प्रकाशन की योजनाएँ।

(ङ) अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार।

(च) सरकारी नौकरियों के लिए वैकल्पिक रूप से हिन्दी के माध्यम की घोषणा।

हमें तीन अंतिम बातों पर अधिक से अधिक ध्यान देना और अंतिम घोषणा को शीघ्र से शीघ्र कार्य रूप में परिणत कराना है।

आकाशवाणी के बहिष्कार की तैयारी

आकाशवाणी की भाषा के विषय में जो विवाद उठा हुआ है, उसके लिए हमें आकाशवाणी के बहिष्कार तक की तैयारी करनी होगी। आकाशवाणी की भाषा को दिल्ली, पंजाब और उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भाग को छोड़कर शेष सारा हिन्दीभाषा-भाषी क्षेत्र भली भांति समझता है। समाचार-पत्रों में और हमारे साहित्य के निर्माण में इसी भाषा का प्रयोग हो रहा है । फिर देश के पश्चिमी अंचल--महाराष्ट्र; गुजरात; पूर्वी अंचल--बंगाल, उड़ीसा, तथा तेलुगू, मलयालम और कन्नड भाषाओं के पचास प्रतिशत शब्दों में से अधिक संस्कृत के शब्द प्रयुक्त होते हैं। और समूचे देश की दृष्टि से संस्कृतनिष्ठ भाषा ही इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है। इसीलिए हमारे संविधान में यह बात स्पष्ट कही गयी है कि हमारी शब्दावली प्रधानतया संस्कृत से आयेगी। मैं उर्दू का विरोधी नहीं हूँ। और उसे संविधान की चौदहवीं भाषाओं के समान राष्ट्रभाषा मानता हूँ। अपने नाटकों में मैंने उर्दू का खूब प्रयोग किया है; परन्तु हर भाषा का अपना-अपना स्थान है। उस में संवाद-प्रसारण का तथा उसके कार्य-क्रमों का किसी भी हिन्दीभाषा-भाषी ने विरोध नहीं किया; परन्तु सरल भाषा के नाम पर यदि आकाशवाणी में फिर दूसरे रूप से पुराने हिन्दुस्तानी के झगड़े को उठाया गया और यदि एक कृत्रिम भाषा बनाने का प्रयत्न किया गया, तो हमें आकाशवाणी के बहिष्कार की भी तैयारी करनी होगी।

आचार्य क्षितिमोहन सेन

भाषा की एकता

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के हेतु अनेक अनुष्ठान हुए और उनको मैं संस्कृति का राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञ में नाना प्रदेश से नाना भाँति का उपहार आना आवश्यक होता है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता। परिणाम-स्वरूप कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मलाबार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशों के सुधीजन इसके लिए त्याग व परिश्रम कर रहे हैं। परन्तु, इस त्याग को अपनाने का पात्र कहाँ है? इस सांस्कृतिक त्याग का पात्र है भाषा। सब ही उसी वाङमय पात्र की रचना में दत्त-चित्त है। बिना इस वांङमय-पात्र के राजसूय-यज्ञ सफल नहीं होगा। आदर्श और साधना की एकता मनुष्य को एकता जरूर देती है; परन्तु भाषा की भिन्नता मनुष्य की इस एकता को जाग्रत नहीं होने देती। यूरोपीय प्राचीन कथा में सुना जाता है कि भाषा की भिन्नता के कारण ही 'टावर आफ बैबन' टूट पड़ा था, और वही मनुष्य, जो इस महती साधना के लिए दिन-रात एक कर रहे थे, भाषा की भिन्नता के कारण आपस में ही लड़ने लगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण की हुई वस्तु को स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकता का प्रधान वाहन है; परन्तु वही एक मात्र ऐक्य-विधायक उपादान नहीं है। और भी वस्तुएँ हैं जो एकता को बनाये रखने में या नष्ट कर देने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं।

भाषा को केवल भाषा मानकर हम चुप नहीं रह सकते। हमें उसे संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं का महान् संगमतीर्थ बना देना होगा। अँग्रेजी भाषा की महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे मालिकों की भाषा थी, बल्कि इसलिए कि उसने संसार की समस्त विद्याओं को आत्मसात् किया है। अँग्रेज चले गए हैं फिर भी अँग्रेजी का आदर ऐसा ही बना रहेगा। हिंदी को भी यही होना है। उसे भी नाना संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं की त्रिवेणी बनाना होगा। बिना ऐसा बने, भाषा की साधना अधूरी रह जायगी। आप लोग जो आज इस साधना के लिए व्रती हुए हैं, यह बात न भूलें। भाषा हमारे लिए साधन है, साध्य नहीं, मार्ग है, गन्तव्य नहीं; आधार है, आधेय नहीं।

●

सुभाषचन्द्र बोस

हिन्दी और राष्ट्रीय एकता

यह काम बड़ा दूरदर्शितापूर्ण है और इसका परिणाम बहुत दूर आगे चल कर निकलेगा। प्रान्तीय ईर्ष्या-द्वेश को दूर करने में जिनकी सहायता हमें हिन्दी-प्रचार से मिलेगी, उतनी दूसरी किसी चीज़ से नहीं मिल सकती। अपनी प्रान्तीय भाषाओं की भरपूर उन्नति कीजिये। उसमें कोई बाधा नहीं डालना चाहता और न हम किसी की बाधा को सहन ही कर सकते हैं ; पर सारे प्रान्तों की सार्वजनिक भाषा का पद हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही को मिला। नेहरू-रिपोर्ट में भी इसी की सिफारिश की गई है। यदि हम लोगों ने तन मन से प्रयत्न किया, तो वह दिन दूर नहीं है, जब भारत स्वाधीन होगा और उसकी राष्ट्रभाषा होगी हिन्दी।

देश की एकता के लिए एक भाषा का होना जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है देश भर के लोगों में देश के प्रति विशुद्ध प्रेम तथा अपनापन होना। अगर आज हिन्दी भाषा मान ली गई है, तो वह इसलिये नहीं कि वह किसी प्रान्त विशेष की भाषा है, बल्कि इसलिये कि वह अपनी सरलता, व्यापकता तथा क्षमता के कारण सारे देश की भाषा हो सकती है और सारे देश के लोग उसे अपना सकते हैं.....

मो० सत्यनारायण

हिन्दी का अखिल भारतीय रूप

कई लोगों का यह ख़याल है कि हिन्दी उत्तर भारत के लोगों की मातृभाषा है; क्योंकि वह आज राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तथा आधे पंजाब की प्रादेशिक भाषा के तौर पर भी स्वीकार कर ली गई है। इस तरह इन सभी प्रदेशों का रक़बा साढ़े पाँच लाख वर्गमील और आबादी १६ करोड़ की हो गई है। भूविस्तार तथा जन-संख्या में आज उसका चालीस प्रतिशत का हक़ हो गया है ; इसलिये कुछ लोगों के मन में यह डर समा गया है कि हिन्दी के द्वारा उत्तर भारत, दक्षिण भारत पर राज करेगा। चार भाषाओं के बीच में बँटे हुए अढ़ाई लाख वर्गमील के भू-विस्तार के दक्षिण भारत की अपनी दस करोड़ की आबादी को लेकर किसी न किसी समय उत्तर भारत का लोहा लेना पड़ेगा। इन आलोचकों को इस बात की जानकारी नहीं कि समूचे उत्तर भारत में आज भी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ११ प्रतिशत से कम है। दक्षिण भारत में साक्षरों की संख्या प्रतिशत में उससे दुगनी है अर्थात् २२ प्रतिशत है, जिसमें केरल की ३७.३१, मैसूर की १९.४, आंध्र की १२.९७ और मद्रास की २१.९८ फीसदी भी शामिल है। किसी भी राज-काज में अगर किसी विषय को महत्त्व दिया जा सकता है, तो संख्या को नहीं; बल्कि साक्षरता, बुद्धि, विवेक को ही। इन तीनों विषयों में कभी भी दक्षिण भारत ने अपनी हार नहीं मानी है।

●

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी का स्थान

प्रान्तों में हिन्दी

सारे संघ की राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल क्षेत्र है। हरियाना, राजपूताना, मेवाड़, मालवा, मध्यप्रदेश, युक्तप्रान्त, (उत्तर प्रदेश) और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही वह भूमि है, जिसने हिन्दी के आदिम कवियों, सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है, जहाँ अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही वह भूमि है, जहाँ कुरु (मेरठ-अम्बाला कमिश्नरियों) पंचाल (आगरा-रुहेलखण्ड कमिश्नरियों) की भूमि में वशिष्ट, विश्वामित्र, भरद्वाज ने ऋग्वेद के मन्त्र रचे, और प्रवाहण, उद्दालक और याज्ञवल्क्य ने अपनी दार्शनिक उड़ानें कीं। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृ-भाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृभाषा जैसी ही। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में शिक्षित, अशिक्षित, नागरिक और ग्रामीण, सभी हिन्दी को समझते हैं; इसलिये यहाँ हिन्दी का राज-भाषा के और शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

हिन्दी तो केवल वही स्थान लेने जा रही है, जिसे अंग्रेजी ने जबर्दस्ती दखल कर रखा था। विदेशी भाषा सीखने में जब उजुर नहीं था, तो अपने देश की भाषा सीखने में क्यों उजुर है? हिन्दी भाषा ७०० सालों से पदच्युत रहकर अब विशाल मध्यदेश में अपना स्थान ग्रहण करने जा रही है, इसके लिये हमें हर्ष होना चाहिए।

विश्व की महान भाषा

हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा होगी और उसके आधे से अधिक लोगों की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अब एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद वही दूसरी भाषा है, जो इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी को एक विशाल जन-समूह के राज-काज और बातचीत को ही चलाना नहीं है, बल्कि उसी को शिक्षा का माध्यम बनना है। फिर आजकल की शिक्षा सिर्फ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विश्व की प्रत्येक उन्नत भाषा का अधिकतर साहित्य साइन्स के ग्रंथों पर अवलम्बित है। अभी तक तो साइन्स की पढ़ाई अंग्रेजी ने अपने सिर पर ले रखी थी, किन्तु अब अंग्रेजों के साथ अँग्रेजी का राज्य जा चुका है। सरह, स्वयम्भू से पन्त, निराला, महादेवी तक का हिन्दी-काव्य-साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा छोड़ी है, वह काफी आगे बढ़ी है। किन्तु अब हमें हिन्दी में सारा ज्ञान-विज्ञान लाना होगा। कुछ लोग इसे बहुत भारी, शायद सदियों

का काम समझते हैं ; परन्तु मेरी समझ में यह उनकी भूल है। आज जिस चीज की माँग हो, उसे साहित्य-जगत् में सृजन करनेवालों की कमी नहीं होती। अब तक उपन्यास, कहानी, कविता की माँग थी, और लेखकों तथा कवियों ने इस माँग को बहुत हद तक पूरा किया।

यूनिवर्सिटियों में हिन्दी

शिकायत की जाती है कि हिन्दी में साइन्स सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की बहुत कमी है। यह सवाल तो कुछ उन लोगों की ओर से उपस्थित किया जाता है, जो हमारे पिछले ५० साल के परिभाषा-निर्माण सम्बन्धी कार्य से परिचित नहीं हैं। वह परिभाषा-ग्रन्थों के पास नहीं जाना चाहते, बल्कि चाहते हैं, कि शब्द स्वयं उड़-उड़कर उनके मुँह में आएँ। वह उनके मुँह में भी उड़कर आयेंगे, यदि उन शब्दों का पुस्तकों में अधिक प्रयोग हो और पुस्तकें चारों तरफ फैलें। यदि कोई साइन्स का प्रोफेसर ऐसी निराशापूर्ण बात करता है, तो मैं कहूँगा कि अब उसे विश्राम लेने की आवश्यकता है। उसने २० साल पहले के फिजिक्स और रसायन-शास्त्र को पढ़ा होगा और आज वह अँग्रेजी में भी अपने विषय नवीनतम साहित्य के समझने और पढ़ाने की क्षमता नहीं रखता है। ऐसे व्यक्तियों से जितनी जल्दी विद्यार्थियों का पिण्ड छूटे, उतना ही अच्छा। हाँ, यदि अध्यापक अपने विज्ञान, छात्रसमूह और देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझता है, तो उसे निराश होने की आवश्यकता नहीं।

अँग्रेजी भाषा स्कूलों में द्वितीय भाषा के तौर पर रहेगी, किन्तु वह बहुत दिनों तक एक-मात्र द्वितीय भाषा नहीं रहेगी। हमें अपने विद्यार्थियों को रूसी, अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मनी में से किसी एक को लेने की स्वतंत्रता देनी होगी।

हिन्द-संघ के अधिकारियों में हिन्दी

अँग्रेजी राज्य ने सारे भारत के लिये आई० सी० एस्० जैसी केन्द्रीय नौकरियों की स्थापना की थी। स्वतंत्र भारत के लिये भी ऐसे अधिकारियों की आवश्यकता है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। हमारी सरकार ने दिल्ली में ऐसा शिक्षणालय खोला है, जिसमें केन्द्रीय अधिकारियों की शिक्षा होती है, लेकिन अभी वहाँ शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी है। आरंभिक अवस्था में यही व्यव-हार्य था; लेकिन प्रश्न है--क्या आगे भी हम वहाँ अँग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम रखना चाहेंगे ? मैं नहीं समझता, गुलामी की इस आखिरी कड़ी को हमारा देश बर्दाश्त करेगा। केन्द्रीय सेवा में आनेवाले उम्मीदवारों के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए ; क्योंकि अब उन्हें शासन का कारबार अँग्रेजी में नहीं करना है। हो सकता है, अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में जाने वाले अधिकारियों को उस प्रांत की भाषा की योग्यता अधिक होनी चाहिए, और उनके लिए हिन्दी की योग्यता कम होने से भी काम चल सकता है ; लेकिन यह संक्रांति-काल में ही, आगे चलकर तो केन्द्रीय अधिकारियों और शिक्षार्थियों के लिए हिन्दी की योग्यता की वही कसौटी होनी चाहिये, जो कि अब तक अँग्रेजी के लिए मानी जाती रही।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है, कि हमें विदेशी भाषाओं का बहिष्कार करना चाहिए। ऐसी कूप-मंडूकता नहीं चल सकती। अब हमारा देश स्वतंत्र विश्व का एक अंग है। दूसरे स्वतंत्र राष्ट्रों से हमारा राजनीतिक संबंध स्थापित होता जा रहा है। यह सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण है,

और इसमें अपने प्रथम श्रेणी के मस्तिष्कों को हमें लगाना है। अंग्रेजी से भले ही दुनिया के कितने ही मुल्कों में काम चल सके, लेकिन केवल अँग्रेजी ज्ञान के भरोसे हमारे राज-प्रतिनिधि अंग्रेजी-भिन्न-भाषा-भाषी देशों में अपने कर्तव्य को ठीक तरह से पालन नहीं कर सकेंगे। अभी हमारे राजनीतिक कर्णधारों में अँग्रेजी का ही बोलबाला है और दुनिया की हरेक चीज को वह अँग्रेजी के चश्मे से देखते हैं। यह मनोभाव हमारे काम में हानिकारक होगा।

हम चालीस से ऊपर भाषाओं वाले भिन्न-भिन्न देशों में अपने राज-प्रतिनिधि भेजते हैं। शायद कोई कहे, इन चालीस भाषाओं तथा तत्संबंधी ज्ञान का दस-बारह विश्व-विद्यालयों में तीन-चार करके बाँट देना चाहिए। हमारे कितने ही युनिवर्सिटी वाले इससे प्रसन्न होंगे; लेकिन यह बात ठीक नहीं होगी। यह काम सिर्फ एक जगह और एक केन्द्रीय संस्था के अधीन होना चाहिए। इस तरह की एक केन्द्रीय शिक्षा-व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशिष्ट विद्वान् तथा गंभीर वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता दोनों पैदा करने के लिए आवश्यक है। इस शिक्षा का भी माध्यम हमारी हिन्दी होनी चाहिये। विदेशों में हम हर जगह अँग्रेजी में बोल-बोलकर इसी बात का परिचय देंगे कि अब भी अँग्रेजों की गुलामी हमसे दूर नहीं हुई।

●

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दी के प्रति

यह कुछ अनोखा-सा है कि हिन्दी का प्रश्न फिर-फिर उठ जाता है। गांधीजी के युग में हिन्दी का प्रश्न सच्चे रूप में उठा। उन्हें राष्ट्र का निर्माण करना था। इसके लिए अनेक उपायों से देश की बहु-भाषी जनता को एकता के सूत्र में पिरोना उन्होंने स्वराज्य की आवश्यक सीढ़ी माना। उन्होंने जनता में शक्ति भरने के लिए जो अनेक उपाय सोचे, उनमें हिन्दी भाषा का प्रचार भी एक था। बड़े मनोयोग से अपनी महती मानसिक, वाचिक और कायिक शक्ति को उन्होंने हिन्दी के प्रचार में उड़ेल दिया। राष्ट्रीय सभा के मंच से गांधीजी के नेतृत्व में हिन्दी की आवश्यकता मान ली गयी। जिस गति से हिन्दी के प्रति लोगों में सद्भाव और उसका प्रचार बढ़ा; उससे ऐसा लगा कि स्वराज्य होने तक भाषा की समस्या बहुत कुछ सुलझी हुई मिलेगी और स्वराज्य के बाद तो इस विषय में कोई बाधा रहेगी ही नहीं।

स्वराज्य के बाद जिस समय राष्ट्रीय विधान बनने लगा, उस समय राष्ट्रभाषा के रूप में, हिन्दी का प्रश्न उत्कट रूप में उठ खड़ा हुआ। तब हिन्दी के पक्ष और विपक्ष में अनेक बातें कही गईं, किन्तु उस समय तक स्वराज्य की विजयशालिनी मनोवृत्ति नेताओं के मन में थी। राष्ट्र के स्वतंत्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति स्वराज्य का पुण्य लक्षण है, इस मान्यता में सबकी आस्था थी। उसी का फल यह हुआ कि जनता और नेता, दोनों का मत इस बात में मिल गया कि पूरे देश के काम-काज के लिए कोई एक भाषा होनी ही चाहिए और सर्व-सम्मति से वह भाषा हिन्दी मानी गई। इसी मूल आधार पर विधान के संबंधित अंशों की रचना हुई। उस बड़े निर्णय के तीन अंग ध्यान देने योग्य हैं। पहला यह था कि हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास किया जाय। दूसरा यह कि १५ वर्ष के लिए संक्रान्तिकाल में सन् १९६५ तक अंग्रेजी भी राज्य-कार्य की सुविधा के लिए बनी रहे, पर उसके बाद हिन्दी अपना उचित स्थान ग्रहण कर ले। तीसरा यह कि हिन्दी के विकास का अर्थ अन्य भाषाओं की हानि या उपेक्षा न हो, अतः विधान में ही चौदह प्रादेशिक भाषाओं को मान्यता दी गई। इन बुद्धिपूर्ण निर्णयों के होने से देश में भाषा की समस्या एक प्रकार से सुलझ ही गई थी और आगे का रास्ता भी सबके लिए साफ तय हो गया था। उस मार्ग पर नेता और जनता दोनों को सच्चाई से चलना चाहिए था। तथ्यों से मालूम होता है कि जनता ने बहुत हद तक शान्ति के साथ अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। पर बीच-बीच में कुछ विरोधी आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। उनके कहने वाले कौन थे, इसकी उधेड़बुन करने से कड़वाहट पैदा होगी, अतएव उसका कुछ लाभ नहीं। दुर्भाग्य से इस प्रकार के विरोध का एक अखाड़ा रेडियो बन गया। हिन्दी-भाषियों को शासन की यह नीति अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सौम्य भाव से अपनी बात कही। शासन का आग्रह जब उचित सीमा से आगे बढ़ गया, तो जैसा सदा होता है,

गाँठ लग गयी और संघर्ष का रूप खड़ा हो गया। हिन्दी-जगत् ने शालीनतापूर्वक असहयोग किया। उस दृढ़ता के सामने शासन ने हिन्दी के पक्ष की सच्चाई स्वीकार की और स्थिति यथापूर्व सामान्य बन गई।

हिन्दी के विकास और प्रचार और शासन के कार्य में राष्ट्रभाषा के अधिकाधिक प्रयोग से, और कुछ १९६५ की अवधि को निकट आते-जाते हुए देखकर, अंग्रेज़ी के हिमायतियों का माथा ठनका। उन्होंने पहले तो छिटपुट, फिर खुल कर हिन्दी के विरुद्ध विष उगलना और जैसे-तैसे उस पर वार करना शुरू कर दिया। यह हमला हिन्दी के लिए बहुत घातक हुआ। हमला करने वाले बड़े मँजे हुए थे। उन्होंने अंग्रेज़ी का हित साधने के लिए दूसरी भारतीय भाषाओं को हिन्दी से लड़ाने की युक्ति ढूंढ़ निकाली और रह-रह कर हिन्दी के साम्राज्यवाद का राग अलापने लगे। उन्होंने सोचा कि चौदह भाषाओं की आपसी चकल्लस में अंग्रेज़ी का सिन्दूर बना रहे। बात कुछ ऐसी हुई। "कौआ कान ले गया" की तरह इतर भाषियों के मन हिन्दी के प्रति सशंक हो गए। कहने और सुनने वालों में से किसी ने यह न सोचा कि किस का साम्राज्यवाद और कैसा साम्राज्यवाद? शपथपूर्वक यह कहा जा सकता है कि आज तक एक भी हिन्दी भाषी ने यह नहीं कहा कि किसी भी प्रादेशिक भाषा को अपने स्थान से हटा कर हिन्दी को रखा जाए। हिन्दी तो प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति के लिए दिन-रात माला जपती है, उनके साथ मिल कर बैठना चाहती है, उनको अपने बीच में देखना चाहती है, दूसरी तमिल और असमिया आदि भाषाओं के उत्तम साहित्य का अपने लिए अनुवाद चाहती है और जितनी उसकी शक्ति है उसके अनुसार पिछले १५ वर्षों से उसने इस दिशा में सच्चाई से प्रयत्न भी किया है, जिसके आंकड़े जो चाहे देख सकता है। दूसरी भाषाओं ने भी हिन्दी के पास आने और उससे मिलने का सच्चा प्रयत्न किया है। हिन्दी को उनसे कुछ भी शिकायत नहीं है।

अंग्रेज़ी वाले जो चाहते थे वही हो गया। भारतीय भाषाओं के आपसी मोरचे में अंग्रेज़ी की बन आई। और अब यह निश्चय हो गया कि सन् ६५ के बाद भी अंग्रेज़ी ही राजभाषा बनी रहेगी। भारतीय भाषाएँ मतिभ्रम में पड़ गयीं और उन्हें घर में घुसे हुए असली शत्रु का पता ही न लगा। यह कुछ उस तरह की बात हुई जैसे १८वीं शती में आपस में लड़ते हुए देशी रजवाड़े अंग्रेजी राज्य के बढ़ते हुए चंगुल में बेसुध हो गए थे।

अभी भाषा को लेकर उठती हुई ये घटनाएँ अपने घनघोर रूप में फिर छा गई हैं। जान पड़ता है, इनकी बहिया में हम सब डिग जाएंगे। इस समय प्रत्येक भाषा के प्रादेशिक सम्मेलन, साहित्य संस्थाएँ, साहित्यिक विद्वान् और समाचार-पत्रों की आवश्यकता है। जहां कोई ढब का कारण नहीं है, वहाँ आपसी संघर्ष उत्पन्न करने से किसी का हित नहीं होगा। अंग्रेजी ने अंधेरा फैलाया है, जिससे भ्रम में पड़ कर हम परस्पर जूझ रहे हैं। जब तक अंग्रेज़ी है, तब तक देशी भाषाएँ टुकड़खोर बनकर रहेंगी और सब माल अंग्रेज़ी खाती रहेगी, इसमें रत्ती-भर भी संदेह नहीं। अंग्रेजी भले ही अपने घर में बड़ी भाषा हो; पर हमारे देश में हमारी भाषाओं का प्राण हरने का उसका दुस्साहस असह्य है। अब इस प्रश्न पर चार दृष्टियों से सोचना आवश्यक है। हिन्दी भाषियों के प्रति हमें कहना है कि इस नए संकट या प्रहार से उन्हें अपना धैर्य और विवेक नहीं खोना चाहिए। हिन्दी, जनता की शक्ति से अपनी उन्नति की इस रेखा तक पहुँची है। शासन ने जी खोलकर उसका साथ नहीं दिया। जनता ने भी

अपनी भाषा की सेवा करके किसी दूसरे पर अहसान नहीं किया, केवल अपने कर्त्तव्य का पालन किया, जैसा हरेक भाषा-भाषी को उचित है। अभी बहुत काम करना शेष है, यह समझ कर दृढ़ निश्चय से हिन्दी वालों को फोड़ा बाँधना चाहिए। यह उद्वेग का समय नहीं। जब तक हिन्दी-भाषी अपने प्रति सच्चे हैं, उनका बाल बांका नहीं हो सकता। हिन्दी को चाहिए कि जनता की बोली से अपना नाता न तोड़े और संस्कृत की परम्परा से अपने को जोड़े रहे। इस सूत्र का मर्म, विचार करने से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। हिन्दी ने बहुत-से बाहरी शब्द अब तक लिए हैं और उन्हें वह पचाना जानती है। 'जे जड़ चेतन जीव जहाना'। लिखने वाले महाकवि के शिष्य इस बात से क्यों घबराते हैं कि उन्हें कुछ बाहरी शब्द और भी लेने हैं। बहते हुए गंगा के प्रवाह में कितनी धाराएं आ-आ कर मिलती हैं? मूल धारा हिन्दी रूपी गंगा की ही रहेगी। हिन्दी वालों को शान्ति रखनी चाहिए। उनका कर्त्तव्य है कि शासन के संघर्ष में न आएँ; पर किसी मोड़ पर यह अनिवार्य ही हो जाय, तो भय का कारण नहीं। केवल दृढ़ता चाहिए। पहले संघर्ष का परिणाम देख चुके हैं। हाँ, एक बात पर हिन्दी वालों को सजग रहना चाहिए, वह है बीस करोड़ हिन्दी-भाषियों के अपने घर में हिन्दी भाषा और लिपि की स्वरूप-रक्षा। संतोष का विषय है कि इस बारे में हिन्दी वालों की स्थिति और दृष्टिकोण एक है। उनमें आपसी फूट नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर किसी भी हिन्दी भाषी को ऊँचे कंठ से बोलने की आवश्यकता नहीं। वह तो अन्य भाषा वालों पर छोड़ना चाहिए। विरोध के मार्ग से नहीं, समन्वय और सम्प्रीति के द्वारा ही वे राष्ट्र भाषा को ग्रहण करने की ओर प्रेरित हो सकते हैं; पर एक विषय में उन्हें अपना मत पक्का कर लेना होगा और वह यह कि अंग्रेज़ी की दासता हटाने से उनका भी वैसा ही हित होगा, जैसा हिन्दी का; इसलिए इस मोरचे पर सब को एक मत रखना चाहिए। हिन्दी का अपने घर में सहस्रों वर्षों की परम्परा से स्थिर किया हुआ एक रूप है, जैसा अंग्रेज़ी का अपने देश में है। अंग्रेज़ी को स्वीकार करते समय हम उसके गुण-दोष सभी ले लेते हैं। यही न्याय हिन्दी क्या प्रत्येक भाषा के साथ लागू होता है। कभी हिन्दी को सरल बताना, कभी कठिन—ये अनावश्यक उतार-चढ़ाव की बातें हैं, इनमें वास्तविकता नहीं। प्रत्येक भाषा शब्दों से बनती है। उन सब शब्दों को हम स्वीकार कर लेते हैं और अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार उनका प्रयोग करते हैं। जैसे अंग्रेज़ी या अन्य भाषाओं में होने वाली वार्ताओं या प्रसारणों के साथ हम छेड़-छाड़ नहीं करते, वैसे ही हिन्दी में भी नहीं करना चाहिए। बस इतना-सा ही अपने लिए हिन्दी का दृष्टिकोण है। भाषा के सब शब्द सब को नहीं आते, वे तो सीखने ही पड़ते हैं। जिनको अधिक शब्द नहीं आते, उनके लिए भाषा की शैली को बाँध कर नहीं रखा जा सकता। पहले हमने कहा है कि संस्कृत के साथ को अपना नाता जोड़े रखना है, दूसरी ओर हम यह भी चाहते हैं कि हिन्दी की अपनी चाल और अपनी छटा बनी रहे, अर्थात् संस्कृत शब्दों का उतना ही अंश हिन्दी ले, जितना वह पचा सके। एक ओर संस्कृत हिन्दी की प्राण-वायु है, और दूसरी ओर हिन्दी का निजी सजीला रूप भी है। दोनों के मेल में ही हिन्दी भाषा और दूसरी आर्य भाषाओं का स्वास्थ्य निहित है। अच्छे हिन्दी लेखक इस बात को जानते हैं और वैसी ही शैली को टकसाली हिन्दी मानते हैं। यों तो हरेक भाषा में लेखकों के अनुसार बहुत तरह की शैलियाँ जन्म लेती हैं, हिन्दी भी उसका अपवाद नहीं।

हिन्दीतर भाषियों के प्रति हमारा कथन है कि कृपया वे हिन्दी के प्रति अपने मन को आश्वस्त करें। अर्थात् उनको यह विश्वास रखना चाहिए कि हिन्दी किसी भी प्रादेशिक भाषा का स्थान लेने के लिए आगे नहीं बढ़ी, वह तो केवल अंग्रेज़ी को हटाना चाहती है। अंग्रेज़ी वालों ने चतुराई से एक शंका खड़ी कर दी और हम सब उस भुलावे में पड़ गए। वह यह है कि यदि अखिल भारतीय परीक्षाओं में अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी आ गई, तो दूसरी भाषाओं के छात्र घाटे में रहेंगे। इसके उत्तर में हमारा कहना यह है कि आप अंग्रेज़ी को कुछ वर्षों के लिए ऐच्छिक करके किसी भी प्रादेशिक भाषा में उत्तर लिखने की सुविधा छात्रों को दे दीजिए। ऐसा करने में परीक्षा के प्रबन्धकों को कुछ विशेष व्यवस्था करनी होगी, पर इससे सब को संतोष हो जाएगा। जिसका मन हो तमिल में लिखे, बँगला में लिखे, मराठी में लिखे, हिन्दी में लिखे या अंग्रेज़ी में लिखे, सब परीक्षार्थी बराबर रहेंगे। केवल भाषा के कारण योग्यता नहीं आँकी जाएगी। उन विषयों का ज्ञान ही छात्र की योग्यता का आधार माना जाएगा। इस बात पर शासन को मना लेना सब भाषा-भाषियों का कर्त्तव्य है। इससे अंग्रेज़ी का मोह टूट जाएगा और आपसी विवाद मिट जाएगा। इस तथ्य की स्वीकृति से हिन्दी वालों को अपार हर्ष होगा, औरों को भी होना चाहिए।

उर्दू भाषियों के प्रति भी हिन्दी का निवेदन है। दोनों भाषाएँ यहीं जन्मी और दोनों को एक साथ मेल से रहना है, जैसे उन मुसलमानों को, जो पाकिस्तान नहीं गए, इसी देश को अपनी मातृभूमि मान कर मेल-जोल की मनोवृत्ति से यहीं बसना है। धर्म या भाषा के आधार पर आपसी विवाद नए जीवन का निर्माण नहीं कर सकते। वे पुरानी भूली-भटकी बातें हैं। हिन्दी ने, मराठी ने और अन्य भारतीय भाषाओं ने तुर्की, फारसी, अरबी के अनेक शब्द अपनाए हैं और पहले लोगों में भी इस बात से कोई घबराहट नहीं हुई। हमारा अनुमान है कि तुलसी में अरबी-फारसी के जितने शब्द हैं, उसके आधे भी जायसी में नहीं। उर्दू की जो शैली उर्दू वालों को रुचे और जो उर्दूभाषी जनता बनाना चाहे, उसके साथ हिन्दी का विवाद नहीं। प्रजातंत्र में भाषा के विषय में बलपूर्वक कोई आदेश या परिवर्त्तन कभी मान्य नहीं हो सकता। उर्दू का जो विशाल साहित्य है और गद्य लिखने में उर्दू लेखकों का जो निरालापन है, हिन्दी वालों को उसमें सदा रुचि रही है और आगे भी रहेगी। आज भी गाँवों की भाषा जहाँ हिन्दू-मुसलमान मिले-जुले रहते हैं, निन्यानवे फी सदी एक-सी है। फारसी-अरबी के ५-७ हजार नए शब्द लेने से पाँच लाख शब्दों वाली हिन्दी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं और न हिन्दी वालों को इसकी झिझक है। जहाँ तक वैज्ञानिक शब्दावली का प्रश्न है, वह एक बार तय हो चुका है। समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक ही रास्ता है। हम कितना भी बचना चाहें, उसी पर चलना होगा और यदि अंग्रेज़ी का फंदा डालकर भारतीय भाषाएँ अपना दम नहीं घोंट लेना चाहतीं, तो संस्कृत के सिवाय कोई चारा नहीं है। शुद्ध हृदय से हिन्दी की चाहना है कि उर्दू का भी विकास हो; किन्तु हिन्दी और उर्दू की रगड़ जो रह-रह कर पैदा की जाती है, उससे आपस में मैल बढ़ता है और यह राष्ट्रीय हित के विरुद्ध है। जब दोनों को साथ रहना-सहना है, तो दोनों भाषाओं के बीच में भी प्रीति का भाव आना और बढ़ना चाहिए।

शासन के प्रति हिन्दी का यह कथन है कि जो प्रश्न सुलझ चुके हैं, उन्हें फिर से उछालने का अवसर नहीं है। भाषा के सम्बन्ध में जो नीति बन चुकी है और निर्णय लिए जा चुके हैं, उनको सच्चाई से पुष्ट करना ही शासन का कर्त्तव्य है। देश के सामने और अधिक गम्भीर

समस्याएँ हैं। स्वराज्य के वरदानों को किसानों की झोपड़ियों तक पहुँचाना है। ऐसे समय भाषा के प्रश्न पर नई खींचा-तानी शासन के कारण उत्पन्न हो, यह उचित नहीं। फिर यह एक ऐसा सत्य है जो त्रिकाल में भी बाधित नहीं किया जा सकता, अर्थात् जिस राष्ट्र की जो भाषा है उसे हटा कर दूसरे देश की भाषा को सारी जनता पर नहीं थोपा जा सकता। आज सारे संसार में दो ही चार पराधीन छोटे देश ऐसे होंगे, जहाँ शासन में उसी देश की भाषा न चलती हो। केवल भारत ही ऐसा देश बचा है, जहाँ यह अनहोनी बात अभी तक हो रही है और भ्रमवश लोग समझते हैं कि आगे भी यह अंधेर जारी रह सकता है। सत्य तो यह है कि भारत में राष्ट्रभाषा का स्वराज्य होकर ही रहेगा। इस सच्चाई को जितनी जल्दी शासन मान ले, धन और शक्ति की उतनी बचत होगी। इनसे भी बढ़ कर स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र लेखन की शक्ति है, जिस का उदय और वृद्धि अपने देश में हम सब को इष्ट है। कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे वह दिन टलता रहे। जब भारतीय विद्वानों के लेख और ग्रन्थ उस कोटि का सम्मान न पा सकें, जो विदेशी लेखकों को अपनी भाषा में लिखने से मिलता है। विचारों की ऊँची कोटि भाषा पर निर्भर नहीं, वह तो मौलिक रचना और खोज पर निर्भर होती है। आज सारा विश्व मानव-कल्याण के लिए और सृष्टि के गुप्त रहस्यों को जानने के लिए होड़ लगा रहा है। ऐसे समय अपने देश में केवल माध्यम के प्रश्न को लेकर मूल प्रश्न को भुला देना हितकर नहीं। अपने लेखकों को अपनी-अपनी मातृभाषा में लिखने की सुविधा दीजिए, उनके ग्रन्थों का सम्मान और प्रचार कीजिए, इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीय साहित्य का जन्म होगा और वह साहित्य देश-विदेश में आदर पाएगा। भारतीय संस्कृति के अनुसार भाषा सरस्वती का रूप है। बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति के कंठ से निकलने वाले शब्दों के रूप में ही सरस्वती प्रकट होती है। सरस्वती के अनेक रूप हैं। कौन-सी वह भाषा है, जो उसका रूप नहीं है? जैसे संस्कृत उस देवी का रूप है, वैसे ही अरबी और अंग्रेज़ी भी हैं। भारतीय होकर हम किसी भाषा से द्वेष नहीं करते, और हमारे दृष्टिकोण से दूसरों को भी नहीं करना चाहिए; अतएव भाषा के विषय में विचार करते हुए किसी प्रकार हरारत पैदा होना ठीक नहीं। भाषा की आराधना आनन्द का रूप है, मार-काट का नहीं। जैसे ब्रह्मा के कमण्डल में सब प्रकार के जल हैं, वैसे सरस्वती के भण्डार में सब भाषाओं का स्थान है, पर जीवन में अपनी-अपनी विशेषताओं का होना अनिवार्य है। शरीर, रूप, रंग, भाषा संस्कृति सबके भेद इसी नियम के अधीन हैं। इन भेदों के कारण फूट या वैमनस्य अविचार का लक्षण है। हम चाहते हैं कि यह देश अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार विकसित हो, अर्थात् समवाय, सम्प्रीति, सहिष्णुता और मेल-जोल से यहाँ रहना सीखें और हिलमिलकर उन्नति करें। मानवीय कंठ की भाषाएं भिन्न हों; सकती हैं, पर मानवीय हृदय की भाषा एक है। उसी एकता की उपासना जैसे हिन्दी को, वैसे ही और सब को इष्ट होना चाहिए।

डा० धीरेन्द्र वर्मा

क्या हिन्दी अंग्रेज़ी से हार गयी ?

लगभग ७४० वर्ष (१२००–१९४७ ई०) तक भारतवर्ष में केन्द्रीय शासन विदेशी रहा। फलस्वरूप दिल्ली के सुल्तान तथा मुगल साम्राज्यों के समय में लगभग ६०० वर्ष तक देश की प्रधान भाषा फारसी रही और फारसी ही इन विदेशी शासनों से संबंधित उच्च वर्ग के भारतीयों की साहित्यिक भाषा बन गयी थी। १८०० ई० के लगभग उत्तर भारत में अंग्रेज़ों के साम्राज्य की जड़ें जमीं और फारसी के स्थान पर एक अन्य विदेशी भाषा अंग्रेज़ी देश में शासन, शिक्षा तथा साहित्य चर्चा की प्रधान भाषा हो गयी और इस नए विदेशी शासन के चलने में सहयोग देने वाले भारतीयों ने फारसी को छोड़ कर अंग्रेज़ी को अपनाया।

सैकड़ों वर्षों की राजनैतिक गुलामी के बाद जब १९४७ में देश स्वतंत्र हुआ, तो भारतीय भाषाओं के उचित स्थान की ओर देशवासियों का ध्यान गया। इसलिए १९५० में स्वीकृत होने वाले स्वतंत्र भारत के विधान में देश की १४ प्रमुख भाषाओं के महत्त्व को स्वीकृत किया गया और हिन्दी को हिन्दी प्रदेश के लिए लगभग छहों राज्यों—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और दिल्ली तथा हिमांचल प्रदेश तथा आंशिक रूप में पंजाब—की राजभाषा बनाने का निश्चय हुआ। साथ ही देश के लगभग आधे देशवासियों के लिए परिचित होने के कारण हिन्दी को ही केन्द्रीय शासन की राजभाषा बनाना स्वीकृत किया गया। चूंकि भाषा के संबंध में इस प्रकार के देशव्यापी परिवर्तन तथा तैयारी में कुछ समय लगेगा, इसलिए साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि १९६५ तक, अर्थात् १५ वर्षों में, केन्द्र तथा अन्तर्राज्यीय शासन कार्यों में हिन्दी अंग्रेज़ी का स्थान ग्रहण करेगी। स्वतंत्र भारत की इस नवीन केन्द्रीय राजभाषा हिन्दी को शासन-कार्यों की आवश्यकता की दृष्टि से शीघ्र विकसित करने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय शासन ने अपने ही हाथों में लिया।

क्या मन्द गति जानबूझ कर रखी गयी ?

किन्तु १०-१२ वर्षों (१९५०–१९६१ ई०) में हिन्दी भाषा को व्यावहारिक दृष्टि से विकसित करने का यह कार्य अत्यन्त मंदगति से चला। कमर कस के ऐसी तैयारी नहीं की गयी कि विधान का यह निश्चय कार्यान्वित हो सकता। इसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रीय, अन्तर्राज्यीय तथा हिन्दी भाषी छह सात राज्यों के कार्यों में हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त करना अब अनिश्चित काल के लिए स्थगित किया जा रहा है। कुछ दिनों पूर्व ही यह घोषणा हुई कि १९६५ के बाद भी स्वतंत्र भारत के शासन कार्यों में अंग्रेज़ी अनिश्चित काल तक प्रधान भाषा बनी रहेगी। इस नवीन निर्णय के पीछे देश के कुछ राज्यों, विशेषतया बंगाल और मद्रास का निरन्तर विरोध भी कारण स्वरूप है। महात्माजी ने समस्त देश को यह मनवा दिया था कि स्वतंत्र भारत में अंग्रेज़ी के असाधारण स्थान को हटाना होगा और यह स्थान हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं

को अविलम्ब देना होगा, पर देश के वर्तमान शासक इस विश्वास को कायम रखने और कार्यान्वित करने में निर्बल और असफल सिद्ध हुए।

विश्वविद्यालयों

शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी प्रदेश के छह-सात राज्यों के लगभग समस्त विश्वविद्यालयों में अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी बी० ए० तक शिक्षा का माध्यम बना दी गयी थी तथा एम० ए० में भी वैकल्पिक रूप में उसे धीरे-धीरे शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम स्वीकृत किया जा रहा था। आर्ट्स फैकल्टीयों के अतिरिक्त साइंस, कामर्स, कानून आदि की अन्य फैकल्टियों के विषयों के संबंध में भी विश्वविद्यालयों को यह यत्न करना चाहिए कि कुछ तैयारी करने के उपरांत यथासंभव शीघ्र ही माध्यम परिवर्त्तन किया जाय। हिन्दी के विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य विषयों के पी० एच० डी०, डी फिल० तथा डी० लिट्० तक के थीसिस भी कभी-कभी हिन्दी में लिखे जाने लगे थे, किन्तु कुछ ही दिन पूर्व मंत्रियों की कान्फ्रेंस, 'इंटीग्रेशन कमेटी' तथा 'यूनीवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन' ने घोषित किया है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में अभी शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को ही बनाए रखना चाहिए और स्वतंत्र भारत के बालक भी हिन्दी, मराठी, गुजराती, तमिल, तैलुगु, बंगाली आदि अपनी मातृभाषाओं में उच्च शिक्षा न प्राप्त कर के विदेशी भाषा अंग्रेज़ी के माध्यम से ही शिक्षा ग्रहण करते रहें। इसका प्रथम परिणाम यह होगा कि ज्ञान-विज्ञान से संबंधित उच्च साहित्य के निर्माण के कार्य की गति हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में फिर अत्यंत मंद हो जायगी। इधर कुछ दिनों से विश्वविद्यालयों में निकट भविष्य की आवश्यकताओं की कल्पना कर के यह कार्य तेजी से होने लगा था।

क्योंकि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद १९४७ से हिन्दी प्रदेश के राज्यों के स्कूलों तथा इंटर कालेजों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो गया था और अंग्रेज़ी का स्थान प्रथम न हो कर दूसरा बन गया था, इसलिए हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेज़ी माध्यम बनाए रखना व्यावहारिक दृष्टि से भी असंभव हो चला था। इस स्थिति को पलटने के लिए अब यह भी यत्न किया जा रहा है कि ब्रिटिश शासनकाल के समान प्रत्येक भारतीय बालक को अंग्रेज़ी भाषा तीसरी कक्षा से, अनिवार्य रूप से फिर से, पढ़ायी जाय। समाचारपत्रों में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा मंत्रालय के शिक्षा विशेषज्ञ ने इसी महीने यह मत व्यक्त किया है कि साइंस तथा टेकनिकल विषयों की पढ़ाई का माध्यम सेकेंडरी स्कूल में भी अंग्रेज़ी ही बना रहना चाहिए। उन्होंने यही कहा कि अंग्रेज़ी की पढ़ाई प्राइमरी कक्षाओं से आरम्भ कर देना अच्छा होगा, क्योंकि भारत के गाँवों के रहने वाले अंग्रेज़ी सीखने को बहुत उत्सुक हैं। यहाँ यह स्मरण दिला देना अनुचित नहीं होगा कि तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक देश में लगभग २१ हजार सेकेंडरी स्कूल और ४ लाख प्राइमरी स्कूल हो जाने की संभावना है। अतः उपर्युक्त नीति के फलस्वरूप अगले पाँच वर्षों में अंग्रेज़ी की शिक्षा का कितना देशव्यापी प्रचार होने जा रहा है, इसका कुछ अनुमान स्कूलों की उपयुक्त संभावित संख्याओं से लग सकता है।

अगर इनका बस चले तो

ऐसा मालूम हो रहा है कि भारतीय भाषाओं को विकसित करने की चिन्ता के स्थान पर

स्वतंत्र भारत में अंग्रेज़ी के उखड़े पैरों को फिर से जमाने के संबंध में अंग्रेज़ी पढ़े भारतीयों, राज-नीतिक नेताओं, शिक्षा विचारकों आदि, तथा इनके द्वारा आयोजित कान्फ्रेंसों तथा संस्थाओं में, जैसे होड़ हो रही हो। यदि किसी तरह संभव हो सकता, तो देश के वर्तमान कर्णधारों ने भारत में जन्म से ही केवल अंग्रेज़ी बोलते हुए बच्चे पैदा होने की योजना अवश्य बना डाली होती।

भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम कायम रखने तथा फिर से लौटाने की उपर्युक्त नीति को यदि देश में इसी प्रकार बिना प्रतिवाद के कुछ दिनों और चलने दिया गया, तो यह निश्चित है कि देश के स्कूलों और कालेजों में समस्त विषयों की शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी फिर लौट आयेगी। यदि स्वतंत्र भारत में आगे की पीढ़ियों का अंग्रेज़ी भाषा का स्तर ब्रिटिश कालवाला लौटाना है, तो इसके सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं है। मातृभाषा के स्थान पर किसी विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से बच्चों का मानसिक विकास किस प्रकार रुकता है और मौलिक चिंतन में किस प्रकार बाधा पड़ती है, यह कोई भी शिक्षा-शास्त्री बता सकता है।

देश में हिन्दी के वर्तमान तथा भावी स्थान के संबंध में अनिश्चय होने के कारण देश के स्वतंत्र होने के आज १५ वर्ष बाद भी उच्च वर्गों के शिक्षित भारतीय बच्चों को सरकारी अथवा गैर सरकारी स्कूलों में न भेज कर ईसाई मिशनों के द्वारा चलाये जानेवाले कान्वेंट स्कूलों तथा पब्लिक स्कूलों में भेज रहे हैं, जहाँ प्रारंभिक और स्कूली शिक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से दी जाती है। शिक्षित भारतीयों का यह वर्ग घरों में अपने बच्चों को अपनी मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेज़ी रहन-सहन की भद्दी नकल करने पर गर्व का अनुभव करता है। यही वर्ग देश के जनसाधारण के बच्चों को भी बचपन से ही अंग्रेज़ी पढ़वाना चाहता है। इसे विदेशी शासन काल की उपेक्षित आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की तनिक भी चिंता नहीं है; क्योंकि यह वर्ग भारतीय भाषाओं और साहित्य की अपेक्षा अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य से अधिक परिचित रहा है और आज भी है।

हिन्दी-संसार की किंकर्त्तव्य विमूढ़ता

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की उच्च शिक्षा तथा शासन की भाषा बनाने के संबंध में जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी गति इतनी मन्द है कि गत १५ वर्षों के अनुभव के आधार पर यह कार्य इस शताब्दी में तो संपन्न होता नहीं दिखलायी पड़ रहा। समस्त शिक्षित सरकारी तथा गैर सरकारी व्यक्ति निज की बातचीत में स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि देश में अभी अन्य भारतीय भाषाओं को यह पद प्राप्त करने की तैयारी करने दो। इस तैयारी के काल की सीमा इसी वर्ग की प्रेरणा से अब पूर्ण रूप से हटा दी गयी है।

इस समय हिन्दी-संसार किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा है। उसकी समझ में नहीं आ रहा है कि वह क्या करे और कैसे करे? देश के स्वतंत्र होने के बाद देश की भाषाओं के विकास की इतनी उपेक्षा होगी और अंग्रेज़ी का अस्वाभाविक स्थान बनाये रखने के संबंध में इतना आग्रह होगा, इसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। हिन्दी-प्रेमी, हिन्दी संस्थाएँ, हिन्दी पत्रकार एक घुटन का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या कहें और कैसे कहें?

कभी कभी तो हिन्दी-प्रेमियों के मन में यह प्रश्न उठने लगता है कि क्या स्वतंत्र भारत में हिन्दी तथा अन्य तेरह प्रधान भाषाएँ एक विदेशी यूरोपीय भाषा अंग्रेज़ी से वास्तव में पराजित हो गयी हैं? इसका अंतिम उत्तर निश्चित है और स्पष्ट है। प्रजातंत्र वाले स्वतंत्र भारत में ऐसा हो सकना असंभव है। अपनी सरकार को बनाना, बिगाड़ना जनसाधारण के हाथ में है, जो केवल भारतीय भाषाएँ जानती, बोलती और लिखती पढ़ती हैं—अंग्रेज़ी नहीं। अंग्रेज़ी पढ़े शिक्षित भारतीय देश में एक प्रतिशत भी नहीं, यद्यपि देश की बागडोर अवश्य उन्हीं के हाथों में है।

अंग्रेज़ी शासन काल में पैदा होने वाली और शिक्षा पाने वाली भारतीयों की पीढ़ी अंग्रेज़ी की तुलना में अपनी मातृभाषा तथा अन्य प्राचीन तथा नवीन भारतीय भाषाओं का प्रायः बहुत कम ज्ञान रखती है। बचपन से अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने तथा आजीवन अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के वातावरण में रहने के कारण उसके सोचने का ढंग ही बदल गया है। वह अंग्रेज़ी में सचमुच आस्था रखती है. क्योंकि उसने बचपन से वही सीखी थी। भारतीय भाषाओं तथा साहित्यों की शक्ति की संभावनाओं को वह समझती ही नहीं, क्योंकि राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप उनको अध्ययन करने का कभी अवसर ही नहीं मिला। अतः यह निश्चित है कि उस पीढ़ी के हाथ में जब तक देश की बागडोर रहेगी, तब तक स्वतंत्र भारत में भी अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक स्थान तथा भविष्य के संबंध में स्थिति का वास्तविक सुधार असंभव है।

बुझते दिये की अन्तिम लौ

किन्तु प्रजातंत्र प्रणाली वाले स्वतंत्र भारतवर्ष में यह वर्ग यदि डरता है, तो जनमत से डरता है। इसी कारण वह चुपचाप ऐसी नीति का अवलंबन कर रहा है, जिससे देश में अंग्रेज़ी भाषा ब्रिटिश शासन काल के समान ही कायम रहे। ऐसा करना वह सच्चे हृदय से देश के हित में समझता है। उसका विश्वास बन गया है कि पिछड़ी भारतीय भाषाओं को शीघ्र विकसित करना संभव नहीं है। साथ ही लोकमत के डर से अपने इन विश्वासों को वह स्पष्ट शब्दों में कहने की भी हिम्मत नहीं कर पाता है। इसी भय के कारण उसे दुहरी नीति का अवलंबन करना पड़ रहा है। एक ओर वह सर्वसाधारण को यह विश्वास दिला कर अपने हाथ में रखना चाहता है कि अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी देश की राजभाषा १९६५ तक हो जायेगी, और दूसरी ओर इस परिवर्तन में आस्था न होने के कारण, वह इसे कार्यान्वित करने के संबंध में सचमुच यत्नशील नहीं हैं।

यदि स्वतंत्र भारत में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को निकट भविष्य में उनका उचित स्थान दिलाना है, तो इन भाषाओं के प्रेमियों को देश के जनमत को जागरूक करना होगा। देश में स्वतंत्रता-प्राप्ति के १५ वर्ष बाद आज अंग्रेज़ी का जो लौटता हुआ महत्व दिखलायी पड़ रहा है, वह वास्तव में सच्चा नहीं है, बल्कि बुझते हुए दिए की बढ़नेवाली लौ, अथवा मरते हुए आदमी के संभल जाने के समान है। साथ ही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को विकसित करने के संबंध में अटूट परिश्रम तथा सतत प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यह कार्य आस्थाहीन व्यक्तियों के हाथ में शक्ति केन्द्रित होने के कारण अभी तक ठीक से नहीं हो सका है, इसके लिए विशेष उद्योग की आवश्यकता है। यह प्रसिद्ध संस्कृत उक्ति अक्षरशः सत्य है कि "न हि सुप्तस्य सिंहस्य पतन्ति हि मुखे मृगाः" सोते हुए सिंह के मुख में अपने आप मृग आकर नहीं गिर पड़ते।

एस० निजलिंगप्पा

हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा

देवनागरी ही राष्ट्रलिपि

हिन्दी प्रकृति से ही और सहज रूप से ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। अंग्रेजी भाषा को और रोमन लिपि को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के नाते इस देश में चलाना लाभदायक नहीं होगा। भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं से सम्बन्ध रखनेवाली भाषा को ही राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया जा सकता है और रोमन लिपि को राष्ट्रलिपि का रूप देने का प्रयास अत्यन्त अस्वाभाविक होगा। इसके साथ ही वह बहुत अव्यवहार्य होगा, क्योंकि देश के बहुत कम लोग रोमन लिपि को जानते हैं। देवनागरी लिपि को मैं रोमन लिपि की तुलना में श्रेष्ठ मानता हूं। इसलिए स्वाभाविक रूप से हमारी राष्ट्रभाषा की लिपि देवनागरी ही होगी।

संस्कृत स्रोत की अपरिहार्यता

हमारी राष्ट्रभाषा में जो शब्द पर्शियन, अरबी और अंग्रेजी के रूढ़ हो गए होंगे, उनको हम वैसा ही रहने देंगे, किन्तु भविष्य में जहां नवीन शब्दों के प्रवाह का प्रश्न है वहां यदि वे हिन्दी में सरलता से आ सकें तो उनका मार्ग हमें बंद नहीं करना चाहिए; लेकिन हमें दूसरी ओर इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारा स्वाभाविक स्रोत संस्कृत का ही रहे, या वह अन्य भारतीय भाषाओं का या द्रविड़ परिवार की भाषाओं का हो। इनके बदले अरबी-फारसी का मुंह ताकना अनुचित होगा।

प्रान्तीय भाषाओं को हिन्दी का योग दान

कानड़ी भाषा में बहुत पुराना, समृद्ध तथा नाना प्रकार का साहित्य है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने से हम कानड़ी के अच्छे-अच्छे विचार राष्ट्रभाषा के माध्यम से व्यक्त कर सकते हैं। तभी राष्ट्रभाषा हिन्दी सब प्रकार से समृद्ध हो सकती है। राष्ट्रभाषा को राष्ट्र की भाषा बनाने के लिए दक्षिण की द्राविड़ परिवार की भाषाओं में से तथा अन्य भारतीय भाषाओं में से बहुत कुछ लेना होगा। दक्षिण की भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ लेन-देन किया है, इसीलिए उसी परंपरा में आयी हुई हिन्दी बड़ी सरलता से राष्ट्रभाषा होने के लायक है।

अनन्त शयनम् आयंगर

अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी ही ले सकती है

भारतीय भाषाओं का हृदय एक है

भारत के स्वर्णिम-युग में संस्कृत एक भाषा रही। धीरे-धीरे उसका स्थान, प्राकृत, मागधी आदि उसकी पुत्रियों ने लिया और कालान्तर में पौत्रियों के रूप में उसकी जो संतानें उत्पन्न हूईं उन्होंने भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का रूप धारण किया। अपनी इस अवस्था में वे एक दूसरे से कुछ भिन्न रूप अवश्य हो गयीं। परन्तु उनकी जननी एक संस्कृत होने के कारण उनका हृदय अब भी एक बना हुआ है। उनकी वर्णमाला एक ही सिद्धान्त को लेकर चलती है, उनके रूप अब भी संस्कृतनिष्ठ हैं और उनकी भाव-व्यंजना अब भी एक-सी है। दक्षिण की भाषाओं को लें तो उनमें भी ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत के मिलते हैं। प्रान्तीय भाषाओं की यह एक रूपता ही पुकार-पुकार कर बता रही है कि हमारी राष्ट्रभाषा क्या हो सकती है? हम राजनैतिक पचड़ों में पड़कर कोई कृत्रिम भाषा बनाने का प्रयत्न भले ही कर लें, परन्तु प्रकृति उसे चलने नहीं देगी। वह तो उसी को राष्ट्रभाषा के रूप में जीवित रहने देगी जो सत्य है, कृत्रिम नहीं, जो स्वाभाविक है, बनावटी नहीं, जो विशुद्ध भारतीय है, अभारतीय नहीं और विदेशी भाषाओं के निकट नहीं, हमारी प्रान्तीय भाषाओं के निकटतम है।

उर्दू जनता की भाषा न बनी

भारत पर अनेक बार विदेशी आक्रमण हुए। राजनैतिक दृष्टि से हम पराजित हुए सही, परन्तु हमारी राष्ट्रभाषा भी पराजित नहीं हुई। उसके आगे आक्रमणकारियों को मुँह की फिर खानी पड़ी। मुसलमान बादशाहों ने यहाँ आकर फारसी को भारत की राजभाषा बनाने का जी जान से यत्न किया, पर वे अन्त में विफल हुए। विवश होकर उन्हें फारसी का फातिहा पढ़कर देश में राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित हिन्दी के तत्कालीन रूप को अपनाना पड़ा। हिन्दी शब्दों से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने राष्ट्रभाषा में अरबी-फारसी शब्दों को मिला दिया और यहीं से हिन्दी के दूसरे रूप उर्दू की सृष्टि हुई।

अंग्रज़ी का प्रभाव

मुसलमानों के बाद अंग्रेज़ आये और उन्होंने यहाँ अंग्रेज़ी का बोलबाला करना आरम्भ किया। जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने हमें पराजित किया वहाँ भाषा के क्षेत्र में भी हमें कुचलने की ठानी। मुसलमान विदेशियों ने जहाँ स्वयं फारसी छोड़कर फारसीमयी हिन्दी को अपना लिया था वहाँ अंग्रेज़ों ने इसके विपरीत यह यत्न किया कि इस देश के निवासी अपनी भाषा को भूल जायँ

और उनकी अंग्रेज़ी भाषा ही अपना लें। यह कूटनीतिक चाल इतनी सफल हुई कि देखते देखते हिन्दी तथा उर्दू दोनों पर अंग्रेजी हावी हो गयी। क्रमशः वह समय आ गया जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति ही देश के सिरमौर माने जाने लगे। धोबी माली आदि निम्नसेवकों और अंग्रेजी से अनभिज्ञ बाबू-समुदाय से वार्तालाप करने के लिए अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी नाम की एक नयी विचित्र भाषा की सृष्टि कर डाली जो अंग्रेजी उच्चारण के कारण अत्यन्त विकृत रूप में प्रकट हुई। आगे चलकर हमारे अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों ने इसे हास्यास्पद रूप दे दिया। इसका एक उदाहरण यहाँ दे देना उचित होगा।—

"मैंने यह ट्रेन मिस कर दी। आपने डिटेन न कर लिया होता, तो मैं जरूर कैच कर लेता।"

इस प्रकार की खिचड़ी भाषा अंग्रेजी-शासन में चल सकती थी; पर अब स्वतन्त्र भारत में इस वर्णसांकर्य के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।

अंग्रेजी छोड़ो

अब रही बात अंग्रेज़ी की। सो अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी अंग्रेजी यहाँ रह जाय, तो हमारे राष्ट्रपिता के 'अंग्रेज़ो! भारत छोड़ो' आन्दोलन का कोई अर्थ नहीं रहता। यदि स्वतन्त्र भारत में भी हम अंग्रेजी को गले लगाए रहे, तो हमारी अयोग्यता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा? इसी कारण उन्होंने अंग्रेजी में भाषण देना त्याग दिया था। जब कभी विवश होकर उन्हें अंग्रेजी में बोलना ही पड़ता था तो उनके हृदय को बड़ा दुःख होता था और वे यह कहे बिना न चूकते थे कि "अब अंग्रेजी ने हमारी संस्कृति का विनाश कर दिया और हमारा मानसिक दृष्टिकोण भी बदल डाला। हमें आत्मिकता और हमारी दार्शनिकता के आधार पर यदि अपने जीवन का आधार बनाना है, तो अंग्रेजी भाषा की सत्ता का अन्त कर देना होगा।" इससे यह अभिप्राय नहीं कि अंग्रेजी का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यह बड़ी प्रभावशाली भाषा है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए हम इसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी संस्कृति होती है, जिसके विस्तार के साथ उस भाषा का भी विस्तार होगा। भारत में अंग्रेजी इसे पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकेगी; अतः अंग्रेजी छोड़कर हमें अपनी राष्ट्रभाषा लेनी होगी। इसी कारण से अंग्रेजी को हम अपनी राष्ट्रभाषा के पद पर नहीं रख सकते।

हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब अंग्रेजी का अन्त हो जाय, तो फिर उसके स्थान पर समस्त भारतवर्ष के लिए एक सामान्य भाषा होना भी आवश्यक है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का अपना प्राचीन इतिहास और साहित्य है; अतः उनकी स्थिति अक्षुण्ण रहनी भी परमावश्यक है। यह देखते हुए भी हमें अन्तरप्रान्तीय सम्पर्क के लिए एक भाषा चुननी ही पड़ेगी। प्रजातन्त्रीय देश में अधिकतम जनसमुदाय द्वारा बोली और समझी जानेवाली भाषा ही यह कार्य सम्पादन कर सकती है। इस दृष्टि से हिन्दी इस कसौटी पर पूरी उतरती है। हिन्दी संस्कृत के निकटतम है इसमें हमारी प्राचीनतम संस्कृति भी सुरक्षित है और यह सबसे अधिक भाषा में भारतीयों द्वारा बोली, समझी और लिखी पढ़ी जाती है। इसमें प्रत्येक प्रकार के भाव व्यक्त करने की क्षमता है। इतना ही नहीं, अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों के लोग भी सरलता से टूटी-फूटी

हिन्दी बोलकर अपना काम चला लेते हैं। मद्रास, सिन्ध, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कन्नड़ आदि प्रान्तों के निवासी जब केदार, बद्री, प्रयाग, काशी, मथुरा, वृंदावन आदि तीर्थों की यात्रा करने निकलते हैं तो यही हिन्दी उनकी सहायिका होती है। इसी प्रकार उत्तर भारत के पंजाब बंगाल आदि प्रान्तों के निवासी जब दक्षिण में मदुरा, राजी, रामेश्वरम् यात्रा को जाते हैं, तो इसी हिन्दी द्वारा अपना काम चलाते हैं; अतः पहले से ही प्रस्तुत अपनी इस राष्ट्रभाषा को छोड़कर अरबी-फारसी के मोह में पड़कर यदि हम कोई कृत्रिम भाषा गढ़ने में अपना और समस्त देशवासियों का समय नष्ट करें तो वह कदापि बुद्धिसंगत नहीं होगा।

संस्कृत के कारण भाषा क्लिष्ट नहीं होगी

ऊपर मैंने हिन्दी को संस्कृत भाषा के निकटतम होने की बात कही है। संस्कृत में हमारी संस्कृति की समस्त निधि सुरक्षित है; अतः हमारे निकट हिन्दी के नए शब्द गढ़ने के लिए संस्कृत से सहायता लेना स्वाभाविक और सर्वथा उचित होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी राष्ट्रभाषा को ऐसा क्लिष्ट बना लेगें जो व्यवहार में आ ही न सके। अन्य भाषाओं के जो सरल शब्द हमारी राष्ट्रभाषा में आकर खप और पच जावेंगे, उन्हें हम सहर्ष शिरोधार्य करेंगे। इस प्रकार हमारी राष्ट्रभाषा किसी अजायबघर की नहीं, वरन् एक जीती-जागती वस्तु होगी—जिसमें जीवन होगा, स्फूर्ति होगी, ओज होगा, सामर्थ्य होगा, सौन्दर्य होगा और सरलता होगी।

पाकिस्तान के बाद

अभी भी राष्ट्रभाषा बनाने में दो प्रकार का विरोध है। एक उन लोगों की ओर से जो हिन्दुस्तानी के समर्थक हैं और दूसरा उनका जिन्हें हिन्दी के विषय में भ्रम है। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी हिन्दुस्तानी की बात करना और देश की सरल भाषा में बलात् अरबी-फारसी के शब्द डालने का यत्न करना, अब न तो तर्कसंगत है और न देश के लिए कल्याणकारी है।

महात्मा गांधी ने प्रायः पचीस वर्ष पूर्व राष्ट्र भाषा की आवश्यकता को पूर्ण करने के सत्प्रयत्नों को व्यावहारिक रूप देना आरम्भ किया और उन्होंने यह कार्य हिन्दी को लेकर आरम्भ किया। इस दिशा में पर्याप्त प्रगति हो चुकने के बाद मुसलमानों को भी साथ रखने का प्रश्न आया, तो उन्होंने हिन्दी के बदले हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। यह परिवर्त्तन समय की गति के अनुसार किया गया था। समय की गति ने पलटा खाया। अधिकांश मुसलमानों ने अलग होकर पाकिस्तान बना लिया तथा उसकी राष्ट्रभाषा उर्दू भी घोषित कर दी। ऐसी दशा में अब भारत में भी उर्दू को बनाये रखने का कोई कारण नहीं है; अतः हमें अब फिर अपनी वास्तविक राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर लौट आना चाहिए, जो हमारे राष्ट्रपिता महात्मागांधी को अत्यन्त प्रिय थी। भारत की अखंडता और हिन्दुओं तथा पाकिस्तानी मनोवृत्ति के मुसलमानों की एकता बनाये रखने के लिए महात्माजी ने अपनी भाषा का बलिदान करना स्वीकार कर लिया और हिन्दुस्तानी के लिए कार्य भी आरम्भ कर दिया, परन्तु विपक्षियों ने उनके इस प्रयत्न की रत्ती भर चिन्ता न की, अलग होने का अपना राग बराबर अलापते रहे और अन्त में अलग होकर ही रहे। ऐसी दशामें हमें फिर हिन्दी को अपना लेना चाहिए। उसके अनेक अंगों की वृद्धि एवं पुष्टि होना आवश्यक है। हमारी प्रान्तीय

भाषा चाहे जो हो, परन्तु यदि हमारी लेखनी में शक्ति है तो उसके थोड़े-बहुत पत्र-पुष्प राष्ट्रभाषा की देहरी पर भी अर्पित करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण कार्य के लिए समस्त प्रान्तीय भाषाओं के विद्वानों का एक बोर्ड बनाने की आवश्यकता है। डा० रघुवीर का कार्य इस दिशा में प्रशंसनीय कहा जा सकता है।

हिन्दी से प्रान्तीय भाषाओं का ही लाभ

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गयी तो प्रान्तीय भाषाओं को हानि पहुँचेगी। यह भ्रम एकदम निराधार है, यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। विधान में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अपने अपने प्रान्तों में प्रान्तीय भाषाओं के फलने फूलने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। हिन्दी तो वहीं आयेगी, जहाँ अन्तरप्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकार के कार्य का सम्बन्ध होगा। मान लीजिए, हम यदि हिन्दी के बदले अंग्रेजी को ही राष्ट्रभाषा बनी रहने दें---जैसी कुछ लोगों की इच्छा है---तब क्या प्रान्तीय भाषाओं का मार्ग निष्कंटक हो जायगा? अच्छा है--- ठंढे दिमाग से यदि हम विचार करें, तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में प्रान्तीय भाषाओं की हानि नहीं, वरन् उनका लाभ होगा। हम अपनी साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक प्रगति से अनभिज्ञ रहते हैं। वहाँ दूर होकर परस्पर प्रान्तीय भाषाओं का संपर्क बढ़ेगा, अन्तरप्रान्तीय साहित्य का संगम होगा और देश के एक स्थान पर प्रकट हुए ज्ञान का लाभ देश की समस्त भाषाओं और उसके बोलने वालों को अनायास ही प्राप्त हुआ करेगा। इस प्रकार हमारी एक भाषा होने से हमारी एक संस्कृति होगी और हमारा राष्ट्र एक सुदृढ़ शक्तिशाली राष्ट्र होगा।

देवनागरी का प्रयोग

देवनागरी को राष्ट्रलिपि बनाने का विरोध प्राय: शान्त हो चुका है। उसकी वैज्ञानिकता और उपादेयता के आगे विरोधियों के तर्क टिके ही नहीं। मैं मानता हूँ कि विभिन्न प्रान्तों को एक दूसरे के अधिकतम निकट करने के लिए यदि हम धीरे-धीरे सभी प्रान्तीय भाषाओं के लिए एक देवनागरी लिपि ही अपना लें तो उन्नति के पथ पर अग्रसर होने में हमें बड़ी सुविधा हो जायगी। सभी प्रान्तीय लिपियाँ इसी देवनागरी से निकली हैं; अत: यह कार्य कठिन भी नहीं है। समस्त प्रान्तीय भाषाओं की एक लिपि हो जाने से जहाँ हममें एकता एवं एकरूपता उत्पन्न हो जाएगी वहाँ मुद्रण टाइपराइटर, टेलिप्रिन्टर आदि के दैनिक कार्यों की बड़ी सुविधा हो जायगी। आज से प्राय: ३८ वर्ष पूर्व श्री वी० कृष्णास्वामी अय्यर और बाबू शारदाचरण मित्र जैसे हमारे नेताओं ने भी यही अनुरोध किया था। उनका कहना था कि राष्ट्रीय एकता के लिए हमें प्रान्तीयता की भावना त्यागकर सभी प्रान्तीय भाषाओं के लिए एक लिपि देवनागरी अपना लेनी चाहिए।

●

डा० विनयमोहन शर्मा

हिन्दी-भाषी प्रान्त हिन्दी के लिए क्या कर रहे हैं ?

यह सचमुच अत्यन्त खेद का विषय है कि हिन्दी को संविधान के अनुसार प्रजातांत्रिक युग में भी वैध स्थान प्राप्त नहीं हो रहा है। स्वाधीनता-पूर्व महात्मागांधी ने उसे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग बनाकर देशवासियों को विदेशी भाषा के मोह से मुक्त करने का प्रयत्न किया था और इसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता प्राप्त भी हुई थी। वे स्वयं अहिन्दी भाषी होते हुए भी टूटी-फूटी हिन्दी में बोलते, लिखते और अपने सहकर्मियों को उसे अपनाने की प्रेरणा देते थे। उसके प्रचार के लिए उन्होंने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा और पूर्व, मध्यप्रदेश, वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना करवायी थी। इस कार्य में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भी उनका हाथ बँटाया था। सन् १९४० के पूर्व जब कांग्रेस का प्रथम मंत्रिमंडल स्थापित हुआ था, तब राजाजी मद्रास के मुख्य मंत्री थे, उन्होंने अपने राज्य की शालाओं में हिन्दी के अध्यापन पर विशेष बल दिया था। जिन व्यक्तियों ने उनके विरोध में आन्दोलन खड़ा किया, उन्हें उन्होंने करावास की सजा तक दी थी, क्योंकि वे हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक मानते थे और उसके विरोधियों के आन्दोलन को अराष्ट्रीय; परन्तु आज देश के स्वाधीन हो जाने के उपरान्त राजाजी तथा अन्य कतिपय अहिन्दी भाषी सज्जनों की विचारधारा विपरीत गति में प्रकाहित होने लगी है।

दुःख तो यह है कि प्रजातंत्र के पोषक भी उसे इसलिए पुरअसर नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि उन्हें भय है कि कहीं उसके कारण उत्तर दक्षिण और पूरब के बीच दीवारें न खड़ी हो जायँ। जो भाषा सदियों से समस्त राष्ट्र की सांस्कृतिक और व्यावसायिक एकता को बनाये रखने की साधन थी, वही आज 'खतरे की चीज' बन गयी है। जो विद्वान् कल तक उसे अन्तर्प्रांतीय भाषा और साहित्य के रूप में स्वीकार करते रहे हैं–वे ही आज राजनीतिक नारेबाजों के स्वर में स्वर मिलाकर उसे 'बाजारू बोली' कहने लगे हैं। स्वाधीनतापूर्व अंग्रेज शासक अपने उच्चाधिकारियों का निर्वाचन आई० सी० एस० परीक्षा द्वारा करते थे। और उसमें उन्होंने हिन्दी को ही एक वैकल्पिक विषय स्वीकार किया था, परन्तु स्वाधीन भारत में आई० सी० एस० परीक्षा की उत्तराधिकारिणी आई० ए० एस० परीक्षा में, हिन्दी को वैकल्पिक विषय बनाने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। स्वाधीनता-पूर्व हिन्दी का कार्य राष्ट्रीय कार्य समझा जाता था, आज वह साम्राज्यवादी अभियान कहा जाने लगा। जिस समय भारतीय संविधान-परिषद् के सम्मुख हिन्दी को नागरी लिपि सहित राजभाषा के रूप में स्वीकारने का प्रस्ताव था, उस समय नागरी और रोमन

अंक तथा लिपि तक ही विरोध सीमित था। अन्त में एक सदस्य को छोड़ कर किसी ने भी प्रस्ताव का विरोध नहीं किया और वह पारित हो गया, क्योंकि उसके अन्तर्प्रान्तीय प्रयोग की आवश्यकता पर किसी को सन्देह नहीं था। हाँ, उसके उस प्रशासनीय तथा विश्वविद्यालयी क्षेत्रों में प्रयोग के लिए पर्याप्त समय की माँग अवश्य की गयी थी, जिसका प्रावधान संविधान में रखा गया था। विधायकों का विश्वास था कि पन्द्रह वर्षों में राज्य तथा विश्वविद्यालय हिन्दी को अपने-अपने क्षेत्र में व्यवहार योग्य बनाने में सफल हो जावेंगे। जिस समय संविधान तैयार हुआ था, लोगों में राष्ट्रीयता की भावना क्षीण नहीं हो पायी थी। उनमें मातृभाषा और राष्ट्र-भाषा की अधिवृद्धि की लगन थी; पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, देशभक्ति प्रांत या राज्य-भक्ति में सीमित होती गयी। यहाँ तक कि कुछ राज्यों में राष्ट्रगीत के स्थान पर राज्यगीत की रुचि बढ़ने लगी और "स्वराज्य" और "भाषा" की प्रमुख रूप से चर्चा होने लगी। हिन्दी जो राष्ट्रभाषा कहलाती थी, केवल राजभाषा से संबोधित की जाने लगी और जो भाषाएँ प्रान्तीय या क्षेत्रीय भाषा कहलाती थीं, राष्ट्रभाषा कहलाने लगीं। राष्ट्रभाषा हिन्दी का अर्थ-विस्तार अर्थ-संकोच में परिणत हो गया और वह भी एक क्षेत्रीय भाषा कहलाने लगी।

सन् १९६५ के पश्चात् जहाँ उसे केन्द्रीय राजभाषा तथा अन्य राज्यों के मध्य व्यवहार-भाषा का पद प्राप्त होने जा रहा था, वहाँ वह अब अनिश्चितकाल के लिए अंग्रेजी की सहयोगिनी बनी रहेगी। हो सकता है, भविष्य में जब प्रायमरी शिक्षा से ही अंग्रेजी पढ़े बालक शासन की बागडोर सँभालने लगेंगे, तब वे देश और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बहुमानित (?) अंग्रेजी भाषा को ही राजभाषा बनाने की वकालत करने लगेंगे, किन्तु आज अंग्रेजी के विरुद्ध जो यह दलील दी जाती है कि देश में उसे समझने वाले केवल मुट्ठीभर व्यक्ति हैं, पन्द्रह-बीस वर्षों के पश्चात् वह झुठला दी जायगी; क्योंकि प्राथमिक शालाओं से जब उसकी पढ़ाई अनिवार्य हो जायेगी, तब उतनी अवधि में उसे समझने वालों के आँकड़े निश्चित ही बढ़ जाएँगे। उसे देश-भाषाओं की सूची में सम्मिलित कराने के प्रयत्न जारी हैं, क्योंकि वह भारत की एक अल्पसंख्यक जाति की मातृभाषा है। इस तरह भविष्य में अंग्रेजी का राजभाषा या राष्ट्रभाषा बन जाना, कोई अचरज की बात नहीं जान पड़ती।

देश में जब स्वाधीनता के उत्सव मनाए जा रहे थे, तब एक उच्च पदीय अंग्रेज ने भविष्यवाणी की थी--'भारत में जब तक देशभक्ति का जोर है, तभी तक हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाया जा सकता है, उसके बाद इस भावना के क्षीण होते ही अंग्रेजी पुनः अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करेगी।' अंग्रेजों ने भारत तो छोड़ दिया, पर भारतीयों को वे अपनी वेश-भूषा और भाषा के मोहपाश में अभी तक कसकर बाँधे हुए हैं। आज देश में महात्मा गांधी की विचार धाराका अधिक-से-अधिक चिंतन तथा प्रचार आवश्यक है, ताकि हम अपनी खोयी हुई राष्ट्रीय भावना को पुनः प्राणवान बना सकें।

सन् १९४७ के पश्चात् जिन हिन्दी-प्रदेशों ने हिन्दी को अपनाने का संकल्प किया था, उनमें प्राचीन मध्यप्रदेश प्रमुख था। उसके मुख्यमंत्री स्व० रविशंकर शुक्ल ने प्रशासकीय तथा विज्ञान संबंधी पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कार्य हाथ में लिया था और राज-काज में हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं को प्रयुक्त करने का विधान सभा में विधेयक ही पारित नहीं कराया था, उसे सख्ती से कार्यान्वित कराने का प्रयत्न भी किया था। नये मध्यप्रदेश में अनेक कारणों

से उसकी गति कुंठित हो गई। बिहार और उत्तरप्रदेश में भी हिन्दी पूर्ण रूप से राजकार्य में विकसित नहीं हो पाई। राजस्थान में सुना जाता है, हिन्दी को अधिकाधिक अपनाया जा रहा है। केन्द्र में सरकारी कर्मचारियों की हिन्दी के प्रति उदासीनता यहाँ तक बढ़ गयी है कि वे सरकारी आदेशों की उपेक्षा करने का साहस तक करने लगे हैं, जिसका प्रमाण केन्द्रीय गृहमंत्रालय की ताजी विज्ञप्ति से मिल जाता है।

केन्द्र में पैंतालीस वर्ष से कम आयुवाले कर्मचारियों को हिन्दी सीखने का आदेश दिया गया है; पर बहुत-से कर्मचारी, जिनके लिए मंत्रालय में कक्षाएँ खोली गयी हैं, हिन्दी कक्षाओं से गायब रहते हैं और परीक्षाएँ भी टालते हैं; अतः विवश होकर केन्द्रीय शासन ने विज्ञप्ति से उन्हें आगाह किया कि सरकारी कर्त्तव्य की अवहेलना करने वालों पर अनुशासनीय कार्यवाही की जा सकती है। राष्ट्रपति के आदेश में ऐसे कर्मचारियों को परीक्षा पास न करने पर कोई दंड देने की व्यवस्था नहीं।

आज जहाँ अंग्रेजी के स्तर को ऊँचा उठाने की पुनः चर्चा की जाती है, वहाँ हिन्दी के स्तर को उठाने या उसके प्रशासकीय व्यवहार की कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न दृष्टि-गोचर नहीं होते। यदि हिन्दी भाषियों ने अपने राज्यों में ही हिन्दी का, शासकीय प्रशासकीय क्षेत्रों में शीघ्रता से प्रचार न किया, तो हिन्दी का भविष्य अंधकारमय हो सकता है।

डा० बाबूराम सक्सेना

हिन्दी की आत्मा और सहचरी के रूप में अंग्रेजी

हिन्दी के लिए कुछ काम करने और उसके प्रति विशेष अनुराग की भावना मैंने टण्डनजी से सीखी थी। सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के बाद महात्मा गांधी के निकट सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला। गांधी जी कहा करते थे कि हमें तो साक्षरता सारे भारत में फैलानी है, जिसके लिए एक सरल लिपि की बहुत आवश्यकता है। उनका यह भी कहना था कि यह काम देवनागरी द्वारा ही हो सकता है; इसलिए आप लोग देवनागरी के कार्य को आगे बढ़ाइए। हिन्दी के प्रति इतने बड़े महापुरुष की निष्ठा देखकर हमें कार्य करने की और अधिक प्रेरणा मिली और जब वर्धा में पहली गोष्ठी हुई, जिसमें मैं भी सम्मिलित हुआ, तो वहाँ मेरा काम बहुत पसन्द किया गया, जिसने मेरे अन्दर एक अजब उत्साह भर दिया और तब से आज तक मैं हिन्दी के विकास सम्बन्धी विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध रहा हूँ। सम्मेलन में मैं जब तक रहा, तो मैंने सदैव इस ध्येय से कार्य किया कि हिन्दी का काम देश का काम है, समूचे राष्ट्र-निर्माण का प्रश्न है। प्रादेशिक उच्चता का भाव एक क्षण के लिए भी मन में न आने पाए, इसके लिए विशेष सतर्क रहा; किन्तु जब आज कहा जाता है कि हिन्दी को लेकर समूचे राष्ट्र की एकता विघटित हो रही है, तो बड़ी पीड़ा होती है, एक कसकसी मन में उठती है। लगता है कि जो निश्चय हमने वर्षों पूर्व किए थे, इतने दिनों तक जो दौड़-धूप हम सबने की, त्याग तपस्या से हिन्दी के रूप को सजाया-सँवारा, वह सब खटाई में चला जायेगा; क्योंकि स्थिति ऐसी आ गयी है कि सहचरी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का पलड़ा भारी होता जा रहा है और भय है कि कहीं सहचरी भाषा ही मुख्य स्थान न ग्रहण कर ले। जब मुख्य भाषा को मौका ही नहीं मिलेगा, तो एक दिन ऐसा आ सकता है, जब यह कहा जाने लगे कि जब सारा काम अंग्रेज़ी सँभाल लेती है, तो हिन्दी की आवश्यकता ही क्या है, अंग्रेज़ी ही पढ़ाई जानी चाहिए। आखिर उत्तर प्रदेश में तीसरे दर्जे से अंग्रेज़ी के पढ़ाए जाने की व्यवस्था हो ही चुकी है। कुछ दिनों बाद लोग यह भी कहने लग जायेंगे कि जब सब लोग अंग्रेज़ी ही पढ़ रहे हैं, तो हिन्दी की क्या जरूरत ? और जब यह सोचता हूँ, तो लगता है कि दिल्ली में रहकर तकनीकी शब्दावली के निर्माण का जो काम हम लोग अभी कर रहे हैं, इसलिए कि सारी पढ़ाई हिन्दी में हो सके, वह सारा कार्य, सारा परिश्रम बेकार चला जायेगा। किन्तु, मैं अपने लम्बे अध्यापन-काल के अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि अंग्रेज़ी को अधिक अरसे तक शिक्षा के माध्यम के रूप में कायम नहीं रखा जा सकता।

कल इस सहचरी भाषा का क्या रूप होगा, किसी ने देखा नहीं। हमारे प्रधानमन्त्री ने यह रुख इसलिए अपनाया है कि किसी के मन में यह भावना न पैदा हो कि हिन्दी लादी जा रही

है; किन्तु यह दुःख की बात है कि जब सरकार ने यह निश्चय कर दिया था कि सन् १९६५ के बाद सारा काम हिन्दी में होने लगेगा, तब फिर उसे कार्यान्वित किया जाना चाहिए। सरकार इस मामले में दृढ़ता से काम नहीं ले रही है। ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति कोमलता की नीति अपनाने से नहीं हो सकती। यह ठीक है कि अहिन्दी भाषा-भाषियों पर कठिनाई न आए। उन्हें वैकल्पिक रूप से हिन्दी सीखनी चाहिए; पर यह दृढ़ता हमारी सरकार में नहीं, वरना आज ही इस समस्या का समाधान निकल सकता है।

संसद् की भाषा का प्रश्न आसानी से हल हो सकता है, अनुवादों की व्यवस्था से। मगर वर्तमान स्थिति बड़ी पीड़ाजनक और दुखदायी है। जो हिन्दी में प्रश्न करता है, उसे अंग्रेज़ी में जवाब दिया जाता है और यदि वह उत्तर हिन्दी में चाहता है, तो उसे सम्प्रदायवादी कह कर एक अजीब घृणा की भावना से देखा जाता है। हमारे मन्त्रियों एवं सचिवों को चाहिए कि वे हिन्दी में बोलें। प्रतिवर्ष उनकी तालिका तैयार की जानी चाहिए और तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए कि पिछले वर्ष से इस वर्ष हिन्दी का कितना कार्य आगे बढ़ा। मगर ये सारे कार्य दृढ़ता के बिना नहीं हो सकते।

अन्तर-प्रादेशिक व्यवहार में केन्द्रीय सरकार हिन्दी के प्रयोग पर ज़ोर दे सकती है। यह मान लीजिए कि तमिलनाड और बंगाल अभी तुरन्त हिन्दी को व्यवहार की भाषा नहीं बना सकते, तो गुजरात और महाराष्ट्र की सरकारें तो कर सकती हैं। इस सब की प्रगति की भी एक तालिका रखी जानी चाहिए, जिससे हिन्दी के कार्य को प्रोत्साहन मिले। न्याय के क्षेत्र में भी तक-नीकी शब्दावली का निर्माण हो रहा है। उस क्षेत्र में भी हिन्दी का व्यवहार होना चाहिए। आखिर प्रलयकाल तक यह सहचरी भाषा तो नहीं चलायी जा सकती। अभी हिन्दी के सम्मुख एक संघर्ष-काल सा ज़रूर दिखता है, किन्तु दृढ़ता से काम लिया जाय, तो चीज़ आगे ज़रूर बढ़ सकती है।

●

डा० रामविलास शर्मा

हिन्दी भाषी राज्य तो हिन्दी को अधिकाधिक अपनायें ही

हम हिन्दी-भाषियों में अधिकांश जनों की धारणा यही है कि हिन्दी यदि अभी तक राष्ट्र-भाषा नहीं हो पायी, तो इसका मुख्य कारण अहिन्दी भाषियों का अंग्रेज़ी-प्रेम अथवा हिन्दी-विरोध है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर जो लेख निकलते हैं उनसे यह प्रकट नहीं होता कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सर्वाधिक उत्तरदायित्व हमारा है और हम उसे निबाह नहीं पा रहे हैं।

हमारे देश में एक पूरा वर्ग है, जो राष्ट्रभाषा के पद पर अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित रखना चाहता है। यह वर्ग किसी प्रदेश विशेष में सीमित नहीं है, वरन् सारे देश में फैला हुआ है। अमर-वेलि की तरह वह विशाल हिन्दी-भाषा-प्रदेश में भी फैला है। आये दिन अपने प्रदेश के शिक्षित-जनों के व्यवहार में हम अंग्रेज़ी का यह महत्त्व देख सकते हैं। हिन्दी-भाषी प्रदेश में इस वर्ग के लोग उतने मुखर नहीं हैं, जितने उनके सहयोगी अन्य प्रदेशों में हैं। फिर भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभी प्रदेशों के अंग्रेज़ी-प्रेमी एक दूसरे की सहायता करते हैं।

देश-रक्षा का महत्त्व भी अंग्रेजी में

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में भावात्मक एकता पर राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के नेताओं ने भाषण किए, अनेक शिक्षा-संस्थाओं में परिसंवाद आयोजित किए गए। आगरा और मेरठ की दो ऐसी गोष्ठियों में मैंने देखा कि अधिकांश भाषण अंग्रेज़ी में हुए। ये नेता गण अवश्य ही मन में सोचते होंगे कि अंग्रेज़ी ही उनके उच्च विचारों का वाहन बन सकती है। अंग्रेजी के द्वारा ही वे देश में राष्ट्रीय एकता दृढ़ कर सकते हैं। अभी पिछले दिनों चीनी आक्रमण के विरोध में विद्यार्थियों की सभाओं में अध्यापकों के प्रोत्साहन-प्रद भाषण भी अंग्रेज़ी में हुए। यदि हमारे प्रदेश के शिक्षा विशारद भी नवयुवकों को देश-रक्षा का महत्त्व समझाने के लिए अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं, तो अन्य प्रदेशों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग हम किस मुँह से कर सकते हैं? सभी शिक्षित जनों का व्यवहार ऐसा नहीं होता, काफी लोग ऐसे हैं, जो ऐसे अवसरों पर सचेत ढंग से हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि हिन्दी-क्षेत्र के शिक्षित जनों में अंग्रेज़ी का चलन आवश्यकता से अधिक है।

हिन्दी-क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में शिक्षा का सामान्य माध्यम अंग्रेज़ी है। कुछ विषयों में जहाँ तहाँ हिन्दी-द्वारा शिक्षण भी होता है; किन्तु कुल मिला कर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी

का स्थान गौण है। अंग्रेज़ी का स्थान प्रमुख है। इसी प्रकार शासन-संस्थाओं की कार्यवाही में अंग्रेज़ी का व्यवहार प्रचुर मात्रा में होता है। जब तक उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश की शासन-संस्थाओं में अमली रूप से हिन्दी राजभाषा नहीं बन जाती, तब तक समूचे देश में उसका राष्ट्रभाषा बनना स्वप्नवत ही रहेगा।

हिन्दी भाषी प्रदेश के शिक्षित जन बंगाल या तामिलनाड के लोगों पर अक्सर भाषागत संकीर्णता या प्रान्तीयता का दोष लगाते हैं। वास्तविकता यह है कि बंगाल या तामिलनाड के शिक्षित जन अपनी भाषा से जितना प्रेम करते हैं, उतना हम नहीं करते। अन्य प्रदेशों के शिक्षित जन यदि अपने यहाँ के साहित्य से अपरिचित हों, तो उन्हें शर्म आएगी। हमारे प्रदेश के शिक्षित जन हिन्दी-साहित्य से अपरिचित होने में गर्व का अनुभव करते हैं। अपने अज्ञान पर गर्व करते हुए वे पिछले तीस वर्षों से लगातार एक ही प्रश्न दुहराते हुए चले आए हैं—हिन्दी में है ही क्या ?

हिन्दीभाषी प्रदेश की जनता से वोट लेना और उसकी भाषा और साहित्य को गालियाँ देना कुछ नेताओं का दैनिक व्यवसाय है। हमारे प्रदेश के शिक्षित जनों में जातीयता की भावना की कमी है, वे हिन्दी के प्रति उदासीन हैं, इसलिए वे कुछ राजनीतिज्ञों की अपमानजनक बातों का समुचित उत्तर नहीं दे पाते। यहाँ का राजनीतिज्ञ राजनीति के अलावा अंग्रेज़ी-भक्ति में जनता का नेतृत्व करता है। अंग्रेज़ी में जितनी पुस्तकें केवल उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञों ने लिखी हैं, उतनी शेष भारत के सारे राजनीतिज्ञों ने नहीं लिखी। अन्य प्रदेशों के नेताओं ने एक पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी, तो दो अपनी भाषा में लिखीं। यहाँ का राजनीतिज्ञ यदि देवनागरी में हस्ताक्षर कर दे, तो समझता है कि उसने हिन्दी को कृतार्थ कर दिया।

यह किसी नेता विशेष का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है एक समूचे अंग्रेज़ी प्रेमी वर्ग का, जो प्रदेश का शासक है या शासक बनना चाहता है। राजनीतिज्ञ इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। एक नेता हट जायगा, तो दूसरा आ जायगा; क्योंकि उसे जन्म देने वाला वर्ग मौजूद है। इसीलिए हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता है। हिन्दी प्रचार द्वारा शिक्षित जनों का दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है, उनके सामाजिक व्यवहार में, सांस्कृतिक जीवन में, शिक्षा संस्थाओं के अन्तर्गत उनकी कार्यवाही में अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने की आवश्यकता है।

अपनी ही भाषा सब कुछ नहीं है !

मिथ्या जातीय अहंकार हानिकर होता है। अपनी भाषा और साहित्य को ही श्रेष्ठ समझना और दूसरों के भाषा और साहित्य को सदा हीन समझना मूर्खता है; किन्तु जातीय भावना से हीन होकर 'वसुधैव कुटुंबकम्' का मंत्र जपना भी कोई बहुत बड़ी बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं है। हमारा राष्ट्र अनेक भाषाएँ बोलने वाली जातियों से मिल कर बना है। राष्ट्रीय एकता के लिए इन जातियों की एकता आवश्यक है। सभी जातियाँ मिल कर राष्ट्र को दृढ़ करें। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक जाति अपने भीतर दृढ़ हो, अपने आप में एकताबद्ध हो। कोई भी जाति अपने भीतर शिथिल हो कर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने में उचित योग नहीं दे सकती।

हिन्दीभाषी जाति विभिन्न राज्यों में बँटी हुई है। हिन्दीभाषी प्रदेश की सीमाएँ अनिश्चित हैं। यही नहीं, भाषागत विवाद यहाँ जितने हैं, उतने किसी अन्य प्रदेश में नहीं हैं। दूसरी

जगह विवाद होगा तो बँगला, असमियाँ या गुजराती मराठी जैसी दो भिन्न भाषाओं को लेकर। यहाँ के विवाद एक ही भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

मिथिला के कुछ राजनीतिज्ञ हिन्दी को अपनी जातीय भाषा नहीं मानते। पिछले चुनाव में उन्होंने राजनीतिक प्रचार के पर्चे मैथिल और उर्दू में छपवाए। हिन्दी का बहिष्कार किया। भोजपुरी क्षेत्र में जन्म लेने वाले कुछ हिन्दी के आचार्य भाषा-विज्ञान पर ग्रंथ लिख कर यह सिद्ध करते हैं कि भोजपुरी हिन्दी से स्वतंत्र भाषा है। जिन्हें हम हिन्दी की बोलियाँ कहते हैं, उनके क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार आवश्यक है, जिससे वहाँ के शिक्षित जनों का वह भाग, जो अपनी बोली को स्वतंत्र भाषा मानता है, जातीय भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करे। जब तक साधारण जनता के सामने यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हिन्दी प्रदेश की सीमाएँ कौन-सी हैं, उसमें कौन-सी बोलियों का चलन है, उन्हें अब स्वतंत्र भाषा न मानना चाहिए, तब तक समूचे देश में तथा अपने ही प्रदेश में हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए यह विशाल जनता सक्रिय नहीं हो सकती। हिन्दी-प्रचार का एक लक्ष्य होना चाहिए, जातीय प्रदेश का गठन, उसमें सर्वत्र जातीय भाषा के रूप में हिन्दी का चलन।

जातीय भाषा और राष्ट्र भाषा में अन्तर

जातीय भाषा और राष्ट्रभाषा में अन्तर है। महाराष्ट्र, बंगाल या तमिलनाड के लोगों की जातीय भाषा मराठी, बंगला या तमिल है, हिन्दी नहीं। हिन्दी इन लोगों की राष्ट्रभाषा है, जो पारस्परिक आदान-प्रदान का माध्यम बनती है। हिन्दीभाषियों के लिए हिन्दी जातीय भाषा है। जातीय भाषा होने के साथ-साथ हम हिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी राष्ट्रभाषा भी है। मिथिला के कुछ शिक्षित जन हिन्दी को राष्ट्रभाषा तो मानते हैं; किन्तु अपनी जातीय भाषा नहीं मानते। मराठी के समान वे मैथिल को हिन्दी से स्वतंत्र भाषा मानते हैं।

अनेक हिन्दी-भाषी अंग्रेजी-प्रेमी विद्वान् इसी तर्क का आश्रय लेते हैं और कहते हैं कि हिन्दी अपने ही क्षेत्र में दूसरों पर लादी गयी भाषा है। वे प्रचार करते हैं कि ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी आदि सब स्वतंत्र भाषाएँ हैं, जिन पर कृत्रिम साहित्यिक हिन्दी जबरदस्ती लादी गयी है। ये लोग भूल जाते हैं कि इंग्लैण्ड, रूस, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन आदि भाषाओं की वैसी ही बोलियाँ हैं, जैसे हिन्दी की। इन सब भ्रांतियों के निवारण के लिए हिन्दी-भाषी प्रदेश में हिन्दी-प्रचार आवश्यक है।

हिन्दी-उर्दू समस्या को अधिकांश हिन्दी-प्रेमी भूल से गये थे। रेडियो द्वारा हिन्दी के सरलीकरण ने उन्हें नींद से जगा दिया। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी के तमाम लेखक अपनी भाषा को कठिन बनाते रहे, जिससे जनता उनका साहित्य समझ न पाये, अब उस हिन्दी को सरल बनाने का बीड़ा उठाया है आकाशवाणी ने। यह सरलीकरण का प्रश्न उस समय उठाया गया, जिस समय अंग्रेज़ी को अनिश्चित काल के लिए राजभाषा घोषित किया गया। हिन्दी-उर्दू के झगड़े में फिर से जान डाल कर राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेज़ी को नवजीवन दान दिया गया।

हिन्दी के कुछ विद्वान् मानते हैं कि मुसलमानों की भाषा उर्दू है, जो हिन्दी से स्वतंत्र है। बंगाल के मुसलमानों की बँगला से स्वतंत्र कोई भाषा क्यों नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर वे नहीं देते।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे देश की श्रमिक जनता में कहीं भी, क्या धर्म के आधार पर भाषागत विभाजन दिखाई देता है? कानपुर, लखनऊ, पटना आदि के हिन्दू-मुसलमान, मजदूर आपस में एक ही सामान्य भाषा का व्यवहार करते हैं। जो लोग हिन्दुओं और मुसलमानों की दो भाषाएँ मानते हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मूलतः दो भाषाएँ मानते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भाषा की आधार-भूमि कोटि-कोटि श्रमिक जनता है, न कि मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग।

हिन्दी भाषी जनता की शक्ति अपार है; किन्तु वह असंगठित और बिखरी हुई है। हिन्दी भाषियों के जातीय हित में इस शक्ति को संगठित करना आवश्यक है। समूचे राष्ट्र को एकता-बद्ध और दृढ़ करने के लिए हिन्दीभाषी जाति की एकता आवश्यक है। इस एकता के मार्ग में पहला बाधा है अंग्रेज़ी-प्रेम। दूसरी बाधा है आंचलिक बोलियों को स्वतंत्र भाषा मानने की भ्रान्ति। तीसरी बाधा है हिन्दी-उर्दू प्रेमियों का दो खेमों में बाँट कर जातीय संस्कृति को कमजोर करना। इन तीनों बाधाओं के फलस्वरूप अपनी जातीय शक्ति के उपयोग द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के अपने उत्तरदायित्व को हम निबाह नहीं पाते।

यदि समस्त हिन्दीभाषी प्रदेश में शिक्षा-संस्थाओं, न्यायालयों, राजकीय कार्यों में हर स्तर पर हिन्दी का व्यवहार होने लगे, यदि विधान परिषदों के सदस्य प्रतिज्ञा करें कि वे अपना सार्वजनिक कार्य हिन्दी में ही करेंगे, यदि लोकसभा के सदस्य तय कर लें कि वे राजभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करेंगे, तो क्या इसमें किसी को सन्देह हो सकता है कि समूचे राष्ट्र का वातावरण बदल जायेगा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनते जरा भी देर न लगेगी?

हम हिन्दीभाषी किसी पर हिन्दी लादना नहीं चाहते। जो अंग्रेज़ी ही बोलना पसन्द करे, उससे जबरदस्ती हिन्दी बुलवाना नहीं चाहते; किन्तु हमें भी अंग्रेज़ी बोलने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता। लोक-सभा व राज्य-सभा के वे सदस्य और मंत्री, जो हिन्दीभाषी प्रदेश से चुने गए हैं, जिस दिन तै कर लेंगे कि अंग्रेज़ी के बदले हिन्दी का ही प्रयोग करेंगे, उसी दिन हिन्दी व्यवहारतः राष्ट्रभाषा बन जायगी। यदि ऐसा नहीं होता, तो कमजोरी हमारी है। हमें हिन्दी-प्रचार द्वारा स्वयं अपने प्रदेश की जनता को जागृत करना चाहिए। हमें अपने प्रदेश की जनता को जागृत करना है, अपने प्रदेश के नेताओं में हिन्दी की उपेक्षा दूर करनी है, स्वयं अपने प्रतिनिधियों को बाध्य करना है कि वे राजकाज में और सर्वत्र हिन्दी का व्यवहार करें। इस तरह के प्रचार और संगठन द्वारा ही अपनी जातीय शक्ति के अनुरूप हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का अपना गहन उत्तरदायित्व पूरा कर सकते हैं।

अमृतलाल नागर

हिन्दी और मध्यम वर्ग का विकास

समय निकल जाता है, पर बातें रह जाती हैं। वे बातें, मानव पुरखों के पुराने अनुभव, जीवन के नए-नए मोड़ों पर अक्सर बड़े काम के होते हैं। उदाहरण के लिए भारत देश की समस्त राष्ट्रभाषाओं के इतिहास पर तनिक ध्यान दिया जाए। हमारी प्रायः सभी भाषाएँ किसी न किसी एक राष्ट्रीयता के शासनतंत्र से बँध कर उसकी भाषा के प्रभाव या आतंक में रही हैं। हजारों वर्ष पहले देववाणी संस्कृत ने ऊपर से नीचे तक चारों खूँट भारत में अपनी दिग्विजय का झंडा गाड़ा था। फिर अभी हजार साल पहले उसकी बहन फारसी सिंहासन पर आई। फिर कुछ-सौ बरसों बाद सात समुद्र पार की अंग्रेजी रानी हमारे घर में अपने नाम के डंके बजवाने लगीं। यही नहीं, संस्कृत के साथ कहीं-कहीं समर्थ जनपदों की बोलियाँ भी दूसरी भाषाओं को अपने रोब में रखती थीं। प्राचीन गुजराती भाषा पर ब्रजभाषा का भी गहरा प्रभाव था। बँगला भाषा, उड़िया और असमिया पर रोब रखती थी। मलयालम कभी तमिलभाषा की दबोच में थी। यह सब भी चलता था। मैं समझता हूँ कि शायद इसी की ऊब, आजादी की नई चेतना में अब भारत के हर भाषा-क्षेत्र के शिक्षित जनों और उनके प्रभाव से अर्थाभावग्रस्त चिड़चिड़े जनसाधारण में गहरी घुटन-सी फूट रही है। भारत की हर भाषा, हर बोली अब अपनी स्वतंत्र स्थिति चाहती है। स्थिति यह है कि इस समय हर व्यक्ति बस स्वतंत्र होना चाहता है, 'स्व' से 'तंत्र' का संबंध और उसका करतब समझे बिना ही।

अंग्रेज जानता था कि भारतीय शिक्षा-पद्धति को तोड़ना भारत-भारती की अब तक की सकुशल अखण्ड प्रतिमा को खंडित करना है। सैकड़ों सदियों से लगे सुव्यवस्थित ज्ञान-बगीचे को उन्होंने अज्ञान का बीहड़ जंगल बना दिया। हमारी परम्पराएँ छिन्न-भिन्न करके उन्होंने हमें जंगली बना देने का भरसक प्रयत्न किया।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने की है—भारत अनेक राष्ट्रीयताओं और जातियों-उपजातियों का देश है। इनमें आपस में राजनीतिक स्वार्थवश सदा से फूट और वैर-भाव भी रहा है। ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग, इनके आपस के मत-मतान्तर जब जन समुदायों में अपनी ताजगी लेकर आते हैं, तब तो उनमें महाभाव जगा कर एकता लाते हैं, उन्हें सभ्य बनाते हैं, पर जब वे रूढ़ होकर लौकिक स्वार्थों अर्थात् एल० एम० बी० (लूटो मारो भाई) के प्रभाव में आ जाते हैं, तब अपनी असलियत खोकर बैर और फूट बढ़ाने के कारण भी बन जाते हैं। भारतीय शिक्षा-पद्धति, तीर्थ-यात्रा के आकर्षण से साधु-संन्यासियों का परिभ्रमण पौराणिक कथाओं की एकसूत्रता इस फूट

को बराबर जोड़ती भी रहती थी। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, भारत के किसी भी कोने में उत्पन्न होने वाले महापुरुष सारे भारत को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे। अंग्रेजों ने हमारी शिक्षा-पद्धति को उजाड़ कर हमारी एकता के उस सूक्ष्म तंतुजाल को काटना चाहा, लेकिन इस महादेश पर शासन करने के लिए उन्हें दफ्तरी कारिन्दों की आवश्यकता भी थी। कहाँ से लाएँ? राजकाज यहाँ की भाषाओं में चलाएँ या अंग्रेजी भाषा में? मैकाले ने सन् १८३५ ई० में यह फतवा दिया कि ऊँची श्रेणी के भारतीयों को अंग्रेजी में शिक्षा देकर उसका एक ऐसा वर्ग बनाना चाहिए, जो रंग और खून से तो हिन्दुस्तानी हो; पर जो रुचि, मतों, शब्दों और बुद्धि से अंग्रेज हो। हमारे देश में बहुत-से लोग यह समझने और मानने लगे हैं कि अंग्रेजी ही हमारी इस व्यापक राष्ट्रीय एकता का कारण है, लेकिन मेरी विनम्र समझ में उनका यह मत ठीक नहीं। नया ही सही, पर अंग्रेजों की अशिक्षा प्रसार-नीति के बाद शिक्षा-प्रसार का यह माध्यम पुरानी भारतीय सभ्यता को, हमारी भावनात्मक एकता को पुनर्प्रतिष्ठित करने में तत्काल ही सहायक हो गया। अंग्रेजी पढ़कर भारत में एक नया काला अंग्रेज तैयार तो हुआ, पर ठीक-ठीक अंग्रेजी सरकार की धारणा के अनुसार सभी अंग्रेजी पढ़ने वाले ऐसे न बने। अंग्रेजी के अध्ययन ने उन्हें उनका पुराना और विदेशों का नया ज्ञान-वैभव प्रदान करके कट्टर भारत भक्त, स्वतंत्रता-प्रिय, न्यायी और विवेकशील बना दिया। ये भारतीय ही हमारे नए राष्ट्र-निर्माता बने। हमारा आधुनिक मध्यमवर्ग इन्हीं अंग्रेजी पढ़े-लिखे, स्वस्थचेता भारतीयों और काले अंग्रेजों का है। स्वस्थचेता अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों ने अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को नए सिरे से उठाया, उसमें उन्होंने साहित्य-रचना करनी आरम्भ की, सामाजिक वैचारिक आंदोलनों को मातृभाषा के माध्यम से जनमानस में आंदोलित किया, नई वैज्ञानिक शक्तियों का माहात्म्य बखाना। हमारे हिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी एक नया युग आरम्भ हुआ।

सन् १९१० ई० में जस्टिस कृष्णस्वामी ऐयर ने कहा था—"जब उत्कृष्ट लेखक देशी भाषाओं के साहित्य की पूर्ति कर रहे हैं और उन सब देशी साहित्यों का उद्गम प्राचीन आर्य साहित्य है, तब क्या एक भाषा की सम्पत्ति को दूसरी के पास पहुँचाना आवश्यक नहीं?......अब हम यदि किसी एक लिपि को ग्रहण करना चाहें, तो.....एक ओर अरबी लिपि है, जिसे यदि सब नहीं, तो अधिकांश मुसलमान अपने संकीर्ण जातीय ममत्वके वशीभूत होकर अपनाए हुए हैं। कुछ लोग रोमन अक्षरों को उपयुक्त बतलाते हैं। फिर देवनागरी लिपि है, जिसमें हिन्दी और प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं की जड़ संस्कृत लिखी जाती है। अरबी लिपि तो इस कारण तिरस्कृत है कि वह अपूर्ण भी है और उसमें व्यर्थ के अक्षरों की भरती है।.....मुझे इस विषय के अच्छे ज्ञाता श्री सैयद अली बिलग्रामी का यह निश्चित मत सुनाया गया है कि अरबी लिपि भारतीय लिपि होने के योग्य नहीं। रोमन अक्षरों के विषय में इतना निश्चित है कि लोगों के जातीय भाव को धक्का लगेगा। ऐसी स्थिति में क्या मेरी यह प्रार्थना निष्फल होगी कि देश के हित के लिए नागरी अक्षरों का व्यवहार स्वीकार करें।" जस्टिस कृष्णस्वामी ऐयर या बाबू शारदाचरण मित्र या राजर्षि टण्डन 'नागरी फैनेटिक' नहीं, बल्कि देश और अपनी संस्कृति के प्रेमी थे। उनके पुरखे सौ से भी अधिक वर्षोंसे राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी नागरी को बढ़ावा दे रहे थे। राजा राममोहन राय देश के लिए अखबार निकालने बैठे, तो केवल अंग्रेजी भाषा और रोमन अक्षरों से ही उनका मन न भरा, हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों को भी अपनाया। बंकिमचन्द्र

चट्टोपाध्याय, दयानन्द सरस्वती, लोकमान्य तिलक आदि भी अपनी भारतीय निष्ठा के कारण ही हिन्दी नागरी को बढ़ावा दे रहे थे। यही कारण है कि हिन्दी का विकास कई दिशाओं से हो रहा था और भारतेन्दु को अपने 'हिन्दी भाषा' नामक ग्रंथ में संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी शब्दों के न्यूनाधिक प्रयोग और उच्चारण विभेद से हिन्दी के बारह भाग करने पड़े। अधखिला फूल की भूमिका में हरिऔध जी ने इसका हवाला देते हुए 'अधिक संस्कृत शब्द युक्त हिन्दी, 'शुद्ध हिन्दी' अधिक फारसी शब्द युक्त हिन्दी, 'बगालियों की हिन्दी, अंग्रेजों की हिन्दी' आदि विभाग गिनाए हैं।

यह हिन्दी और देवनागरी लिपि नए भारतीय मध्य वर्ग के प्रयत्न से पुराने भारतवासियों के समाज में वैचारिक क्रांति ला रही थी। विधवा विवाह हो, बाल-विवाह न हो, धर्मान्धता से मुक्ति मिले, अपनी भाषा और संस्कृति के लिए प्रेम बढ़े, राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति लाई जा सके—इसलिए हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में बढ़ावा दिया जा रहा था, कुछ हिन्दी फैने-टिसिज्म बढ़ाने के लिए नहीं। जिस तरह से अहिन्दी भाषी बौद्धिक लोग राष्ट्र की भावनात्मक एकसूत्रता के लिए हिन्दी नागरी की ओर बढ़ रहे थे, उसी तरह हिन्दीभाषी बुद्धिचेता जनता भी बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के नए साहित्य की ओर शुरू ही से उन्मुख हो रही थी। उत्तर भारत का पुराना देशवासी अपनी परम्पराओं के प्रति आस्था पाने के लिए ही भारत की दूसरी भाषाओं के साहित्य से बँध रहा था। उसके क्षेत्र में फलने-फूलने वाली, उसकी अपनी ही एक बोली की विदेशी शैली के साहित्य यानी उर्दू से उसे यह आस्था नहीं मिलती थी। यही कारण था कि लखनऊ, रानीकटरा निवासी पण्डित रतननाथ दर 'सरशार' के मुहल्ले वाले हो कर भी पंडित रूपनारायण पाण्डेय हिन्दी और बँगला भाषाओं के बीच की एक महान कड़ी बने। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन देश भर के हर भाषा क्षेत्र में सफलता-पूर्वक सम्पन्न होते रहे। और यही कारण है कि दक्षिण में एक हिन्दी प्रचार सभा ने पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों में अपनी सफलता का एक चमत्कारिक इतिहास बनाया है। यह हिन्दी भला 'फैनेटिक' बना सकती है ? हाँ, यह हिन्दी अटूट लगनवाले, राष्ट्रप्रेमी मानव मात्र के सच्चे प्रेमियों का सुदृढ़ आस्था वाला समाज अवश्य बना सकती है। और यदि अटूट लगन और सुदृढ़ आस्था 'फैने-टिसिज्म' शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत ही आते हों, तो हम कुछ नेता बाबुओं को बाँधे हुए हल्के के अनुसार अवश्य ही हिन्दी फैनेटिक है और इसी में अपना गौरव बोध करते रहेंगे। हमारी भाषा और समाज का विकास भी इसी ढंग पर निर्भय निःशंक होता रहेगा।

●

रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकार

हिन्दी सीखने में विलम्ब क्यों?

राष्ट्र-प्रेमी को राष्ट्रभाषा-प्रेम होना ही चाहिए

मैं राष्ट्रप्रेमी हूँ, इसलिए सब राष्ट्रीय चीजों का, सब राष्ट्रवासियों का प्रेमी हूँ तथा राष्ट्रभाषा का भी। मैं राष्ट्र का प्रेम, राष्ट्र के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न लोगों का प्रेम और राष्ट्रभाषा का प्रेम इसमें कुछ फर्क नहीं देखता हूँ। जो राष्ट्र प्रेमी है, उसे राष्ट्रभाषा-प्रेमी होना ही चाहिए। नहीं तो कुछ हद तक राष्ट्रप्रेम अधूरा ही रहेगा। भाषाओं की माता संस्कृत और राष्ट्रभाषा हिन्दी इन दोनों के सिवाय भी हमारे राष्ट्र में बहुत-कुछ भाषाएँ हैं। लिपिबद्ध और ग्रंथस्थ जो भाषाएँ इस देश में हैं, उनमें ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो दो हजार वर्ष से भी पुरानी हैं। उनमें साहित्य भी बहुत प्रौढ़, उदात्त और प्रगतिशील है; लेकिन अभी हमने हिन्दी को राजभाषा व राष्ट्रभाषा मान लिया है। इसका अर्थ यही है कि जो दूसरी पुरानी भाषाएँ हैं, उन्होंने अपने-अपने प्रान्त में अपना-अपना स्थान, रखते हुए हिन्दी के छोटी बहन होने पर भी, उसको बड़ी बहन का स्थान और मान देने का निश्चय किया है। अखिल भारतीय प्रतिनिधियों का यह फैसला अभी संविधान में स्थिर हो गया है।

हिन्दी परकीय नहीं है, क्योंकि यह संस्कृतजन्य और संस्कृत-पुष्ट है

हमारे सौभाग्य से भारतवर्ष में खानपान की, पहनाव की, भाषा की, रहन-सहन की, जलवायु की, वर्ण और जाति की कितनी भी भिन्नता हो, मौलिक विचारों, मूल संस्कृति में भारी एकता स्पष्ट है। बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता यही भारतीय संस्कृति का एक मुख्य लक्षण माना जा सकता है; इसलिए हिन्दी भाषा का प्रसार और प्रचार होने में तात्त्विक दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ नहीं होनी चाहिए। सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी भाषा की रचना, वाक्य-विन्यास, उपमा, अलंकार, मुहावरे, शब्दकोश इत्यादि हमें परकीय--जैसे नहीं लगते। अंग्रेजी के बारे में हम यह नहीं कह सकते। हिन्दी हिन्द की, हिन्दीयों की भाषा है। वह संस्कृतजन्य और संस्कृत-पुष्ट है। वह कैसे परकीय हो सकती है? हिन्द तो आज काश्मीर से कन्याकुमारी तक एकमेव राज्य है। विशाल और सनातन हिन्द के अन्तर्गत जो जातियाँ या धर्मपंथ हैं, वे परस्पर को परकीय नहीं मान सकते। वे सब भाई बहने जैसे वा पड़ोसी जैसे हैं। उनको परकीय मानना यह एक बड़ा पाप होगा।

भाषा और साहित्य का संबंध

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक प्रवृत्ति है, लेकिन राष्ट्रभाषा का

विषय हिन्दी-साहित्य से भी बहुत व्यापक है। भाषा बुनियादी चीज है। साहित्य उसका एक रूप है। भाषा में साहित्य का समावेश हो सकता है, लेकिन साहित्य में भाषा का समावेश नहीं हो सकता। भाषा जब कला का रूप धारण करती है, तो साहित्य कहलाती है। भाषा मानवता का विकास करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। यदि भाषा न होती, तो मनुष्यों के विचारों और भावनाओं का विकास, प्रसार और प्रचार न होता। गणितशास्त्र का विकास जैसे अंकों के जरिए हुआ, वैसे ही संस्कृति और सभ्यता का विकास भाषा के सहारे हुआ है। यदि हमें राष्ट्रीय संस्कृति का विकास करना है, राष्ट्र को संगठित करना है, तो राष्ट्रभाषा के जरिए ही वह कार्य अच्छे से अच्छा हो सकता है।

पुनरुत्थान के लिए राष्ट्रभाषा आवश्यक

भारत को स्वतंत्र हुए अभी कुछ ही समय हुआ है। स्वातंत्र्य की स्थापना के पश्चात् आज जैसा एक मौका आया है, जब भारतीय संस्कृति का केवल पुनरुज्जीवन ही नहीं, लेकिन पुनरुत्थान और पुनःप्रकाशन और पुनःप्रचार होना चाहिए। पाश्चात्य संस्कृति की अच्छी-अच्छी चीजों को भी हमें हजम कर लेना है। एक नयी संस्कृति की ओर कदम उठाना है। न केवल पंडितों में और विद्वानों में, बल्कि भारत के सभी निवासियों में एक नयी सांस्कृतिक जागृति और शक्ति का संचार होना चाहिए। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा करने में राष्ट्रभाषा बड़ी सहायता दे सकती है। इस दृष्टि से राष्ट्रभाषा का ज्यादा से ज्यादा प्रसार होने की आवश्यकता है।

हिन्दी के विकास में भारतीय भाषाओं का योग

हिन्दी का रूप जैसा भी हो, इसकी रूपरेखा संविधान की ३५१वीं धारा में स्पष्ट कर दी गयी है। उसको मान लेने में दूरदर्शिता है, चतुराई है और कार्य-साफल्य भी। भाषा की वृद्धि किस रूप में होनी चाहिए, इस विषय में कुछ-एक रेखा खींचने से कोई फायदा नहीं होगा। भारत में जितनी भाषाएँ हैं उन सबको उपरोक्त धारा में काफी स्थान है। राष्ट्रीय हिन्दी की वृद्धि के कार्य में भी भारतीय भाषाओं को एक खास अवकाश दिया गया है। इससे हिन्दीतर-भाषा-भाषी भी हिन्दी के प्रति आत्मीय-भाव से देखेंगे। मैं समझता हूँ कि अभी राष्ट्रभाषा का प्रसार ज्यादा से ज्यादा किस प्रकार होगा, इसी ओर इस समिति की दृष्टि अधिक लग जानी चाहिए। हर एक भाषा स्वभावानुसार स्वतः की वृद्धि में कुछ एक विशिष्ट नीति और खास शक्ति रखती है। जैसे कि अंग्रेजी बढ़ी, मूलतः उसको अंग्लोसेक्सन भाषा कहते थे; लेकिन उसने ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच वगैरह भाषाओं से बहुत कुछ शब्द और चीजें लीं। इतने से संतोष न मानकर आज अंग्रेजी दुनियां में जितनी भाषाएं हैं उन सबसे शब्द लेकर एक अत्यंत तेजस्वी और सर्वसंग्रही भाषा बनी है। इसीलिए उसको अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप मिला है। इसी तरह आज मूल हिन्दी भाषा को एक मौका है कि वह भारतीय भाषाओं में से अच्छी-अच्छी चीजें लेकर एक प्रभावशाली राष्ट्रभाषा और एक तेजस्वी चीज बन सकती है। श्रेष्ठ भारतीय संस्कृति का यह एक वाहन बनकर विश्व में विहार कर सकती है।

प्रचारक प्रान्तीय भाषाओं को भी सीखें।

भारत की सब भाषाओं के लिए एक ही लिपि हो जाय तो ठीक है। ऐसा कोई आन्दोलन

करना या प्रयत्न करना आवश्यक भी है। हिन्दी भाषाभाषियों को यह प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे हिन्दीतर प्रान्तों में हिन्दी के बारे में अधिक से अधिक आत्मीयता उत्पन्न हो। यह आत्मीय भाव तब उत्पन्न होगा, जब हिन्दी-प्रचारक अहिन्दीप्रान्तों में काम करते समय प्रान्तीय भाषाओं को अत्यन्त प्रेम और आदर से सीखें, अपनाएं और उनकी उन्नति के लिए भी प्रयत्न करें। चुने हुए अहिन्दी साहित्य का भाषानुवाद वगैरह कार्य बहुत तेजी से किया जाना भी आवश्यक है।

अहिन्दी-भाषियों के दिलों में हिन्दी के लिए आत्मीय भाव पैदा करने का दायित्व जैसा हिन्दी भाषा-भाषियों पर है, उसी तरह अहिन्दी भाषा-भाषियों पर भी एक बड़ा दायित्व है। वे राष्ट्र का प्रेम जितनी उत्कटता से अपने अन्तःकरण में रखते हैं, उतना ही उत्कट प्रेम राष्ट्रभाषा के लिए उन्हें रखना चाहिए। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ अपनाना बहुत सुकर है। हमारी प्रान्तीय भाषा कितनी भी अच्छी और प्रगतिशील हो, हमें यदि भारत से कुछ कहना है, भारतीय लोगों के अन्तःकरण में जा पहुँचना है, तो हमें हिन्दी में कुछ कहना होगा और लिखना होगा। आज हम अंग्रेजी से वह काम कुछ हद तक लेते हैं; लेकिन वह बहुत ही मर्यादित है। अंग्रेजी के द्वारा हम आम जनता तक नहीं पहुँचते हैं। हिन्दी केवल एक राजभाषा होकर रुकनेवाली चीज नहीं है। वह राष्ट्र की एकमेव सामान्य भाषा होने वाली है। अखिल भारतीय सभा-सम्मेलन या प्रवृत्तियों आदि सब का हिन्दी भाषा में चलने का समय नजदीक ही आ रहा है। इस बात की पूर्ण प्रतीति हमें होनी चाहिए। हम आज और कुछ वर्षों तक अंग्रेजी में काम चला सकते हैं, लेकिन हमारे राष्ट्र की भावी भाषा हिन्दी है, यह समझ लेना चाहिए। वह अंग्रेजी जैसी परकीय भाषा नहीं है, न उसमें विजेता और विजित ऐसी घृणित भावना है। संस्कृतजन्य, संस्कृत-पुष्ट, भारतीय संस्कृति से भरी हुई, ऐसी यह राष्ट्रभाषा है। उसको सीखने और बरतने में हम एक भारतीय भाषा को बढ़ाते हैं और राष्ट्र के अन्तःकरण का द्वार अपने लिए खोल लेते हैं। अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी सीखने में बहुत कम कठिनाई है। अब हम हिन्दी सीखने में विलंब नहीं कर सकते। यदि यह अच्छी बात है तो विलंब क्यों? "शुभस्य शीघ्रम्।" यह बात हमें समझ लेनी चाहिए और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में हमें हिन्दी का उपयोग तुरन्त ही शुरू कर देना चाहिए। जैसे बच्चे भाषा सीखते हैं—व्याकरण वगैरह की अपेक्षा नहीं रखते—उसी तरह अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी का अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। व्याकरण और शुद्धीकरण आप ही आप आ जायेंगे।

●

अनन्त गोपाल शेवड़े

हिन्दी के प्रति अनास्था पैदा करने में शासन का योग

आजकल हिन्दी के प्रश्न को लेकर फिर एक विवाद खड़ा हो रहा है। संविधान ने जिस प्रश्न का फैसला कर दिया था, उसे फिर एक बार उठाया जा रहा है। संसद में एक नया विधेयक पेश करने की बात चल पड़ी है, जिसके मुताबिक अंग्रेज़ी की मुद्दत अनिश्चित काल के लिए बढ़ाई जा रही है। इसका परिणाम यह होगा कि हिन्दी जो, सन् १९६५ तक राजभाषा के रूप में इस देश में प्रयुक्त होती, अब फिर पिछड़ जाएगी। इसके साथ ही आकाशवाणी की हिन्दी के 'सरलीकरण' का प्रयोग जोरों से हो रहा है। यानी जो बात तय हो चुकी थी, स्थिर हो चुकी थी, और जो लोकमान्य हो चुकी थी, उसे फिर नए सिरे से उघाड़ा जा रहा है। यह एक बड़ी चिन्ता की बात है, दुर्भाग्य की बात है।

चिन्ता इसलिए नहीं है कि इसमें केवल हिन्दी का प्रश्न सम्बद्ध है। यह केवल हिन्दी का प्रश्न नहीं है, सभी भारतीय भाषाओं की स्थिति और प्रतिष्ठा का प्रश्न है। अंग्रेज़ी राज्य के जमाने में अंग्रेज़ी भाषा ने समस्त भारतीय भाषाओं को पीछे ढकेल दिया था और उनको वास्तविक, न्याय-स्थान से पदच्युत कर दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन सब भारतीय भाषाओं की मुक्ति का पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त हो गया। पिछले दस-बारह वर्षों में इन भाषाओं की प्रतिष्ठा और सम्मान में अपार वृद्धि हुई। अन्य भाषा-भाषी लोगों को अपनी भगिनी-भाषाओं की सम्पन्नता और वैभव का ज्ञान हुआ, उनके समृद्ध साहित्य की जानकारी हुई। और इसी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पुनरुत्थान के अन्तर्गत हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय आदान-प्रदान तथा शासकीय कार्यों के संचालन के माध्यम के रूप में स्थान मिला और उसने भी खूब प्रगति की। संविधान ने १४ सितम्बर १९५० को इसी स्थिति पर मुहर लगाई और देश ने इसे स्वीकार किया। संविधान के निर्णय के बाद फिर किसी भी व्यक्ति को इस मामले में मीन-मेख निकालने की आवश्यकता नहीं थी। संविधान की पवित्रता और प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखना हमारी राष्ट्रनिष्ठा और देशभक्ति की कसौटी है। हम इसे इतना महत्त्व नहीं देते, यही दुर्भाग्य की बात है।

दुर्भाग्य की बात

दुर्भाग्य की बात यह इस तरह भी है कि हम अपनी सुलझी हुई राष्ट्रीय समस्याओं को फिर उलझा देते हैं। आज हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। चीन और पाकिस्तान का संकट है ही। यों भी हमारे देश में एक बड़ा राजनीतिक तबका है, जिसकी सैद्धांतिक सहानुभूति चीन के साथ है, और दूसरा तबका है, जिसकी मार्मिक सहानुभूति पाकिस्तान के साथ

है। और अब भाषायी विवादों को खड़ा करके भारतीय एकता की भावनाओं पर कुठाराघात किया जा रहा है। आर्थिक मामलों पर अत्यधिक जोर देने के कारण हमारे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य शिथिल होते जा रहे हैं, और निधर्मी प्रजा सत्ता के नाम पर धर्महीन समाज की रचना हो रही है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जनता अपने सांस्कृतिक मूल्यों और आस्थाओं से ही कट कर विच्छिन्न हो रही है। एक नया आर्थिक समाज स्थापन करने की कोशिश हो रही है। इस अर्थ-प्रधान समाज ने यूरोप में क्या करतब दिखाया, यह दुनिया जानती है। उस विचार-प्रणाली में उलझी हुई पश्चिमी दुनिया आज सर्वनाश, हिंसा और द्वेष के दुश्चक्र में फँसी हुई है, उसमें से बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ रही है। और एक हम हैं कि उसी मार्ग की चकाचौंध में उसी विचार-प्रणाली के पीछे भाग रहे हैं। समझ में नहीं आता कि हमारी राष्ट्रीय बुद्धि और विवेक को यह कौन-सा अभिशाप ग्रस्त कर रहा है।

सब से बड़ी परेशानी और चिन्ता की बात तो यह है कि हम अपनी समस्याओं को एक-एक करके सुलझाने के बजाय नई-नई समस्याएँ खड़ी करते जा रहे हैं, और जो समस्याएँ सुलझ चुकी हैं, उन्हें फिर नए सिरे से प्रश्न रूप में उपस्थित कर रहे हैं। बनी हुई बात को बिगाड़ रहे हैं। इसमें कितनी विशाल राष्ट्रीय शक्ति का व्यर्थ का अपव्यय हो रहा है, इसका विचार करते ही प्रत्येक तटस्थ देशभक्त की रूह काँपने लगती है।

यह राष्ट्रभाषा और राजभाषा हिन्दी की समस्या ही ले लीजिए, जो आज की ज्वलन्त समस्या है। संविधान के निर्णय के बाद उसके इन बारह वर्षों के इतिहास को देखिए—बारह वर्ष, एक तप।

गाँधी का विस्मरण

पर आज गाँधी हमारे लिए पराए हो रहे हैं। हम उनका नाम तो जोर-शोर से लेते हैं, उनके नाम के स्मारक और भवन धड़ाधड़ खड़े करते जा रहे हैं, पर उन्हें अपने दैनिक जीवन से राजकीय एवं शासकीय रीति-नीति से निष्कासित करते जा रहे हैं। आज हमारे दुःखों और समस्याओं का कारण अधिकांश में यही गांधी-दर्शन का विस्मरण या दुर्लक्ष्य है।

जब हमारा देश स्वतंत्र हुआ, तब वह राष्ट्र हो गया। प्रत्येक राष्ट्र का एक राष्ट्रीय झंडा होता है, एक राष्ट्र-गीत होता है, एक राष्ट्रभाषा होती है। ये तीनों बुनियादी बातें हैं। ये तीनों बातें—राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्र-गीत और राष्ट्रभाषा वाद-विवाद से परे हैं। पर खेद है कि हमारे देश में एक राष्ट्र-ध्वज और दो राष्ट्र-गीत हैं, तथा राष्ट्र-भाषा के बारे में आज भी कई क्षेत्रों में तिरस्कार, निरुत्साह एवं उदासीनता की भावना है। आजकल आए दिन कोई भी उठ खड़ा होता है और राष्ट्रभाषा हिन्दी पर दो-चार आक्षेप जड़ देता है। वह भले ही हिन्दी भाषा से परिचित हो न हो, वह अपनी राय दे डालता है कि वह क्लिष्ट भाषा है, उसमें श्रेष्ठ साहित्य नहीं है, उसकी शब्दावली अपूर्ण एवं अपरिपक्व है और वह राष्ट्रभाषा की जिम्मेदारी निर्वाह करने के अयोग्य है। आजकल यह फैशन-सा हो गया है कि कोई भी आदमी रास्ते चलते हिन्दी पर छींटा-कशी कर दे। यह सोचा नहीं जाता कि इससे बीस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता के दिलों को ठेस पहुँचती है, दुःख होता है। आज इस विशाल जनसमूह की भावनाओं को चोट पहुँचा कर इस

प्रजातांत्रिक युग में कौन-सा महान् विधायक कार्य हो सकता है ? कौन-सा शासकीय स्थायित्व या राष्ट्रीय स्थिरता और मजबूती का काम हो सकता है ?

यह आक्षेप अक्सर राजनीति के क्षेत्र के लोग किया करते हैं, और वे लोग करते हैं, जो राजनीति से प्रभावित है, या ऐसे नौकरी-पेशा लोग हैं, या ऐसे साहित्यिक हैं, जो शासन की छत्रछाया में चलने के लिए मजबूर हैं। राजनीति तो आज हम पर इतनी हावी हो गई है कि वह हमारे सारे साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को ही निगल जाना चाहती है। राजनीति अपने खेल खेलने के लिए दिलों को तोड़ने में विभेद की दीवारें खड़ी करने में नहीं हिचकती; पर साहित्य और संस्कृति हृदयों को जोड़ने वाली, दिलों को एक करने वाली जबर्दस्त शक्तियां हैं; पर आज राजनीति की धींगाधींगी में, वोट मांगने की उठा-पटक में, उसकी आवाज कौन सुनता है ?

राजनीति का झगड़ा

आखिर भाषा का झगड़ा असल में राजनीति का झगड़ा है। प्रजातंत्र में सत्तात्मक राजनीति प्रबल हो जाती है, और सत्ता हथियाने के नशे में चाहे जिस तरीके का अवलंबन किया जाता है। जाति, धर्म की दुहाई देकर भावनाओं को उभाड़ना सबसे सरल होता है। और यह शस्त्र सबसे कारगर तब होता है, जब सत्ताधारी लोग अपनी सत्ता का दुरुपयोग करते हैं। एक ट्रस्टी की तरह न्याय बुद्धि से करते, तो इस प्रकार राग द्वेष के खेल के लिए मौका नहीं मिलता। गांधीजी ने सत्ता को इसी दृष्टि से देखा। चरित्र-बल और कर्त्तव्य-बुद्धि को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व दिया। ग्रीक विचार-धारा में यह मत है कि दार्शनिकों के हाथ में राजसत्ता सौंपनी चाहिए। भारत में भी धर्म राज्य की यही कल्पना है कि राजसत्ता को धर्मसत्ता के नियंत्रण में, धर्म-दंड के शासन में, धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन करना चाहिए। इन कल्पनाओं की आधार-शिला चरित्र-बल और कर्तव्य-बुद्धि ही है, जो गांधीजी का मूल विचार था। उससे हम भटक गए, इसीलिए हमारी सारी समस्याएँ सुलझने की बजाए दिन ब दिन उलझती जाती हैं।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध हमें तमिलनाड और बंगाल के कुछ क्षेत्रों में दिखाई देता है, जिनमें अंग्रेजी भाषा के वातावरण में पनपी हुई पीढ़ी के लोग, जो सभी भाषा क्षेत्रों से आते हैं, अपना जोर लगा देते हैं। फिर भी तमिलनाड में हिन्दी का इतना अधिक प्रचार है, जिसकी जन-साधारण को कल्पना नहीं है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का कार्य अद्भुत है। दाँतों तले अँगुली दबाने को मजबूर करता है। और जो लोग हिन्दी का विरोध करते हैं, उसके पीछे राजनीतिक प्रेरणा अधिक है, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रेरणा कम है। फिर भी हम हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-सेवियों को सोचना है कि यह विरोध क्यों होता है। क्या हमने जाने-अनजाने उस विरोध को बढ़ाने का मौका दिया है ? इसके लिए आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता है।

समस्या और उसका भविष्य

सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा और राजभाषा घोषित होते ही हमारे कुछ कट्टरपन्थी मित्रों ने अत्यन्त एकांगी दृष्टि से ऐसी कठिन और क्लिष्ट हिन्दी का गठन किया, जिसकी घोर प्रतिक्रियाएँ हुईं। सर्वसाधारण प्रचलित शब्दों की जगह कठिन संस्कृतनिष्ठ दुर्बोध शब्दों की रचना की गई, जिसका समझना हिन्दी वालों के लिए भी कठिन हो गया, फिर अहिन्दी

वालों की बात ही क्या है। यह सच है कि इस प्रयत्न के पीछे एक वैज्ञानिक दृष्टि थी और जिन्होंने यह काम किया, वे भाषाशास्त्र के विद्वान् थे; पर सजीव भाषा तो जनता की लचीली जबान पर बैठ कर प्रवाहित होती है, जड़ पुस्तकों की टकसाल में नहीं ढलती। जिस प्रकार अंग्रेज़ी भाषा फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन, स्पैनिश, जर्मन तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के वाक्-प्रयोगों को आत्मसात कर के समृद्ध हुई है, उसी प्रकार हिन्दी भी उर्दू, अंग्रेज़ी, संस्कृत, मराठी, बंगला, तेलुगु, तमिल तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रभावों को आत्मासात कर के ही संपन्न, समृद्ध और अर्थ-व्यंजना-शील होगी। एकांगिता और कट्टरता उसे नुकसान पहुँचाएगी। और यह नुकसान हिन्दी को वास्तव में भोगना पड़ा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी तो पुण्यसलिला गंगा के प्रवाह की तरह है, जिसमें मंदाकिनी, अलकनंदा, यमुना आदि असंख्य नदियों और उप-सरिताओं का जल समाया हुआ है। यही कारण है कि वह शीघ्र-वाहिनी, तेजस्विनी और चैतन्यमयी हुई है। उसी प्रकार हिन्दी भी, भाषा-भगिनियों के भाव-वैभव और अभिव्यंजना की सामर्थ्य को अपने आपमें समेट कर ही वैभव सम्पन्न होगी। ठीक उसी तरह जैसे भारतीय संस्कृति ने ग्रीक, हूण, मुस्लिम, ईरानी, ईसाई प्रभावों एवं सभ्यताओं को आत्मसात करके अपने अद्भुत वैभव और सामर्थ्य का परिचय दिया है।

श्रेष्ठ जीवन श्रेष्ठ भाषा

अन्त में चल कर तो किसी भाषा की समृद्धि और शक्ति उसके बोलने वालों की जीवन-समृद्धि पर अवलम्बित रहती है। तेजस्वी जीवन से ही तेजस्वी भाषा और तेजस्वी साहित्य का निर्माण होता है। उस ओर हमारा बराबर ध्यान रहे और हमारा साहित्य यदि साधना और तपस्या का परिणाम हो, उसमें भारतीय आत्मा का स्पंदन झंकृत होता हो, भारत की भव्य, उदार एवं उदार संस्कृति का प्रतिबिम्ब हो, और उन शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों का आविष्कार हो, जिनके अभाव के कारण आज दुनिया लड़खड़ा रही है और तबाही के रास्ते पर खड़ी है, तो हमारा साहित्य केवल देश में ही नहीं, सारे विश्व में असर पैदा करेगा और जिस राष्ट्रभाषा में वह अभिव्यक्त होगा, वह केवल भारत की राष्ट्रभाषा और राजभाषा ही नहीं होगी, बल्कि वह विश्व की इनी-गिनी भाषाओं में मान्यता प्राप्त करेगी। हिन्दी की आज केवल राष्ट्रीय मान्यता ही नहीं है। इसी भव्य एवं विशाल पृष्ठभूमि पर हिन्दी के सेवकों को काम करना है, क्योंकि उसका भविष्य उज्ज्वल है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

●

खण्ड २

अंग्रेज़ी क्यों नहीं

डा० सम्पूर्णानन्द

अंग्रेजी सर पर ढोना डूब मरने के बराबर है

भारत जैसे बड़े देश में, जहाँ कई प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित हों, राष्ट्रभाषा का प्रश्न स्वभावतः कठिन होगा। प्रादेशिक भाषाएँ सामान्य बोलियाँ नहीं हैं, इनमें से कइयों का इतिहास कई शताब्दियों पीछे तक जाता है। उनके वाङमय भंडार में ऐसी रचनाएँ हैं, जिनका विश्व वाङमय में ऊँचा स्थान है। देश के स्वतन्त्र होने पर यह समस्या उठ खड़ी होनी ही थी कि किस भाषा को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जाय।

बहुत-से लोगों का ध्यान अंग्रेजी की ओर गया, यह परिस्थितियों को देखते हुए कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं थी। जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रगण्य थे, वह सब अंग्रेजी के ज्ञाता थे, आपस का पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में करते थे, सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय अंग्रेजी में करते थे। यहाँ ऐसी भाषा थी, जो सर्वप्रान्तीय थी। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी उससे काम लिया जाय, यह सहज भाव था। इसमें सुविधा प्रतीत होती थी; परन्तु राष्ट्रीय सम्मान का तक़ाज़ा कुछ और ही था। देश की आत्मा की पुकार यह प्रतीत होती थी कि कोई भारतीय भाषा अपनायी जाय। महात्माजी की वाणी इस पुकार का प्रतीक थी। दृष्टि हिन्दी पर गयी, इसलिए नहीं कि वह भारतीय भाषाओं में सबसे श्रेष्ठ थी, वरन् इसलिए कि उसको बोलने और समझने वालों की संख्या सबसे अधिक है।

अवधि बढ़ाना गलत था

मुझको ऐसा लगता है कि हिन्दी को चुनकर हमने भूल की। संस्कृत को चुनना था। दक्षिण के जो लोग आज हिन्दी का विरोध करते हैं, वह संस्कृत का भी विरोध करते हैं, परन्तु दक्षिण में भी संस्कृत जानने वाले विद्यमान हैं। बंगाली आदि भाषाओं के प्रेमियों को विरोध का अवकाश कम मिलता। हिन्दी के प्रति जो सपत्नीभाव है, वह संस्कृत से न होता। दूसरी भूल यह हुई कि राष्ट्रभाषा के रूप अपनाने के लिए लम्बी अवधि दी गयी। संविधान के स्वीकार होते ही पाँच साल के भीतर यह काम हो जाना चाहिए था। वाङमय आदि के क्षेत्रों में थोड़ी देर लगती, तो कोई हर्ज न होता, राजभाषा के रूप में व्यवहृत होने में कोई कठिनाई नहीं थी। लम्बी अवधि दी गयी और यह स्पष्ट हो गया कि दिल्ली के मस्तिष्क में त्वरा का भाव नहीं है। बस फिर क्या था, एक पर एक अड़चन निकलती आयी। चारों ओर से यह आवाज आती है कि जब हिन्दी राष्ट्रभाषा पद के योग्य बन जाय, तब उसे अंग्रेजी का स्थान दिया जा सकता है। योग्यता की कसौटी क्या होगी? एक दृष्टि से तो हिन्दी कभी भी अंग्रेजी की बराबरी न कर सकेगी। आज अंग्रेजी का वाङ-

मय हिन्दी से बहुत आगे हैं। यदि पाँच वर्षों में हिन्दी-अंग्रेजी दोनों में से किसी विषय पर पांच-पांच सौ पुस्तकें लिखी जायँ, तब भी अंग्रेजी में उस विषय पर बहुत सी पुस्तकें होंगी। यह अन्तर बराबर बना रहेगा। पुस्तकें इसलिए नहीं लिखी जातीं कि उनकी खपत नहीं है। विश्वविद्यालय हिन्दी को इसलिए माध्यम नहीं बनाते कि पुस्तकें नहीं हैं। इस दूषित तर्क को केन्द्रीय सरकार ने जन्म दिया है, वही तोड़ सकती है।

इंजरायल में क्या हुआ ?

हमारे सामने इजराइल का उदाहरण है। जब प्रथम महायुद्ध के बाद यह राज्य बना, तो भाषा की समस्या खड़ी हुई, विभिन्न देशों से आए हुए यहूदी विभिन्न भाषाएं बोलते थे। उनके नेताओं ने पुरानी हिब्रू (इब्रानी) भाषा को जो कहीं की भी प्रचलित भाषा नहीं रह गयी थी, पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया। उसमें सैकड़ों वर्षों में किसी साहित्य की रचना नहीं हुई थी। पर वह अपनायी गयी। आज वह उस देश की राजभाषा है, राष्ट्रभाषा है। सारा व्यवहार उसमें होता है। कोई कारण नहीं था, हमारे देश में ऐसी नीति न अपनायी जाय। यहां किसी मरी भाषा को फिर से जिलाना नहीं था, किसी नयी भाषा की सृष्टि नहीं करनी थी, अंग्रेजी के मोह ने हाथ थाम लिया।

इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि हमारे लिए अंग्रेजी ही "लिंक लैंग्वेज" हो सकती है। एक प्रदेश को दूसरे से और भारत को दूसरे देशों से मिलानेवाली कड़ी बन सकती है। यह ठीक है कि अंग्रेजी को कड़ी मानने में कुछ सुविधा है। विश्व का ज्ञान हमारे लिए खुल जाता है। परन्तु यही बात फ्रेंच, जर्मन या रूसी में है। हम अंग्रेजी पढ़ते आए हैं, इसको आगे भी पढ़ने की सुविधा हो सकती है। दूसरे देशों में भी लोग कोई न कोई विदेशी भाषा पढ़ रहे हैं; परन्तु उसका ज्ञान कहाँ तक अनिवार्य बनाना चाहिए, इसमें मतवैभिन्य हैं। भारतीय विद्यार्थी यूरोप जाते हैं और तीन महीनें में फ्रेंच, जर्मन या रूसी भाषा का इतना ज्ञान अर्जित कर लेते हैं कि वहाँ पढ़ सकें। ऐसी दशा में भारत में क्यों कठिनाई पड़नी चाहिए ? हिन्दी कड़ी बन सकती है, फिर एक प्रदेश के रहनेवाले विद्यार्थी को यदि पढ़ने के लिए दूसरे प्रदेश में जाना पड़ा, तो वहां की भाषा तीन चार मास में सीख जाएगा।

देश के लिए लज्जा की बात

अब यह तय होने जा रहा है कि अंग्रेजी का पद चिरस्थायी कर दिया जाय। वह सदा के लिए हिन्दी के साथ-साथ सहकारी भाषा के रूप में बनी रहे। मैं यही कह सकता हूँ कि यह देश के लिए लज्जा की बात है। हिन्दी से सबको चिढ़ है, तो कोई दूसरी भाषा को उसका स्थान दे दिया जाय; परन्तु अंग्रेजी को सिर पर ढोना तो डूब मरने के बराबर है। हमको बाहर वाले क्या कहते होंगे ? अंग्रेजी को इस प्रकार प्रतिष्ठित करने का अर्थ यह होगा कि हिन्दी कभी भी राष्ट्र की भाषा न हो सकेगी। उसकी उन्नति रुक जायगी। अब भी प्रगति धीमी है, फिर भी यह आशा बँध रही है कि स्यात् अनतिदूर भविष्य में वह एकमात्र राष्ट्रभाषा बन ही जाय। जब यह लक्ष्य ही हट जाएगा, तो फिर किस उद्देश्य को सामने रखकर प्रयत्न किया जायेगा ?

हिन्दी पर कठिनता के नाम पर निरन्तर प्रहार होता रहता है। जो लोग हिन्दी नहीं जानते, वह इस बात के निर्णायक बन बैठते हैं कि भाषा सरल, सुबोध है या नहीं। इन महापुरुषों का

कुछ ऐसा विचार है कि भाषा-क्षेत्र में काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मान लिया जाय कि सरकारी कामों में, रेडियो में जिस भाषा का व्यवहार होता है वह कठिन है। वह कम से कम १०-१२ सालों से चल रही है। यदि पहले उसको समझने वाले बहुत कम रहे होंगे, तो अब ऐसे लोगों की संख्या बहुत बढ़ गयी होगी। किसको लक्ष्य करके सरलीकरण किया जायेगा? रेडियो सुननेवाले दिल्ली में ही नहीं रहते। अपने घरों पर रेडियो सुनने वाले और रखनेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। सामुदायिक रेडियो-केन्द्रों की संख्या बढ़ती जाती है और साथ-साथ शिक्षा-संस्थाओं से हिन्दी पढ़कर निकलनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। और ऐसे समय में कुछ लोगों के मस्तिष्क में यह बात आयी है कि भाषा दुरूह है। अब उसका स्तर ऐसा गिराया जायगा कि उसको वह लोग समझ सकें, जो दिल्ली के आसपास रहते हैं और आज से दस साल पहले अशिक्षित थे, कम से कम हिन्दी नहीं जानते थे। जो बढ़ती हुई संख्या हिन्दी पढ़ चुकी है और पढ़ रही है, उसका लिहाज न किया जायगा। यह स्मरण रहे कि हिन्दी पढ़नेवाले केवल हिन्दू ही नहीं होते, मुसलमान भी हिन्दी पढ़ रहे हैं।

बाजार वाली बोली कहाँ तक जायेगी ?

यह प्रहार रेडियो तक ही रुक जायगा, इसमें सन्देह है। यह शिकायत आये दिन सुन पड़ती है कि हिन्दी क्लिष्ट है, संस्कृताइज (संस्कृतमय) होती जा रही है। जो व्यक्ति जानबूझकर अपनी भाषा को क्लिष्ट बनाता है, वह मूर्ख है। यदि मेरा लिखना या बोलना कोई समझ ही न सके, तो मेरे मुँह का न खुलना ही अच्छा होगा; परन्तु सर्वत्र एक-सी भाषा नहीं बोली जा सकती। बाजार में दूकानदार और ग्राहक दार्शनिक ऊहापोह नहीं करते। उनकी बोलचाल में 'अवच्छेदकावाधेन' जैसे पद नहीं आते, परन्तु यह बाजारवाली बोली विश्वविद्यालयों में काम नहीं दे सकती। वित्त-मंत्री उसके माध्यम से अपना भाषण नहीं दे सकते। क्या कानून, अर्थशास्त्र, दर्शन, भौतिक-विज्ञान की अंग्रेजी पुस्तकें साधारण अंग्रेज को समझने में आती हैं? ब्रिटेन की पार्लयामेंट में भाषणकला के महारथी, जैसे ग्लैडस्टन या डिअज्रेली, अब नहीं रहे, फिर भी बैल्फावर और एस्क्विथ या मार्ले क्या बाजार की अंग्रेजी बोलते थे, जिसमें तीन-चार अक्षर से बड़े शब्द न हों और ग्रीक या लैटिन की परछाईं न पड़ जाये? हर देश में साहित्य की, ऊँची कक्षाओं की, पाठ्यपुस्तकों की, विद्वत्संस्थाओं की, पढ़े लिखे लोगों की भाषा साधारण जनता की बोली से भिन्न होती है; परन्तु आज हिन्दी पर शनिदृष्टि घूम गयी है, उसको सरल करने का आदेश वायुमंडल में घूम रहा है।

हिन्दी लेखक कहीं नेताओं से दब न जाँय।

दो शब्द उन लोगों से भी कहना चाहता हूँ, जो विशेष रूप से 'हिन्दीवाले' कहलाते हैं। उनको हठात् अपनी भाषा किसी के सिर पर नहीं लादनी है। यदि किसी का राष्ट्रीय सम्मान अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा मानने से क्षुब्ध नहीं होता, तो हम उसे उसकी बुद्धि पर छोड़ते हैं। हमको हिन्दी की उन्नति तथा विकास तथा प्रचार के लिए सतत प्रयत्न करना है तथा हिन्दी की रक्षा करनी है, जो कि बहुत आवश्यक है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो या न हो; परन्तु मातृभाषा तो है ही। राष्ट्रभाषा के पद के प्रलोभन में पड़कर उसके कलेवर को कलुषित नहीं होने देना है। यदि वह राष्ट्रभाषा है, तो उस पर सबका

ही अधिकार है, उसके स्वरूप में भी थोड़ा बहुत अन्तर आना स्वाभाविक है, परन्तु किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह उसको इतना बदल दे कि वह स्वरूप भ्रष्ट हो जाय। केन्द्रीय सरकार की शक्ति बड़ी है। उसके साथ सहयोग परमावश्यक है; परन्तु उसके सम्पर्क में प्रलोभन भी है। कहीं ऐसा न हो कि हिन्दी लेखक और वक्ता कुछ राजनीतिक नेताओं से अत्यधिक प्रभावित होकर उनकी इच्छा के अनुरूप भाषा के स्वरूप को बदलना श्रेयस्कर समझ बैठे हैं। उससे हिन्दी की महती क्षति होगी और जब हमारी आँखों से मोह हटेगा, तो हम देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा भी न हुई, संसार की क्या, भारत की अन्य भाषाओं की समकक्ष भी न बन सकी और व्यर्थ अपने स्वरूप को, अपनी आत्मा को खो बैठी। हिन्दी संस्कृत से हठात् दूर जाकर निष्प्राण हो जायगी।

●

डा० राममनोहर लोहिया

अंग्रेज़ी कायम रखना देश के साथ द्रोह है

सरल भाषा के दो अर्थ हो सकते हैं। एक यह कि भाषा हजार-पाँच सौ शब्दों तक सीमित कर दी जाय, जैसा कि बेसिक इंगलिश के सम्बन्ध में किया गया है। दूसरा अर्थ है कि भाषा सरस हो और बहुजन समुदाय की समझ में आये। मैंने मालवीयजी की हिन्दी सुनी है। उससे ज्यादा सरस और आसान हिन्दी मैंने कहीं नहीं सुनी--उनके शब्द ज्यादातर दो या तीन अक्षर के होते थे। अगर उनकी भाषा को इसी कसौटी पर कसा जाय कि उसमें अंग्रेज़ी अथवा अरबी से उपजे कितने शब्द होते थे, तो वह कड़ी भाषा थी; लेकिन यह नासमझ कसौटी होगी। आखिर रहीम और जायसी मुसलमान थे या नहीं।

रोडियो के समाचार में मुझे एक बार दो शब्द बार-बार सुनने को मिले--फैक्टरी और बिल। रोडियो का इस्तेमाल मैंने जानबूझकर किया है, न कि रेडियो। जब भारतीय विद्वान् और सरकारी लोग अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों की बात करते हैं, तब वे भूल जाते हैं कि इन शब्दों के अनेक रूप हैं। वे अंग्रेज़ी रूप को ही अन्तर्राष्ट्रीय रूप मान बैठते हैं, जो बड़ी ना समझी है। बर्लिन में मुझे पहले दिन विश्वविद्यालय यानी यूनिवर्सिटी का रास्ता करीब-करीब बीस बार पूछना पड़ा, क्योंकि उसका जर्मन रूप ऊनीवेयरसिठेठे है, जैसे फ्रांसीसी रूप ऊनीवरसिते। एक बात शासक और विद्वान् नहीं समझ रहे हैं कि जिन बाहरी शब्दों को भाषा आतमसात् किया करती है, उसके रूप और ध्वनि को अपने अनुरूप तोड़ लिया करती है। मैं जब रपट या मजिस्टर जैसे शब्दों का प्रयोग करता हूँ, तो कुछ लोग सोचते हैं कि मैं मनमानी कर रहा हूँ अथवा विशेष प्रतिभा दिखा रहा हूँ। मैं ऐसा स्रष्टा कहाँ? गँवारों को ही यह सृजनशक्ति हासिल है। करोड़ों के रद्दे से लालटेन, रपट, लाट-फारम जैसे शब्द बने। ६०-७० वर्ष पहले के हिन्दी उपन्यासों में रपट, मजिस्टर जैसे शब्द मिलते हैं।

बीच में अंग्रेजी दलाल क्यों?

आज के हिन्दी लेखक और विद्वान् इन पुरानों की तुलना में समझदार बनने के बजाय नासमझ बने हैं। बाहरी शब्दों की आमद के बारे में दो नियम पालने चाहिए और कालान्तर में पलेंगे ही। एक नियम यह कि जब अपनी भाषा का कोई शब्द मिल न रहा हो, या गढ़ न पा रहा हो, तभी बाहरी शब्द लेना चाहिए। दूसरा नियम यह कि बाहरी शब्दों को अपने ध्वनि और रूप के मुताविक तोड़ते रहना चाहिए और इस संबंध में गंवारों की जीभ से सीखना चाहिए।

थोड़ा-सा अपवाद मैं बता दूँ। आजकल अध्यापक या शासक अक्सर यह कह देते हैं कि हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में उन्हें उपयुक्त शब्द नहीं मिलते, तब उनकी मूर्खता से झगड़ने के बजाय उन्हें ये उत्तर देना चाहिए कि वे रूसी या अंग्रेज़ी जिस किसी शब्द को जानते हैं उसका प्रयोग कर लें और कालान्तरमें सब ठीक हो जायेगा। और यह भी हिंदी लेखकों को और विद्वानों को याद रखना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय के मतलब अंग्रेज़ी नहीं। और जब वे किसी दूसरी भाषा से उद्धरण दें, तो सर्वदा अंग्रेज़ी में देकर ज्ञान का परिचय न दें, जब तर्जुमा करना ही है। तब यूनानी अथवा रूसी से सीधे हिंदी में क्यों न किया जाय? दकियानूसी में भी कुछ कमी की जाय तो अच्छा। उत्तरपूर्व सीमान्त अंचलों को—जिसे प्रशासक और उनके नक्काल 'नेफा' कहते हैं—मैंने उर्वसीअम् कहा। पूर्व का आखिरी अक्षर लेकर और बाकी तीन शब्दों का पहला। मैं नवभारत टाइम्स की तारीफ करता हूँ कि उसने इस सुझाव को अपनाया; लेकिन उसे इस बात में असंगति लगी कि पूर्व का पहला अक्षर न लेकर आखिरी अक्षर लिया जाय। अगर अब भी हम उर्वसीअम् अपना लें, तो कम-से-कम हिंदी भाषियों में वह वीभत्स शब्द 'नेफा' खत्म हो जाय। बात चली थी फैकटरियों और बिल से और कहाँ जाकर निकली, लेकिन बीच में बहुत कुछ साफ कर दी गयी। मैं समझता हूँ कि बिल का कानून के प्रारूप के अर्थ में हिन्दी में प्रयोग करना सर्वथा बेवकूफी है। बहुजन समुदाय उसे चूहे या साँप का बिल समझेगा। यदि विधेयक शब्द ठीक नहीं जँचता, तो दूसरा शब्द गढ़ो। हालाँकि मैं जानता हूँ कि बहुत-से शब्द चलते-चलते सरल और कर्णप्रिय हो जाते हैं। रह गयी फैक्ट्री की बात। कोई मूर्ख ही कारखाने से उसे बेहतर समझेगा।

भाषा की प्रतिष्ठा पहले, तब उसका विकास

मैं सरल और सरस को प्रायः सम-अर्थ समझता हूँ, पूरा नहीं। भाषा को सरल या सरस प्रशासक और विद्वान् नहीं बनाया करते। जैसे और मामलों में वैसे इसमें, समय बलवान है। इसीलिए सरकार की शब्दकोश नीति मुझे न सिर्फ अटपटी लगी, बल्कि बदनियत। अगर सरकार विद्वानों की मंडलियाँ बिठाती, डाक्टरी, इंजीनियरी, विज्ञान वगैरह के शब्द हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के इस्तेमाल के लिए, एक सहायक कार्य के रूप में, तो मुझे विशेष एतराज न होता, लेकिन यह सहायक कार्य न होकर आवश्यक कार्य हो गया। पहले शब्द-निर्माण हों, तब अंग्रेज़ी हटे। दुनिया में ऐसा न कभी हुआ और न कभी होगा। भाषा की पहले प्रतिष्ठा होती है, तब उसका विकास हुआ करता है।

हिंदी में सात लाख के करीब शब्द हैं, जब कि अंग्रेज़ी में अढ़ाई लाख के आस-पास। इसके अलावा अंगरेजी की शब्द गढ़ने की शक्ति नष्ट हो चुकी है, जबकि हिंदी की अभी अपनी जवानी ही नहीं चढ़ी। संसार की सबसे धनी भाषा है हिंदी; लेकिन बर्तनों की भाँति इन शब्दों पर, धरे, धरे-काई जम गयी है। यह बर्तन मँजने पर ही चमकेंगे किसी रसायनशाला के अनुसंधान से नहीं। जब काई जमें हुए ऊबड़-खाबड़ शब्दों का इस्तेमाल विश्वविद्यालय, न्यायालय, विधायिकाओं वगैरह में होने लगेगा। तब यह चमकेंगे और इनका अर्थ जमेगा। हो सकता है कि कुछ समय के लिए गड़बड़ी और अव्यवस्था हो, लेकिन वह हर हालत में होगी, जब कभी अंगरेजी से हिंदी का पलटाव किया जायेगा, चाहे जितने असंख्य शब्दकोश क्यों न बना लिये गये हों। पहले प्रतिष्ठा, फिर विकास, न कि पहले विकास फिर प्रतिष्ठा। मैं यहाँ शब्दों की काई धुलने का एक उदाहरण देना चाहता हूँ। आज हिंदी में प्रयत्न और कोशिश दोनों शब्द चालू हैं।

कुछ अनजान, चाहे संस्कृत चाहे अरबी के मूढ़ मोह के कारण इन दोनों में से एक शब्द को मार डालना चाहते हैं। सामूहिक सम्पत्ति का नाश करना बुरा है। मुझे लगता है कि कालान्तर में इन दोनों शब्दों के अर्थ अलग-अलग जमेंगे। छोटे प्रयत्न को कोशिश और कहेंगे, बड़ी कोशिश को प्रयत्न। हो सकता है कि हमारे बहुत-से शब्द मरने लायक हैं, और समय उन्हें मार देगा, किन्तु अपने धन को बेमतलब नहीं फेंक देना चाहिए।

मैं कोशिश को गैर संस्कृत उपज का मान बैठा। लेकिन कौन जाने? कुछ ही दिनों पहले मुझे इश्क और आशिक में तथा आसक्ति में एकरूपता लगी। आखिर फारसी तो संस्कृत की बहिन है। इस उद्‌गम को न जाने उसके लिए भी इश्क शब्द हिंदी के समरूप और समध्वनि होना चाहिए। ऐसे हजारों शब्द हैं। रही इश्क की बात। तो प्रीति, प्रेम, इश्क, कामना जैसे जाने कितने शब्द हैं, जिनके कालान्तर में अर्थ जमेंगे और चमकेंगे। जो थोड़ा उद्‌गम जानते हैं, उन्हें थोड़ा और रस मिलेगा। साल डेढ़ साल पहले तक कान्त का उद्‌गम नहीं जानता था, जबसे कम् धातु की शुरुआत जान गया, तब रस बढ़ गया। रम् का कहना ही क्या, जो खुश या सुखी करता है और राम में है और शायद प्रेम में भी। जबसे मुझे ईश्वर की ईश धातु का भान हुआ, जिसका अर्थ है हुकूमत करना, तबसे ईश्वर के उद्‌गम को समझने में भी और मजा आने लगा।

भाषा के प्रश्नों की व्याख्या का अंत कहाँ? इसलिए मुझे झटका मार कर अपनी बात खतम करना होगा। हालाँकि मैं चाहता हूँ कि हर प्रश्न और पहलू पर बहस हो, हिंदी को सरल करने पर भी, लेकिन इस बहस का उस दूसरी बहस से तनिक भी संबंध नहीं होना चाहिए कि अंग्रेजी फौरन हटे। अंगरेजी को न हटने देने के लिए कई तरह के षड्यन्त्र देश में चालू हैं। एक षड्‌यंत्र है कि हिंदी कठिन और अविकसित है और इसे सरल और विकसित बनाओ। इसी की तरह दूसरा षड्‌यंत्र है कि तट देशीय लोगों का मन अंगरेजी से हटाओ और सभी जगह के विद्यार्थियों और अविभावकों का मन। इन लोगों का मन कैसे हटेगा, जब तक अंगरेजी के साथ इज्जत और पैसा जुड़ा हुआ है! सब प्रचार और रचनात्मक काम मिथ्या है, अगर 'अंगरेजी हटाओ' का क्रान्तिकारी काम साथ-साथ नहीं चलता। जब तक अंगरेजी नहीं हटती, तब तक लोगों की इच्छाएँ बदल नहीं सकतीं। जहाँ अंगरेजी हटाने की क्रांतिकारी इच्छा प्रबल हुई और बाद में सफल, वहाँ बाकी सवाल अपने आप हल होने लगेगा। मिसाल के लिए अखबारों का सवाल। आज अंगरेज़ी के अखबार हिंदी के अखबारों से अच्छे हैं। यह भी सही है कि हिंदी वालों को अभी जबरदस्त स्वाध्याय करना है। वे बहुत पीछे-देखू हैं और उन्हें अपनी पीछे-देखू वृत्ति और साथ-साथ अंगरेजी वालों की बगल-देखू वृत्ति से संघर्ष करते हुए आगे-देखू बनना है; लेकिन यह सब मिथ्या है, जब तक तार और दूरमुद्रक हिंदी में नहीं होते। जिस दिन तार और दूरमुद्रक अंगरेजी में चलना बन्द हो जायँगे, उसके एक हफ्ते के अन्दर-अन्दर अंगरेजी के सभी दैनिक अखबार हिंदुस्तान में बन्द हो जायँगे। कौन तर्जुमा करेगा; जरा वह भी तर्जुमा करके देखें, जैसे आज हिंदी और मराठी वाले करते हैं।

भारतमाता आजाद तो हुई लेकिन जीभ कटी हुई है

देश का काम किस भाषा में चले, यह विद्वानों, लेखकों और साहित्यकारों का प्रश्न नहीं, बल्कि राजकीय प्रश्न है, विशुद्ध लोक-इच्छा का प्रश्न। मैंने जब सुना कि वर्धा में इकट्ठे करीब

एक हजार राष्ट्रभाषा प्रचारकों के सामने घर-मंत्री ने अंगरेजी को अनन्तकाल तक रखने की बात कही और किसी एक ने भी प्रतिवाद नहीं किया, तब मिचली जैसी आयी। जब वे तटीय लोगों की आड़ लेते हैं और कहते हैं कि बंगाली अथवा तमिल लोगों के लिए अंगरेजी रखना जरूरी है, तब उनसे बड़ा झूठा कोई नहीं। हिंदी के मध्य देशों से अंगरेजी को हटाने का झंडा यह लोग क्यों नहीं उठाते? थोड़ी देर के लिए तटदेशीय लोगों की बात छोड़ दें, तो भी मध्यदेशीय लोगों का किसी क्षेत्र में चाहे सेना, रेल, तार, न्यायालय, सरकारी दफ्तर वगैरह में एक क्षण के लिए अंगरेजी कायम रखना देशद्रोह है। तट देश में षड्यंत्र का बोल है,--"हिंदी की साम्राज्यशाही रोको और अंगरेजी रखो।" मध्यदेश में षड्यंत्र का बोल है--"देश का विघटन रोको और अंगरेजी रखो।"[१] ये षड्यंत्रकारी हैं कौन और इनका क्या हित है, इसका विवेचन मैं दूसरे प्रसंगों में किया करता हूँ, यहाँ नहीं। देशभक्तों का बोल है--"भारतमाता आजाद जरूर हुई, लेकिन इसकी जीभ कटी हुई है और इसकी जीभ जोड़ो।" एक बार जब भारतमाता की जीभ जुड़ जायेगी, तब उस जीभ से सरल शब्द निकलेंगे या क्लिष्ट, नरम या भोंडे इसका काल निर्णय करेगा। मेरी समझ में काल हिंदुस्तान के साथ है। शर्त सिर्फ एक है--देश के लोग भी काल के साथ चलें। काल के साथ चलने का मतलब है--पिछले १४ वर्ष की गलतियों के खिलाफ लोक-इच्छा की बगावत। 'अंगरेजी हटाओ' इस बगावत का मूल मंत्र है। गंवार कुली और विद्यार्थी इसके प्राण। इच्छा हो विद्वान् और साहित्यिक भी प्रयत्न करें, इसकी सांस अथवा हाथ-पैर बनने की।

•

जगवीरसिंह वर्मा

अंग्रेज़ी वालों का झूठा प्रचार

अंग्रेज़ी की अधिकतर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में तथा लोक सभा से लेकर साधारण सभाओं तक में अंग्रेज़ी भक्तों द्वारा हिन्दी के राष्ट्रभाषा या राज्य भाषा न होने का कारण अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के लोगों का अंग्रेज़ी प्रेम ठहराया गया है। इस आरोप में अहिन्दी भाषी अंग्रेज़ी भक्त ही नहीं, हिन्दी भाषी लोगों का भी एक गुट शामिल है, जो अभी भी विदेशीपन के प्रभाव को कायम रखना चाहता है। अन्यथा जब हमारे संविधान ने लिखित रूप लिया है, तब कुछ लोग भाषा के प्रश्न पर उलट फेर करने पर उतारू क्यों हैं? अहिन्दी भाषियों को इस सम्बन्ध में दोषी ठहराना बिलकुल असंगत है। यह तो अंग्रेज़ी प्रेमी गुट की कारस्तानी है।

अहिन्दी भाषियों का हिन्दी-प्रेम जानने के लिए वहाँ के हिन्दी-प्रचार की ओर जरा गौर से ध्यान दिया जाय, तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि आज वहाँ हिन्दी का क्या रूप है। इसके लिए मैं आप लोगों के समक्ष हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार के इतिहास को रखता हूँ।

सन् १९१८ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ था। जिसके अध्यक्ष पद पर आसीन श्री गांधीजी ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाया था। और हिन्दी को ही राज्यभाषा के रूप में मानने के विचार से उन्होंने अहिन्दी भाषी क्षेत्र मद्रास में सर्वप्रथम अपने पुत्र देवदास गांधी को हिन्दी-प्रचार के लिए भेजा था। इस प्रकार सन् १९१८ में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार का श्रीगणेश हुआ। और हिन्दी-प्रचार का कार्य शनैः शनैः बढ़ता गया। सन् १९२७ में आकर, जब हिन्दी अपनी जड़ों को मजबूत करती गयी, तब भाषा के आधार पर हिन्दी प्रचार के लिए दक्षिण भारत को चार भागों में विभक्त कर दिया गया। जैसे आन्ध्र की तरफ के भाग का केन्द्र हैदराबाद, तमिल नाड का त्रिचरापल्ली, केरल का अरणाकुलम् और कर्नाटक प्रदेश का धारवाड़---ये चार केन्द्र स्थापित किए गए। इस तरह सन् १९३६ में भाषावार चार प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभाओं की स्थापना हुई और हिन्दी का पूर्ण रूपेण स्वागत हुआ। दक्षिण के सर्व-प्रथम हिन्दी-प्रचारक दक्षिण भाषा भाषी हरिहर शर्मा को माना जाता है।

प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभाओं का संविधान बनाने के पश्चात् मैसूर राज्य (कर्नाटक प्रदेश) हिन्दी प्रचार सभा का केन्द्र बैंगलोर से धारवाड़ लाया गया। क्योंकि सन् १९१८ में बैंगलोर मैसूर रियासत के अधीन था और धारवाड़ बम्बई प्रदेश के अन्तर्गत था; इसलिए यहाँ हिन्दी-प्रचार का कार्य सन् १९२४ में ही शुरू हो गया था। सन् १९२४ में बेलगाँव में कांग्रेस अधिवेशन हुआ था और उसके अध्यक्ष श्री गांधीजी ही थे। वैसे मैसूर राज्य में सर्वप्रथम हिन्दी-प्रचार का बीजारोपण बैंगलोर में ही हुआ था, लेकिन जब सन् १९३७ में प्रान्तों में मंत्रिमंडलों

की स्थापना हुई, तब प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा का केन्द्र बैंगलोर से धारवाड़ परिवर्तित कर दिया गया। भले ही कर्नाटक प्रदेश हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से कन्नड़ भाषा के लिए एक प्रान्त था, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से कर्नाटक प्रदेश पाँच भागों में बँट गया था। धारवाड़ और बेलगांव की तरफ का भाग बम्बई प्रदेश शासन के अधीन था। बैंगलोर की तरफ का भाग मैसूर रियासत के अधीन था। दक्षिण कन्नड़ प्रदेश मद्रास के अधीन और कुर्ग जो एक जिला है, एक अलग प्रशासक इकाई था। बाकी हिस्सा हैदराबाद शासन (निजाम) के अधीन था; इसलिए कांग्रेस मंत्रिमंडल की स्थापना के बाद कर्नाटक प्रदेश में हिन्दी को अधिक प्रोत्साहन मिला और पोषक शक्तियां प्राप्त हुईं। सन् १९५६ में आकर कर्नाटक प्रदेश को मैसूर राज्य में सम्मिलित कर दिया गया। तब हिन्दी-प्रचार सम्पूर्ण देश में खुले बाँध के पानी के समान जोर-शोर से बह निकला और हिन्दी-प्रचार को राजनैतिक दृष्टि से ऐक्यसूत्रित किया गया।

मुझे कर्नाटक प्रदेश के विभिन्न भागों में ६ माह रहने का अवसर प्राप्त हुआ है; इसलिए अपने अनुभव के आधार पर यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि इस अहिन्दी क्षेत्र में हिन्दी-प्रचार सभा ने जो ठोस कदम उठाया है, वह सराहनीय है और उन हिन्दी भाषियों का एक मुँहतोड़ जवाब है, जो हिन्दी को दक्षिण का हौआ ठहरा कर अंग्रेज़ी का नारा लगा रहे हैं। मैं प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा के उल्लेखनीय व्यक्ति श्री पी० एन० महीतरी से मिला, जो दक्षिण भाषा-भाषी होते हुए भी शुद्ध हिन्दी बोलते हैं। हिन्दी के प्रति आदर और आस्था तथा उनके प्रयत्न और विचारों को जान कर उन मुट्ठी भर लोगों के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है, जो अंग्रेज़ी को गले लगा कर हिन्दी को विवाद का विषय बनाए हुए हैं।

उपर्युक्त प्रान्तीय प्रचार सभाएँ हिन्दी के प्रचारकों को और अधिक बढ़ावा देने के उद्देश्य से—विशेष कर विद्यार्थियों के लिए—हर माह शैक्षणिक पत्रिकाएं निकालती हैं। जिनमें अपने-अपने प्रान्त की सभ्यता और संस्कृति के अलावा विचारपूर्ण लेख और ज्ञानवर्द्धक तथा मनोरंजक कहानियों के अलावा विभिन्न हिन्दी परीक्षाओं से सम्बन्धित सामग्री सम्मिलित होती है। ये हिन्दी की परीक्षाएँ उत्तर प्रदेश की प्रथमा, मध्यमा, साहित्यरत्न के ही समान होती हैं और प्रचार-सभाओं द्वारा आयोजित की जाती हैं। मुझे भारतवाणी, केरल भारती, सांस्कृतिक साहित्य और हिन्दी प्रचार समाचार आदि पत्रिकाएँ पढ़ने के लिए मिली हैं। जिनका अहिन्दी भाषी क्षेत्रों से प्रकाशित होना अंग्रेज़ी का नारा लगाने वालों के लिए एक चुनौती है।

हिन्दी भाषा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं और संस्कृतियों के मेल-मिलाप से बनी है। राष्ट्रीय एकता के लिए बनी है। दूसरी तरफ भी जब हम अहिन्दी भाषी क्षेत्रों की प्रान्तीय भाषाएँ—जैसे कन्नड़, मलयालम, तेलगू, तमिल, मराठी आदि को—देखते हैं; तो पता चलता है कि इन सभी भाषाओं में संस्कृत का गहरा पुट है। हिन्दी में और अन्य भारतीय भाषाओं में कोई विरोध नहीं। यह तो अंग्रेज़ी वाले अपने निहित स्वार्थों के कारण देश में भेद पैदा कर रहे हैं। देश की एकता और सुरक्षा के लिये हमें अंग्रेज़ी के इस षड़चंत्र का उद्घाटन कर जनता को सही दिशा में सोचने की प्रेरणा देनी चाहिए।

●

शचीन्द्रनाथ बख्शी

अंग्रेज़ी को हिन्दी की सहचरी बनाने पर एक बंगाली जन के भाव

हम लोग, जिन्होंने आजादी की लड़ाई, अपनी जान हथेली पर रख कर लड़ी है, जब इस तरह के रंग-ढंग देखते हैं, तब दिल को बहुत सदमा पहुँचता है। बड़े जोर का धक्का लगता है। दिल में बेचैनी होती है कि आखिर हमारे देश के लोगों को हो क्या गया है। अब से पन्द्रह बरस पहले तक जहां त्याग, बलिदान और निःस्वार्थ सेवा हमारे जीवन के आधार थे—वहाँ क्या अब स्वार्थ और लोलुपता ही रह गई है? क्या राष्ट्र के हित का महत्त्व अब नहीं रह गया? क्या हममें आत्म-सम्मान और राष्ट्रीय गौरव की बू तक नहीं है।

मैं खुद एक बंगाली हूँ और अपने को सच्चा और ईमानदार बंगाली कह सकता हूँ। मुझे गर्व है कि मैंने बंगाली के घर में जन्म लिया है। बँगला भाषा को मैं उतना ही प्यार करता हूँ, जितना कि कोई भी बंगाली कर सकता है। लेकिन 'आनन्द बाजार पत्रिका' के अग्रलेख 'सरकारी भाषा या दरबारी भाषा' को पढ़ कर मैं मर्माहत हो गया। **अंग्रेज़ की गोली से अगर मेरी मौत हो जाती, तो शायद उतनी तकलीफ़ न होती,** जितनी इस अग्रलेख को पढ़ कर हुई। बंगाल की सब से बड़ी खूबी रही है—उसका राष्ट्र और भाषागत प्रेम। स्वाधीनता के संग्राम में बंगाल ने पहले कदम उठाया और बलिदान भी सब से ज्यादा किया; पर अफसोस है कि जिस बंगाल ने स्वाधीनता का पौधा अपने खून से सींचा, वही पन्द्रह बरस में कैसे इतना बदल गया? मेरा सिर इज्जत से झुकता है, पूर्वी पाकिस्तान के लोगों के लिए, जिन्होंने फैसला किया कि बँगला को ही अपनी राष्ट्र भाषा रखेंगे, उर्दू को हरगिज नहीं आने देंगे। पश्चिम बंगाल के लोग भी यदि पूर्वी पाकिस्तान की तरह बँगला को सह-राष्ट्रभाषा करने की माँग करते, तो वह बात कुछ हद तक मेरी समझ में आती। इसके मुकाबले में हमारे पश्चिम बंगाल और दक्षिण के भाई कहते हैं—"अंग्रेज़ी को योग्य मर्यादा में बहाल करो।" इसका मतलब साफ है कि बँगला, जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंकिमचन्द्र, शरद, काजी नजरुल इस्लाम, ताराशंकर आदि को पैदा किया; और तमिल, जो संस्कृत से भी पुरानी भाषा है—आदि भाषाएं हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेज़ी की दासी हो कर रहेंगी। कैसी खौफनाक और खतरनाक बात है और मजा यह है कि बंगाली और दक्षिण भारत के लोग अपने ही मुँह यह माँग कर रहे हैं। इस वक्त अंग्रेज़ नहीं, अंग्रेज़ी की गुलामी नहीं, लेकिन यह कैसे नासमझ लोग हैं, जो दिमागी गुलामी की बात करते हैं।

ब्लिट्ज ने बहुत बड़ी-बड़ी सुर्खियाँ देकर छापा है, कि काकाओं और मामाओं के दिन लद गए। उसने यह भी लिखा है कि सर्व भारतीय भाषा सम्मेलन में दो-सौ सनकी इकट्ठे हुए थे। उनको जनता का प्रतिनिधि कहलाने का हक किसने दिया था? दुःख की बात है कि एक राष्ट्र-

वादी पत्र इस तरह की दलील दे। लेकिन 'ब्लिट्ज' आखिर अंग्रेज़ी का पत्र ठहरा, इसलिए जिस का खाना उसका गुण-गाना वाली मसल साबित कर दी। आनन्द बाजार पत्रिका ने भी यही बात लिखी है कि किसने इन डेलीगेटों को चुन कर भेजा? मैं नहीं कह सकता कि आनन्द बाजार पत्रिका का 'ब्लिट्ज' पर क्या असर है। इस तरह की बातें सोचने और कहने वाले और भी कितने ही 'पत्र' हैं और कितने ही लोग हैं। आज ऐसे लोगों की आवाज भी ज्यादा जोर के साथ सुनाई पड़ती है। और इन लोगों के रहनुमा हैं—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य। सुनीति कुमार चटर्जी और सुब्बारायन भी उन लोगों में हैं, जो अंग्रेज़ी के हक में जोरदार दलीलें पेश कर चुके हैं और राज-भाषा आयोग की सिफारिशों को ही जिन्होंने अपने 'नोट अफ् डिसेंट' से दबाने की कोशिश की। अंग्रेज़ी के हिमायतियों का एक पूरा दल है, जो इस तरह की बातें करता है।

खैर राजाजी की बात जाने दीजिए। उनके बारे में कुछ छिपा नहीं है। अवसर पर आगे कूद कर अवसर से फायदा उठाना, यह उन्होंने सदा से किया है। अब तो वह राजा-महा-राजाओं और न मालूम किस-किस की स्वतंत्र पार्टी ही बना बैठे हैं। लेकिन मैं पूछना चाहता हूं अपने भाई सुनीतिकुमार चटर्जी से, जो हमेशा हिंदी को राष्ट्रभाषा बताते रहे हैं। लेकिन अब क्या वजह हो गई, क्या भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त बदल गए, जो वह अंग्रेजी की तरफदारी करने लगे? जाहिर है कि वह ऐसे लोगों के बहकावे में आ कर गलत रास्ते पर पड़ गए हैं, जो राष्ट्र के हित की जगह अपने स्वार्थ को रखते हैं।

मैं अपने बंगाल के भाइयों से अपील करता हूँ कि वे अपने दिलों को टटोलें और जरा सोचें। क्या हम भूल सकते हैं कि राष्ट्र के दीवाने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने 'आजाद हिन्द फौज' में रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी चलाई थी, जो गांधीजी के उर्दू और हिन्दी लिपि में हिन्दुस्तानी से कहीं अच्छा समाधान था। आज बंगाली और दक्षिणी कहते हैं कि अंग्रेज़ी को रखेंगे। यह क्या महज स्वार्थ के लिए? क्या इस भय से कि नौकरियों में उनकी संख्या पर्याप्त नहीं रहेगी? क्या यह बंगालियों के लिए, और दाक्षिणात्यों के लिए और सब भारतवासियों के लिए शर्म की बात नहीं है कि नौकरियों की छीनाझपटी के कारण वे विदेशी भाषा को कायम रखना चाहते हैं।

"यदि भारतवर्ष एक ना हइले भारतवर्ष एकता ना हय, तबे ताहार उपाय कि? समस्त भारतवर्ष एक भाषा व्यवहार कराइ उपाय। एखन जतोगुलि भाषा भारते, प्रचलित आछे ताहार मध्ये हिन्दी-भाषा प्राय सर्वत्र-ई प्रचलित। एइ हिन्दी-भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य ना पाइले कखनो-इ सम्पन्न हइबेना। एखन इंग्रेज-जाति आमादार राजा। तांहार जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारतबासीदेर मध्ये अनैक्य थाकिबे ना, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय-तो इंग्रेजेर मने भय हइबे। तांहारा मने करिया थाकेन जे, भारत-वासीदेर मध्ये अनैक्या ना थाकिले ब्रिटिश सामाज्य स्थिर थाकिबे ना।...भारतवर्षेर मध्ये जे-सकल बड़ो बड़ो राजा आछेन, तांहारा मनोयोग करिले, ए कार्यटी आरम्भ करिते पारेन।... जेमन एक भाषा करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य, तेमनि उच्चारण के-ओ एक-रूप करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य।...भाषा एक ना हइले एकता हइते पारे ना।"

—श्री केशवचन्द सेन

एक और खास दलील अंग्रेज़ी चाहने वाले देते हैं कि अंग्रेज़ी हमारे लिए दुनिया को जानने का झरोखा है। इसमें शक नहीं कि अंग्रेज़ी आज दुनिया की सब से बड़ी भाषा है और हमने उससे बहुत कुछ सीखा भी है और भारतीय भाषाएँ उसके मुकाबले में दरिद्र हैं—विशेषकर विज्ञान में। लेकिन अंग्रेज़ी अगर झरोखा है, तो हिन्दी और हमारी दूसरी भाषाएँ हमारी आँखें हैं। क्या हम झरोखे को बनाए रखें और अपनी प्यारी आंखों को, जो हमारे जिस्म का एक हिस्सा है, फोड़ डालें।

अगर हमने अंग्रेज़ी को रखने का फैसला किया, तो वह इतना बड़ा दुर्भाग्य होगा, जिसका दूसरा उदाहरण दुनिया में कहीं नहीं मिलेगा। 'आनन्द बाजार पत्रिका' ने यह भी लिखा है कि अंग्रेज़ी को एसोसिएट भाषा बना देने से हिन्दी मरघिल्ले घोड़े की तरह दौड़ेगी और अंग्रेज़ी के तेज घोड़े के मुकाबले अपनी मौत आप मर जाएगी। भला यह कोई गर्व करने की बात है। हमको तो अपनी कमजोर भाषाओं को ही अपनाना होगा और उन्हें पुष्ट करना होगा। अंग्रेज़ी कपड़े का बायकाट करने के लिए जैसे हमने मोटी-झोटी खादी पहनी—वैसे ही टूटी-फूटी अपनी भाषा को ही गले से लगाना होगा। राष्ट्र की ताकत बढ़ेगी, तो हिन्दी और हमारी सभी भाषाओं की ताकत बढ़ेगी।

हम अपनी गरीब भाषा को ही गले लगाएँगे, क्योंकि वह अपनी है। गरीब है, तो क्या हुआ? यह याद रखिए कि अंग्रेज़ी के जाने से हिन्दी आगे बढ़ेगी, बँगला आगे बढ़ेगी, तमिल आगे बढ़ेगी तथा हमारा भारतीय भाषा-परिवार फूले-फलेगा। अंग्रेजी के रहने पर सब भाषाएँ हमेशा के लिए गुलामी की बेड़ियों में रहेंगी। यह खयाल गलत है कि अंग्रेज़ी जिस दिन जाएगी, उस दिन रोशनी गुल हो जाएगी। अगर अंग्रेज़ी में इतनी दिव्य ज्योति है, तो इंग्लैण्ड से ३०-४० मील दूर बेलजियम और हालैण्ड जैसे छोटे-छोटे देश उसको अपनी भाषा क्यों नहीं बना लेते? एक हम हिन्दुस्तानी ही ऐसे हैं कि वहाँ से कई हजार मील दूर हो कर भी उसको सीने से चिपकाना चाहते हैं? हमारे देश के नेताओं को और जनता को इस पर गौर करना चाहिए। बर्मा, इण्डोनेसिया, मिस्र आदि देशों ने स्वाधीनता के बाद अपनी-अपनी भाषा अपना ली है। भले ही स्वार्थ और प्रलोभन का आकर्षण अंग्रेज़ी की ओर खींचता हो, पर राष्ट्र-हित में और जन-हित में हिन्दी को ही राजभाषा का आसन देना चाहिए।

●

विष्णुदेव पोद्दार

अंग्रेजी के विरुद्ध स्वामी दयानन्द के विचार

हमारे देश में गत कई शताब्दियों में ऋषि दयानन्द एक अलौकिक महापुरुष हुए हैं। महामना पंडित मदनमोहन मालवीय उनके सम्बन्ध में अनुभव करते थे कि वह एक वैदिक ऋषि थे। ऋषि दयानन्द अपने महान् कार्यों द्वारा उदिक ऋषि अगस्त्य का स्मरण दिलाते हैं। उन्होंने स्वयं अपने एक पत्र में लिखा था—"हमने केवल परमार्थ और देशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर यह कार्य ग्रहण किया है।"

ऋषि दयानन्द यद्यपि गुजराती ब्राह्मण थे और गुजराती ही उनकी मातृभाषा थी तथा गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे, तथापि देशप्रेमी एवं क्रान्तिदर्शी होने के कारण उन्होंने वेदोक्त सनातन धर्म के प्रचार और देशोन्नति के अपने महान् कार्यों की पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा को अपनाया। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और उन्होंने संस्कृत पठन-पाठन पर अत्यधिक बल दिया। संस्कृत भाषा के प्रचार के लिए ऋषि दयानन्द ने जो पाठशालाएँ स्थापित कीं और कराईं, उनमें हिन्दी के अध्ययन को प्रमुखता दी गई। ऋषि दयानन्द ने प्रारम्भ में अपना सारा कार्य संस्कृत में ही किया; किन्तु कुछ ही समय बाद उन्होंने यह भलीभाँति समझ लिया कि बिना हिन्दी को अपनाये प्रचार कार्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि देश की भाषा हिन्दी है, अतएव सर्वसाधारण जनता उसे सरलता से समझ लेती है। संवत् १९२९ तक ऋषि दयानन्द का सारा पत्र-व्यवहार, प्रचार-कार्य तथा सम्भाषण संस्कृत में ही होता रहा। देश का परिभ्रमण करने के पश्चात् उन्हें यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत भाषणों को समझनेवालों की संख्या बहुत ही सीमित है और इसी कारण उनके विचारों को समस्त जनता नहीं समझ पाती; अतएव संवत् १९३० में कलकत्ता से लौटने पर ऋषि दयानन्द ने हिन्दी में ही बोलना आरम्भ कर दिया। उसी समय से उन्होंने पत्र और विज्ञप्तियाँ हिन्दी भाषा में ही लिखने-लिखवाने आरम्भ कर दिये। संवत् १९३० में ऋषि दयानन्द का प्रसिद्ध हुगली शास्त्रार्थ संस्कृत में ही हुआ और उसका सारांश संस्कृत में ही प्रकाशित हुआ। उसी समय उसका अनुवाद बँगला भाषा में मुद्रित किया गया, जिसका हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'लाइट प्रेस' बनारस में छपवा कर प्रकाशित किया। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र गोकुलिया गोस्वामी मत के मानने वाले मूर्ति पूजक थे, तथापि वह उपर्युक्त प्रसिद्ध शास्त्रार्थ की शैली से इतने प्रभावित हुए कि भारतेन्दु ने उसको हिन्दी में 'प्रतिमा पूजन विचार' शीर्षक दे कर प्रकाशित करा दिया। इसकी जनता में इतनी अधिक माँग हुई कि संवत् १९५३ तक वह पाँच बार छापा गया और ऋषि दयानन्द ने स्वयं ही उसे फिर हिन्दी में प्रकाशित कराया।

उन दिनों संस्कृत और हिन्दी मृत भाषाएँ मानी जाती थीं। सन् १८३६ ई० तक सरकारी दफ्तरों की भाषा फारसी रही, फिर सन् १८३७ ई० से वह फारसी बहुल-उर्दू हो गई। धीरे-धीरे अदालतों से नागरी अक्षरों का बहिष्कार किया गया और फारसी लिपि का जानना आवश्यक ठहराया गया। यह हिन्दी की अत्यन्त शोचनीय दशा थी। उसके लिखने-बोलने वाले हीन समझे जाते थे। जब कभी हिन्दी पढ़ाई की बात चलती, तब उसे अविकसित और मरी हुई भाषा कहकर टाल दिया जाता। शिक्षित हिन्दुओं तक ने हिन्दी का विरोध किया। स्थान-स्थान पर उर्दू के मकतब-मदरसे दिखाई पड़ने लगे। सितारे-हिन्द राजा शिवप्रसाद, यद्यपि देवनागरी लिपि के पक्ष में थे तथापि फारसी लिपि का खुलकर विरोध नहीं कर पाते थे। वह क्रमशः अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू भाषा की ओर झुककर उसे ही अपने देश की भाषा मानने लगे; क्योंकि कचहरियों के सारे काग़जात उसी के माध्यम से लिखे जाते थे। हेनरी पिनकाट ने १ जनवरी सन् १८८४ ई० को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को लिखा था कि बीस वर्ष हुए उसने (राजा शिवप्रसाद ने) सोचा कि अंग्रेजी साहबों को जो जो बातें अच्छी लगतीं हैं, उन बातों का प्रचलित करना परम चतुर लोगों का धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने अपनी हिन्दी भाषा को भी छोड़कर बिना लाज उर्दू को प्रचारित करने में बहुत उद्योग किया।

हिन्दी का दर्जा इतना गिर चुका था कि विरोधी लोग उसे 'भाषा' न मानकर 'भाखा' के नाम से पुकारते थे। इस विरोध के नेता थे——सर सैयद अहमदखाँ। उनका अंग्रेजों में बड़ा मान था। वह हिन्दी को गँवारी बोली मानते थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि——"गार्सा-द-तासी नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् थे, जो पेरिस में उर्दू का झगड़ा उठने पर, उन्होंने सर सैयद अहमद की आवाज में आवाज मिलाकर मजहबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा—— वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके अनुषंगिक विधान है उसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी समाहित है और एकेश्वर वाद का मूल सिद्धान्त है, इसलिए इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएं पायी जाती है।

संवत् १९२७ में अपने एक व्याख्यान में गार्सा द तासी ने स्पष्ट कहा——"मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते; पर हिन्दू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा को नहीं मानते।"

ऋषि दयानन्द ने इन बातों का बड़ा मजेदार उत्तर दिया था——"और यह छोटा परन्तु तुम बड़े बुत-परस्त हो, जो तूर के पहाड़, आदम के चरण वाले पहाड़ को पूजते, संगे-अस्वद को चूमते, ताजिए को मानते औ कब्रों से मुराद माँगते हो।" इसी समय संवत् १९२५ में इस प्रान्त के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष श्री हैवेल साहब ने भी अपना फतवा देते हुए यह राय जाहिर की——

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने झुकना पड़ेगा।"

इस दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए स्व० बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है——

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई।......हिन्दी उस भाषा का नाम रहा, जो टूटी-फूटी चाल पर देव-

नागरी अक्षरों में लिखी जाती थी। जीविका और मान-मर्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देशभाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिन्दी के ऐसे संकटकाल में ऋषि दयानन्द जैसे हिन्दी के प्रबल प्रचारक एवं उद्धारक का देश में प्रादुर्भाव हुआ। ऋषि ने अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा देशभाषा हिन्दी की वास्तविकता को भली प्रकार समझकर वैदिक सनातन धर्म की स्थापना के साथ-साथ संस्कृत एवं आर्यभाषा (हिन्दी) के प्रचार तथा प्रसार को भी अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया। ऋषि के इस व्यापक रूप को देखने के लिए, हमें उनके पत्रों को पढ़ने से यह स्पष्ट विदित होता है कि ऋषि को हिन्दी से अगाध प्रेम था और हिन्दी की उन्नति में उनका योगदान महान् था।"

उस समय जब कि उर्दू का बोलबाला था, अनेक आर्य बन्धुओं ने ऋषि दयानन्द से अनुरोध किया कि उनके वेदभाष्य का अनुवाद उर्दू में भी प्रकाशित किया जाय, किन्तु स्वामीजी ने वेद-प्रचार के लोभ में न पड़कर संस्कृत एवं हिन्दी के रक्षार्थ अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए १६ जनवरी सन् १८७८ ई० के पत्र में श्री बी० एच० चिन्तामणि को इस प्रकार लिखा——

प्रिय बाबू,

"मैं आपको सूचना देने की आवश्यकता अनुभव करता हूँ कि सम्पूर्ण होने से पूर्व वेदभाष्य का अनुवाद अंग्रेजी या वर्नाक्यूलर (उर्दू) में नहीं करना चाहिए; क्योंकि यदि अंग्रेजी या उर्दू में अनुवाद किया गया, तो इससे लोग संस्कृत और भाषा (हिन्दी) के अध्ययन में निरुत्साह हो जाएँगे क्योंकि वे सोचेंगे संस्कृत और भाषा के बिना ही अंग्रेजी या उर्दू के द्वारा ही हम अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेंगे। ऐसी स्थिति में हमें ग्रंथ के अंग्रेजी या उर्दू में अनुवाद करने के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, जिससे सुपरिणाम के स्थान पर अन्त में दुष्परिणाम प्राप्त हो। पहले केवल शुद्ध संस्कृत और भाषा में पूर्ण हो जाने दीजिए, पश्चात् अन्य भाषाओं में अनुवाद करना आवश्यक समझा गया, तो आप सब अपनी इच्छानुसार जनहित की दृष्टि से कार्य करने में स्वतन्त्र होंगे।"

३१ जुलाई सन् १८७९ ई० को वेदभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद न प्रकाशित करने के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने मेडेम ब्लेवेटस्की को लिखा——

"वेदभाष्य के अंग्रेजी अनुवाद करने और आपकी पत्रिका में प्रकाशित करने के आपके विषय में मेरा मत है कि कल्पना कीजिए कि यह प्रबन्ध सफलतापूर्वक कर भी दिया जाय, तो भी सबसे बड़ी बाधा यह है कि भारतवर्ष की आर्य जनता (अंग्रेजी के विद्यार्थी) मेरे वेदभाष्य के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित होने पर संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन त्याग देगी। मेरे वेदभाष्य को समझने के लिए संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन, जिसको वे कर रहे हैं, और जो मेरा मुख्य उद्देश्य है, नष्ट हो जाएगा; अतः वस्तुतः अंग्रेजी अनुवाद प्रधानतया केवल यूरोपीय विद्वानों के लिए लाभप्रद हो सकता है।

"इससे वेदभाष्य के हिन्दी-संस्करण के ग्राहकों की संख्या में कमी हो जायगी और हमें प्रकाशन में बड़ी हानि होगी और सम्भवतः इसका यह परिणाम होगा कि हिन्दी-अनुवाद सर्वथा बन्द हो जायगा। वह निधि जहाँ से आप लेना चाहते हैं, समाप्त हो जायगी और अंतिम परिणाम हिन्दी-अनुवाद सर्वथा बन्द हो जायगा। हिन्दी का पूर्ण विनाश होगा और अंग्रेज़ी संस्करण ही अभीष्ट हो जायगा।"

उन दिनों अंग्रेजी सरकार ने भाषा-प्रचार के लिए एक कमीशन नियुक्त किया। ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से हिन्दी को राजकार्यों में प्रवृत्त कराने के निमित्त अनेक स्थानों से मेमोरियल भेजे गये। स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यभाषा (हिन्दी) को सर्वात्मना देशोन्नति का मुख्य आधार मानते थे; अतएव उन्होंने १७ अगस्त, सन् १८८२ ई० को एक पत्र में राजा दुर्गाप्रसादजी को आदेश देते हुए लिखा—

"अति शोक करने की बात यह है कि आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा (हिन्दी) के राज-कार्य में प्रवृत्त होने के अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन नियुक्त हुआ है) उसमें पंजाब हाथा आदि से मेमोरियल भेजे गए हैं; परन्तु मध्यप्रान्त, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गए, ऐसा ज्ञात हुआ है। गत दिवस नैनीताल-सभा की ओर से एक इसी विषय में पत्र आया था। उसके अवलोकन से निश्चय हुआ कि पश्चिमोत्तर देश से मेमोरियल नहीं गये। इसलिए आपको अति उचित है कि मध्यप्रदेश में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहाँ-जहाँ परिचय हो सब नगर या ग्रामों से मेमोरियल भिजवाइए। यह काम एक के करने का नहीं और अवसर चूँकि, वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ, तो आशा है कि मुख्य सुधार की एक नींव पड़ जायगी। आप स्वयं बुद्धिमान हैं। इसलिए विशेष लिखना आवश्यक नहीं।"

●

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

अंग्रेज़ी भारत के लिए वरदान या अभिशाप ?

बहुसंख्यकों के हितों की रक्षा की अवहेलना और उपेक्षा करके अल्पसंख्यकों को संग्रह करके——और वे भी ऐसे अल्पसंख्यक, जो दाल में नमक के बराबर भी नहीं हैं——उनकी नीति कभी भी जनतन्त्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकती।

आँकड़े क्या कहते हैं ?

अंग्रेज़ी जिन लोगों के वास्ते कायम रखी जा रही है, जिन घरों और कुलों में चार-पांच पीढ़ी से अंग्रेज़ी पढ़ी जा रही है, जो लोग अंग्रेज़ी जानने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के फौलादी ढाँचे के अंग थे, जो लोग इस देश के दीन-हीन जनों पर १९४२ में आकाश से बम-वर्षा कराने के जिम्मेदार हैं, जो स्वाधीनता-संघर्ष का सदा विरोध करते रहे और आज जो भ्रष्ट शासन के लिए जिम्मेदार हैं, वे लोग चाहते हैं कि शासन, राज-काज और कचहरियों में आज के समान अंग्रेज़ी बदस्तूर चलती रहे। किन्तु, प्रश्न यह है, इनकी संख्या कितनी है ? जनसंख्या के कितने भाग का ये लोग प्रतिनिधित्व करते हैं ?

भारत से विभिन्न प्रदेशों की कुल जनसंख्या, उसके साक्षरों की संख्या और अंग्रेज़ी जानने वालों की प्रतिशत संख्या, एवं साक्षरों में अंग्रेज़ी जानने वालों की प्रतिशत संख्या देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि यह अल्पसंख्यक वर्ग अंग्रेज़ी को भारत की भाषा इसलिए बनाए रखना चाहता है कि जिससे आज के समान भविष्य में भी देश का शासन-सूत्र और उसकी बागडोर उनके वंशजों के ही हाथ रहे। प्रश्न यह है कि क्या इन लोगों के हाथ में शासन-सूत्र रहने से देश में सच्चा जनतंत्र कायम हो सकता है ? ज़रा अंग्रेज़ी जानने वालों की प्रतिशत संख्या को देखिए —

नाम प्रदेश	कुल जनसंख्या	प्रतिशत साक्षरों की संख्या	अंग्रेज़ी जाननेवालों की संख्या
असम	११,८६०,०५९	२५.८	
आन्ध्र	३५,९७७,९९९	२०.८	१.२
उड़ीसा	१७,५६५,६४५	२१.५	०.४३
उत्तर प्रदेश	७३,७५२,९१४	१७.५	
केरल	१६,८७५,१९९	४६.२	१.५
गुजरात	२०,६२१,२८३	३०.३	१.०
प० बंगाल	३४,९६७,६३४	२९.१	२.३१
पंजाब	२०,२९८,१५१	२३.७	२.२५
विहार	४६,४५७,०४२	१८.२	
मद्रास	३३,६५०,९१७	३०.२	१.१२
मध्य प्रदेश	३२,३९४,३७५	१६.९	
महाराष्ट्र	३९,५०४,२९४	२९.७	१.०
मैसूर	२३,५४७,०८१	२५.३	१.१
राजस्थान	२०,१४६,१७३	१४.७	

पश्चिमी बंगाल और पंजाब में अंग्रेज़ी जाननेवालों का प्रतिशत अधिक होना स्वाभाविक है। कलकत्ता, शिमला और दिल्ली (पंजाबियों का गढ़) ब्रिटिश-काल में भारत की राजधानी रहे। दफ्तरों के लिए आवश्यक बाबू इन दोनों प्रदेशों ने ही दिए। किन्तु कुल साक्षरों में अंग्रेज़ी जाननेवाले पंजाब में १५ प्रतिशत, प० बंगाल में १० प्रतिशत और मद्रास में ६ प्रतिशत हैं। साक्षर ही समाज का नेतृत्व करेंगे, यह मानने पर भी, यह तो नहीं कहा जा सकता कि साक्षरों में भी जो अल्पसंख्यक वर्ग है, उसकी सुविधा को प्रथम स्थान देना न्यायपूर्ण कार्य होगा और इनके मुकाबले बहुसंख्यकों को नगण्य मानना, क्योंकि वे एक विदेशी भाषा न जानने के अपराधी हैं, बुद्धिमत्तापूर्ण और दूरदर्शितापूर्ण कार्य होगा ? इसलिए अंग्रेज़ी को राजभाषा कायम रखने के समर्थक राष्ट्रीयता को पुष्ट करने, राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण रखने की भावना से अंग्रेज़ी को प्राण देना चाहते हैं— यह नहीं कहा जा सकता है। उनका एकमात्र उद्देश्य जनतन्त्र को पूर्ण रूप में विकसित न होने देना है और शासन की बागडोर अपने सीमित वर्ग के हाथ में रखना है।

रोम साम्राज्य का अन्त हुआ। लेटिन भाषा छिन्न-विच्छिन्न हो गई, जैसे रोम साम्राज्य छिन्न-विच्छिन्न हो गया था। इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगीज़, फ्रेंच और रूमानियन बोलियों में लेटिन विभक्त हो गई। ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्त होने के साथ अंग्रेज़ी भी अमेरिकी, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलियाई, भारतीय आदि अंग्रेज़ी बोलियों में प्रकट होने लगी है। इसकी एकरूपता नष्ट हो रही है। आक्सफोर्ड की अंग्रेज़ी और न्यूयार्क की अंग्रेज़ी को एक कहना और मानना सरासर भूल होगी।

प्रश्न यह है क्या स्वाधीन भारत अंग्रेजी भाषा के साम्राज्य को बनाए रखने के लिए अपनी शक्ति का अपव्यय करेगा ? राष्ट्र मण्डल (ब्रिटिश कामनवेल्थ) भी आज जीवित है (यूरोपीय संघ और ऐक्य बाज़ार बनने की सम्भावना से इसका जीवन यद्यपि संशयग्रस्त हो गया है) जो इस कारण है, कि रावी के तट पर घोषित घोषणा को भूल कर भारत इसका आज भी सदस्य है। यदि अंग्रेज़ी भी विश्व-भाषा बनेगी तो, भारत का बल और भारत की सहायता पाकर। ४४ कोटि की विराट जनशक्ति जिधर झुकेगी, वहीं विजयी होगा। यह कोरी कल्पना है, इसमें आत्मगौरव की भावना ही नहीं है।

भारत की बौद्धिक योजना

अंग्रेज अंग्रेज़ी के भविष्य के बारे में अत्यन्त चिन्तित हैं। यूरोपीय ऐक्य बाज़ार की भाषा फ्रेंच या जर्मन है, अंग्रेज़ी कभी न होगी। हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में फ्रेंच भाषा में लिखी सन्धियाँ, कनवेनशन, राजपत्र, खरीते प्रमाणित माने जाते हैं, अंग्रेज़ी के नहीं; इसलिए ब्रिटिश-साम्राज्य की समाप्ति के साथ इसका विस्तार इंगलैण्ड तक सीमित रहना स्वाभाविक है। इसी कारण सर विंस्टन चर्चिल ने युद्धकाल में प्रस्ताव किया था कि अमेरिका और इंगलैण्ड एक राष्ट्र हो जाएँ। अब अतलान्तक संघ की चर्चा हो रही है; परन्तु भारत के प्रधानमन्त्री ने जब से यह घोषणा की है कि डरो नहीं १९६५ के बाद भी अंग्रेज़ी भारत की राजभाषा रहेगी। अंग्रेज़ों की चिन्ता दूर हो गई है, और वे मानने लगे हैं कि अंग्रेज़ी को विश्व-भाषा बनाने का श्रेय भारत के प्रधानमन्त्री को है। किन्तु, इसके साथ ही ब्रिटेन के भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री सर डेविड एनक्लेज (रोम में अंग्रेज़ी के भविष्य पर दिया गया भाषण) यह भी मानते हैं कि भारत के प्रधानमन्त्री ने अपना पुराना संकल्प

छोड़कर कि १९६५ के बाद अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी लेगी, ब्रिटेन के सम्मुख पराजय स्वीकार कर ली है। वस्तुतः यह भारत की बौद्धिक पराजय है। क्या भारत इस राष्ट्रीय अपमान को अंग्रेजी को प्राणदान देकर सहन करेगा? क्या यह शर्म और लज्जा की बात नहीं है कि ४४ कोटि जनों के राष्ट्र की अपनी कोई एक भाषा न हो, और पन्द्रह लम्बे वर्षों में भी वे एक राष्ट्रभाषा का निर्णय न कर सके? १५ अगस्त, १९४७ के बाद गोरी सेना के साथ-साथ अंग्रेज़ी को भारत से विदा न करना एक भयंकर राष्ट्रीय भूल थी। किन्तु, १९६५ के बाद भी अंग्रेजी को चालू रखना भयंकर राष्ट्रीय अपराध ही न होगा, बल्कि भारतीय जनतन्त्र पर जोरदार एक विदेशी हमला भी होगा। प्रश्न यह है कि स्वाभिमानी भारत राष्ट्र क्या पुनः एक बार ब्रिटेन से बौद्धिक और मानसिक पराजय स्वीकार करेगा? सर डेविड ने १९६५ के बाद अंग्रेज़ी को भारत में जीवित रखने की प्रधानमन्त्री की घोषणा को ब्रिटेन की विजय और भारत की पराजय कहा है।

राष्ट्रभाषा के बिना आजादी बेकार

अंग्रेज़ी इस देश के लिए अभिशाप है, तरुणों के उत्साह को नष्ट करनेवाली और युवकों के मनोरथों की हत्यारी है। यह हर साल हमारे सामने प्रकट होता है, फिर भी अंग्रेज़ी को हम पूतना न मान कर चामुण्ड-मर्दनी दुर्गा मान रहे हैं। प्रतिवर्ष देश भर में लगभग दस लाख छात्र मैट्रिक की परीक्षा में बैठते हैं। इनमें से लगभग ६ लाख अनुत्तीर्ण होते हैं। अनुत्तीर्ण ६ लाख में से चार लाख अँग्रेज़ी में उत्तीर्ण न होने के कारण अनुत्तीर्ण होते हैं। इस पर भी दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति आग्रह कर रहे हैं कि जिस स्कूलोत्तीर्ण छात्र के अंग्रेज़ी में ५० प्रतिशत अंक न हों, उसको बी० ए० या बी० एस०-सी० में प्रवेश न दिया जाय। अंग्रेजी देश के बौद्धिक विकास को अवरुद्ध कर रही है, बुद्धि को कुण्ठित कर रही है, राष्ट्र की प्रगति को रोक रही है। क्या उस विदेशी भाषा को सिंहासन पर आसीन करना, मृत बच्चे को छाती से चिपटाए रखने के समान क्या नहीं है?

बात-बात में अंग्रेज़ी की दुहाई दी जाती है; किन्तु इस देश से जब अंग्रेज़ी के निष्कासन की बात आती है, तब वे ही लोग जो बात-बात में अंग्रेज़ी शिक्षा की दुहाई देते हैं। वे स्वयं उनकी हिन्दी के विषय में कही अपनी ही बातों को भूल जाते हैं, या जान कर भी उसकी उपेक्षा करते हैं।

●

लक्ष्मीकान्त वर्मा

हिन्दी के लेखकों तथा विचारकों से

मुझे खेद होता है जब हिन्दी की सीधी-सी बात को हमारे साहित्यकार, चिन्तक और बुजुर्ग राजनीतिज्ञ ज़बर्दस्ती उलझा कर देखने की चेष्टा करते हैं। आज शासन-सत्ता को पाकर हमारे वे क्रान्तिकारी लोग, बीते हुए समझौतावादियों से उधार ली हुई पचास वर्ष पुरानी भाषा बोलते हैं। समझ में नहीं आता कि स्वयं भोगा हुआ इतिहास हम क्यों और कैसे भूल सकते हैं? सप्रू और जयकर की पचास वर्ष पुरानी भाषा हमारे क्रान्तिकारी नेताओं की भाषा बन गई है। ऐसी बातों से मेरी आत्मा को पीड़ा पहुँचती है, मेरे कलाकार व्यक्तित्व को ठेस लगती है। यह बातें डंक के समान चुभती हैं। मेरे जीवन-दर्शन को यह चुनौती देती हैं। मेरी उपलब्धियों को खण्डित करती हैं। मेरी आस्थाओं को शंकित करती हैं। यदि मात्र इतना ही होता, तो भी मैं चुप रह जाता, क्योंकि मुझमें मूक वेदना सहन करने की क्षमता है। मैं उस दर्द को भी भोग सकता हूँ, जो अनास्थावादियों और अविश्वासियों के साथ भोगा जा सकता है। मैं इसे भी झेल लेता। शायद मैं जीवन का सब अपमान सह सकता हूँ, किन्तु अँग्रेज़ी भाषा के प्रति यह आग्रह मुझे अपमान से भी अधिक लगता है; क्योंकि मुझे नपुंसक के दर्शन के प्रति घृणा रही है। बुद्धिवादी प्रायः इस कृत्रिमता का शिकार हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि हम इससे उबर कर कुछ दूसरे प्रकार के निर्णय लेंगे। जीवन एक क्रियाशील चेतना है। यह चेतना तभी विकसित होती है, जब हम जीवन के प्रत्येक क्षण के यथार्थ के प्रति जागरूक होते हैं; किन्तु मैं अपने लेखक-वर्ग के मूर्धन्य साहित्यकारों में एक हीले-हवाले की प्रवृत्ति देख रहा हूँ। इस हीले-हवाले के पीछे कहीं स्वार्थ काम करता है, तो कहीं राज-वैभव की स्वर्ण-धूलि आकर ज़बान पकड़ लेती है। कहीं राज-मोह, कहीं राज-पुरस्कार, कहीं राज-अनुदान के आगे आज हमारी वाणी गिरवी-सी रक्खी लगती है। मुझे लगता है कि हमारे अग्रज और कुछ सहयात्री बन्धु इसकी गम्भीरता को नहीं समझते। मुझे दुख होता है, क्योंकि मैं अपनी वाणी को सप्राण, फैलती हुई, सवेग ओज-पूर्ण रूप में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते देखना चाहता हूँ; किन्तु आज हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई है कि उसे स्वयं अपना ही ब्रह्म-राक्षस ध्वंस कर रहा है और उसका अंग्रेज़ी से समझौता कराया जा रहा है। भारत ही एक ऐसा अभागा देश है, जहाँ भाषा में साझीदारी का व्यवसाय चलाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसे लेखकों से––जो महाभारत के महारथियों की तरह भाषा का अपमान, केवल धान्य-ऋण के नाते, मौन हो कर सह रहे हैं––मेरा विनम्र निवेदन है कि वे आज के इस ऐतिहासिक कुकर्म के भागी मत बनें, नहीं तो आने वाली पीढ़ी उन्हें कायर कहेगी। लगता है, जैसे हमारा लेखक-वर्ग इस दीवार से बिना

टकराये चूर हो गया है। यह स्थिति भयावह है; क्योंकि इससे स्वयं मेरे अन्तर्मन के बिम्ब, विचार, खण्डित होते हैं। एक विद्रोह की भावना उठती है। एक आग-सी चमक उठती है। मुझे लगता है कि जितनी देर अँग्रेज़ी हमारे ऊपर लदी रहेगी, उसी अनुपात में हम भविष्य में भी हजारों वर्ष तक किं-कर्त्तव्यविमूढ़ बने रहेंगे; इसलिए जागरूक कलाकार के नाते मैं अपने को दफन कर देना पसन्द नहीं करता। अपनी वाणी को दफन करना मुझे मौत से भी भयावह स्थिति लगती है। मैं अंग्रेज़ी हटाने का समर्थक इसलिए हूँ, ताकि मैं अपनी वाणी को अर्थ दे सकूँ। हमारा देश, हमारी राष्ट्रीय चेतना, हमारा सांस्कृतिक उत्थान, हमारे विचारों का अभियान, हमारी दृष्टि की पावनता, हमारे विवेक का संचार, सप्राण और आत्मनिष्ठ हो सके। एक बात इस सम्बन्ध में स्पष्ट होनी चाहिए कि कोई भी रखैल भाषा हमारा रक्तदान नहीं ले सकती। केवल हमारी भाषा में ही वह क्षमता हो सकती है।

अधूरी स्वतन्त्रता और दफ़्तरी संस्कृति

आज मुझे लगता है कि वर्षों पूर्व हमने जिस क्रान्ति को अपना रक्त दे कर सींचा था, वह अधूरी है। जो नैतिक निर्णय उस समय हमने लिये थे, वे अधूरे रह गये हैं। आज की स्थिति तो यह है कि अंग्रेज़ तो चले गये हैं; लेकिन उनका प्रेत हमें आज भी जकड़े हुए हैं। इसीलिए मुझे लगता है कि आज की परिस्थितियों में अपने अधूरे संकल्प को हम तभी पूरा कर सकते हैं, जब हम उसी भावना से अँग्रेज़ी को भी अपने देश से निकाल दें। हमारी स्वतन्त्रता उस समय तक खोखली रहेगी, जब तक कि हम भाषा के स्तर पर अंग्रेज़ी, और विचार-विवेक के स्तर पर अंग्रेज़ियत को निकाल बाहर नहीं करेंगे। व्यवस्था में जब तक अँग्रेजी रहेगी, तब तक संस्कृति स्वतन्त्र और स्व-राष्ट्रीय नहीं हो सकती; क्योंकि बिना सच्चा भारतीय बने, न तो हम अँग्रेज़ी का ही आदर कर सकेंगे और न हिन्दी का। आदर करना तो दूर रहा, हम उसके गहन संदर्भ को भी नहीं समझ सकते। स्वाभिमानी व्यक्ति ही दूसरे को स्वाभिमान दे सकता है, उसकी क़द्र कर सकता है। हम क्या करेंगे? जब हम अपनी ही भाषा को प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं, तो किसी भी अन्य भाषा का झण्डा हम क्या उठायेंगे? जब हम अपना संस्कार, अपना इतिहास, अपना स्वत्व गिरवी रख कर दुहाई देने लगते हैं, तब हमें लगता है कि कहीं हम ज़रूरत से ज्यादा झूठे और ग़द्दार हो गये हैं। इतिहास की प्रामाणिकता और भूगोल के यथार्थ को भोगने के लिए अपनी वाणी परम आवश्यक है। अपना भूगोल इसलिए कि हम जानें कि हिमालय कहाँ है; अपना इतिहास इसलिए कि हम समझें कि हिमालय का सांस्कृतिक महत्व क्या है, अपनी भाषा इसलिए कि इतिहास के संस्कार और भूगोल के यथार्थ को हम एक सूत्र में बाँध कर उस भावात्मक एकता और दायित्व को वहन कर सकें, जो हमें स्वाभिमान और आत्मबल दे सके, हमें संगठित और जागरूक बना सके, दृष्टि और संदर्भ दे सके। भाषा के बिना हम उखड़े हुए लोग न ऐतिहासिक संकल्प रख सकेंगे और न भूगोल के सत्य को ही स्वीकार कर पायेंगे। अभी तो केवल कैलास और मानसरोवर ही गया है। यदि स्वदेशी भाषा से उच्छिन्न हो कर हम दस वर्ष और जी ले गये, तो अजब नहीं कि स्वयं हमारा हिमालय ही हमें अजनबी लगने लगे। वह दिन दूर नहीं है, जब हमारी सन्तान यह सीख कर निकलेगी कि हिमालय का क्या महत्व है, वह तो बंजर और ऊसर है। भाषा हमें कल्पना द्वारा अनन्त बना देती है, किन्तु वही जब संस्कारनिष्ठ होती है, तब हमें मर्यादित

सीमाओं का भी बोध करा देती है। आज हमारा शासक-वर्ग शायद इस सत्य को नहीं मानता। उसने हमारी ज़बान काट कर दूसरी ज़बान जोड़ने का गन्दा नाटक कर रक्खा है। आज इन सत्ता वालों ने समूचे राष्ट्र को अपराधी की भाँति गूँगा बना कर छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में जब यह दो ज़बान और तीन ज़बान की बात करते हैं, तब व्यंग्य-सा लगता है। दो ज़बान तो छिपकलियों की होती है, साँपों की होती है। आदमी की ज़बान एक होती है और वह उसी एकता के बल पर मनुष्य कहलाता है।

जब मैं यह कहता हूँ कि हमारी स्वतन्त्रता अधूरी है, तब मेरे दिमाग़ में उस दफ्तरी संस्कृति का अभिशाप भी सजीव हो उठता है, जो निर्वैयक्तिक होने के साथ-साथ आज स्वाभिमान रहित हो गई है। आज का युग ही विचित्र बना दिया है इस संस्कृति ने। कुछ नौकरों की भाषा सम्पूर्ण जनता पर थोपी जा रही है। कुछ संस्कारच्युत व्यक्तियों के हित के लिए अँग्रेज़ी का पालन-पोषण हो रहा है। हिमालय की सीमाओं के खिसकने से ले कर अँग्रेज़ी भाषा के मोह तक में हमारी व्यक्तित्वहीन, स्वाभिमानहीन और मिज़ाजशून्य संस्कृति पनपाई जा रही है। मुझे लगता है, इसकी कृत्रिमता ही उन समस्त आपत्तियों का मूल है, जो परराष्ट्रनीति से ले कर स्वराष्ट्रनीति तक में व्याप्त हो रही है। और ऐसा होने का कारण है कि हमारी संवेदनाओं का अंग बन कर हमारी कोई भी राष्ट्रीय नीति प्रस्तुत ही नहीं हो पाती। यह भी मात्र इसलिए नहीं होता कि कोई एक व्यक्ति मनचाहा करता है। ऐसा होता है भाषा की अनभिज्ञता के कारण। भाषा के द्वारा जो रागात्मक सम्बन्ध राष्ट्रीय चरित्र बनाने में उपयोगी सिद्ध होता, आज उसी को घायल कर दिया गया है, और तब दफ्तर की फ़ाईलों पर दफ्तरी संस्कृति के कठपुतले निहायत ही खोखले स्वरों में 'राष्ट्रीय एकता', 'भावात्मक एकता' का नारा लगा कर शून्य में टकराने अथवा शैडो बॉक्सिंग करते लगते हैं। यह भी हमारे देश का दुर्भाग्य है कि यह दफ्तरी संस्कृति उत्तर-दक्षिण का भेद पैदा करके, उसकी खाई को बढ़ा कर अब अँग्रेज़ी के माध्यम से राष्ट्रीय एकता का ढोंग रच रही है।

संविधान की पावनता नष्ट मत करो

बात यहीं तक नहीं रह जाती। यह दफ्तरी संस्कृति हमारे देश के लिखित विधान की पावनता तक स्वीकार नहीं करती। अँग्रेज़ी को क़ायम रखने के लिए संविधान में संशोधन किया गया है। इन लोगों ने संविधान को एक रबर का गेंद बना रक्खा है, जब जिधर चाहते हैं दबा देते हैं, जिधर चाहते हैं ठोकर मार कर फेंक देते हैं। इनसे कोई यह पूछने वाला नहीं है कि संविधान की यह दुर्दशा करने का इन्हें क्या अधिकार है? अमरीका का संविधान या किसी भी देश का लिखित संविधान कितनी बार बदला गया है? लेकिन जैसा मैंने कहा है, दायित्वपूर्ण नैतिकता इनमें है ही नहीं। नैतिकता को तो इन लोगों ने सहूलियत की चीज़ बना लिया है। डनलप-पिलो की तरह ये लोग संविधान, राष्ट्रनीति, परराष्ट्रनीति सब को दबाते चलते हैं, किन्तु यह हवाई आराम उसी समय तक चलता या चल सकता है, जब तक कि जनता की समझ में बात नहीं आती। आज प्रायः सभी लोग यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि जिस दिन इस ढोंग का भाण्डा फूटेगा, फिर कोई नज़र नहीं आयेगा। संविधान की इस पावनता का खण्डन यह सिद्ध करता है कि सत्तारूढ़ शक्ति कहीं दुराव से काम ले रही है। यह कार्य मात्र ग़लत

ही नहीं कहा जा सकता, यह उससे भी बढ़ कर अनैतिक है, अराजनीतिक, अरुचिकर और लांछनपूर्ण है।

न्यायालयों की भाषा

संविधान के प्रश्न के साथ-साथ हमारे सामने संविधान द्वारा प्राप्त अधिकारों का भी प्रश्न है। ये अधिकार सुरक्षित कैसे रह सकते हैं? वस्तुस्थिति तो यह है कि आज हमारे देश का साधारण आदमी, सक्रिय राजनैतिक, सांस्कृतिक और वैचारिक सूत्रों से इतना दूर कर दिया गया है कि वह अपने प्राकृतिक अधिकारों के विषय में भी कुछ नहीं जानता, या उस समय जानता है, जब कोई वकील उसे बताता है। कभी-कभी, जब मैं इसके कारण पर विचार करता हूँ, तो इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाता हूँ कि यह दूरी और अनभिज्ञता मात्र इसलिए है कि हमारे देश का पूरा संविधान हमारी भाषा में हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। हमारे सारे तर्कवितर्क, हमारी सारी चिन्तनधारा अँग्रेज़ी में हुई है और हिन्दी में उसका रूपान्तर महज़ एक ख़ानापूरी के रूप में कर दिया गया है। संविधान के वे मूलाधार, जिन पर हमारी नागरिकता आधारित है, हमारे रक्त में मिल नहीं पाये हैं। इसके दो कारण हैं---एक तो देश में व्याप्त अशिक्षा, दूसरे संविधान से लेकर ताजीरात हिन्द तक का अँग्रेज़ी में होना। इसका सब से बड़ा व्यंग्य तो तब देखने को मिलता है, जब व्यक्ति का अर्ज़ी दावा स्वयं उसे नहीं मालूम होता। उसकी जानकारी केवल एक मध्यस्थ, वकील के माध्यम से ही उसे होती है। वह यह तक नहीं जानता कि उसकी वेदना को वकील किस रूप में व्यक्त कर रहा है। एक अभियोगी यह नहीं जानता कि उसका अपराध क्या है और न्यायालय ने जो दण्ड उसे दिया है वह क्या है? इसके लिए भी उसे वकील के अधीन रहना पड़ता है। शायद ही संसार में कोई ऐसा देश हो, जहाँ अभियोगी या पीड़ित नागरिक न्यायालय की भाषा समझने में असमर्थ हो। यह स्थिति केवल हमारे देश की ही है। न्यायालय में जो न्याय के लिए जाता है, वह अपनी पीड़ा भी अपनी ज़बान में नहीं कह पाता। निर्णय के विषय में भी वह तभी जान पाता है जब उसे उसका वकील बताता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे न्यायालयों द्वारा हमारे अधिकारों की रक्षा हो सकती है? अर्ज़ी दावा से ले कर बहस और निर्णय तक जब अँग्रेज़ी में होते हैं, तो फिर उसका अपना दुख-दर्द कहाँ है? आज हमारी वर्तमान सत्ता, न्याय की भाषा को भी विदेशी भाषा बनाये हुए हैं। वह नहीं चाहती कि न्याय या संविधान सब के लिए उपलब्ध हो सके। मैं हिन्दी के लेखकों और विचारकों से विनम्रता के साथ यह निवेदन करूँगा कि भाषा सम्बन्धी इस व्यंग्य पर भी वह विचार करें।

●

बोरिस कल्यएनेव

अंग्रेजी की गुलामी के खिलाफ एक रूसी चिन्तक के विचार

भारत के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दो शताब्दी पूर्व से हिन्दी जिन परिस्थितियों में विकसित हुई है, वे हिन्दी के शिक्षा का माध्यम होने और खासकर विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में, बड़ी बाधक रही हैं। इसलिए, हमें ऐसा लगता है कि केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय वैज्ञानिक और तकनीकी हिन्दी शब्दावली को विकसित करने और उसको जनप्रिय बनाने का जो कार्य कर रहा है, वह भारत के सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस निदेशालय के कार्य में सोवियत रूस के भारतवेत्ताओं में इस सम्बन्ध में काफी रुचि और उत्साह पैदा हुआ है, इसलिए जाहिर है कि हम किसी तरह का चालू सुझाव मात्र देकर चुप नहीं हो जाना चाहते। बल्कि, हम हिन्दी को नयी शब्दावली के निर्माण और उसके विकास की बात पर विचार करने बैठे हैं, तो उस पर अपने तर्क और अपना मत-वैभिन्य भी सामने रखना चाहते हैं।

अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं

"अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली" शब्द को ही लीजिए। जब तक इसके साथ किसी भाषा का नाम न जुड़ा हुआ हो, तब तक यह शब्द अपने आप में बड़ा अस्पष्ट है। जब किसी भाषा से उसे जोड़ देते हैं, तब यह शब्द सुनिश्चित अर्थ देने लग जाता है। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा में उस विदेशी भाषा के शब्द स्वीकार किए जाने लगते हैं, जो उस समय देश में बहुप्रचलित हों। उदाहरण के लिए पीटर प्रथम के समय रूस में बहुत सारे शब्द जर्मन और अंग्रेजी के भी प्रचलित थे। बाद में फ्रेंच भाषा सबसे अधिक फैशनेबुल भाषा बन गयी, जिसका सीखना उस हर खासो आम के लिए जरूरी हो गया, जो सामाजिक सीढ़ियों पर कदम रखना चाहता था। और आज भी रूसी भाषा में अनेक विदेशी शब्द दिखायी पड़ते हैं, जिसका श्रेय रूस के वैज्ञानिकों को है। जो दुनिया के अन्य वैज्ञानिकों से व्यापक धरातल पर मिलते और वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का आपसी आदान-प्रदान करते रहते हैं। यहाँ पर यह बात ध्यान देना जरूरी है कि ऐसी बातों में ताली एक हाथ से नहीं बजती। रूस की नयी सामाजिक प्रणाली ने दुनिया के सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में अनेक नये शब्दों को जन्म दिया है। जो दुनिया की दूसरी भाषाओं के अपने अंकस बन गये हैं। कहीं-कहीं वे ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए हैं और कहीं-कहीं उनमें थोड़ा परिवर्त्तन कर लिया गया है। उदाहरण के लिए लीजिए— "स्पुतनिक" शब्द—रूस का यह शब्द दुनिया के हर कोने में प्रचलित हो गया है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, वहाँ अंग्रेजी का प्रयोग होता रहा है; इसलिए वहाँ जब अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली की बात

उठती है, तब स्वभावतया लोग अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली को अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली मानने लगते हैं।

रूस में अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कैसे अपनाए जाते हैं ?

रूसी और हिन्दी के विकास की अनेक बातों की जब हम तुलना करने बैठते हैं, तब हमें पता चलता है कि कम-से-कम रूस में सभी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा के लिए रूसी सबसे प्रमुख भाषा है। इसमें कोई अपवाद नहीं है। भारत में करीब दो शताब्दियों तक यहाँ की शिक्षा-पद्धति पर अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व रहा और वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा में अभी भी उसी का प्रभुत्व है। कुछ कालेजों में, जहाँ कला के विषय पढ़ाये जाते हैं, वहाँ हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जा रहा है। ऐसा भारतीय समाचार-पत्रों में पढ़ने में आया है, मगर अंग्रेजी को यदि सह-भाषा बनाया गया, तो स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

हमारी समझ में रूसी और हिन्दी के प्रयोग में जो अन्तर है, उसका मुख्य कारण है विदेशी शब्दों को आत्मसात करने और उसके प्रति दृष्टिकोण में। हिन्दी और रूसी की प्रक्रिया कुछ अलग-अलग है। विदेशी शब्द या कह लीजिए—"अन्तर्राष्ट्रीय शब्द" जो रूसी भाषा में प्रवेश पाते हैं, वे भाषा की रचना प्रक्रिया से होकर गुजरते हैं और व्यवहार में आते-जाते जब जनता द्वारा उनकी ग्रहणशीलता की खूब परीक्षा हो जाती है, तब अपने आप वे भाषा का एक अंग बन जाते हैं। और यह प्रक्रिया अपने बहुप्रचलन और बहुपक्षता के साथ रूस में एक सांस्कृतिक आन्दोलन के बाद सम्भव हो सकी है, जब कि निरक्षरता मिटा दी गयी। विज्ञान अपने पूरे अर्थों में कुछ चुनिन्दा लोगों की चीज न रह कर आम जनता की चीज हो गयी। ऐसी परिस्थितियों के बाद ही जनता किसी विदेशी शब्द की स्वीकृति या अस्वीकृति के निश्चय की अधिकारिणी मानी गयी है। जैसे कि जनता ने हमारे यहाँ एयरोप्लेन, हेलीकाप्टर-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के शब्द नहीं ग्रहण किये। उनके लिए अपने पुराने रूसी शब्दों का ही व्यवहार करना उचित समझा जब कि 'सिन्कोफैसोट्रोन" "एटम" "एटामिकरिएक्टर" जैसे शब्द व्यवहार में ले लिए गए।

हिन्दी को तुरत शिक्षा का माध्यम बनाइये !

भारत में वहाँ के वैज्ञानिक जीवन और शिक्षा-पद्धति में अंग्रेजी ने जो एकाधिकार जमा रखा है, वह हिन्दी के प्रयोग का क्षेत्र सीमित कर देता है। इससे जनता के द्वारा शब्द-व्यवहार की बात पूरी तरह उभर नहीं पाती। स्पष्ट है कि हिन्दी की जो वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली बनायी जा रही है, वह केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित शब्दकोश की सीमाओं में आबद्ध नहीं रहेगी और आम व्यवहार में तभी आ सकेगी, जब उसका व्यवहार रोज किया जाय। और यदि इस शब्दावली को भारतीय वैज्ञानिकों और विज्ञान के विद्यार्थियों तथा बुद्धिजीवियों ने रोजाना के इस्तेमाल में ले लिया, तो यह विकसित हो जायगी और उसे सार्वभौमिक रूप प्राप्त हो जायगा।

यह एक सवाल सामने आता है कि हिन्दी को अभी से माध्यम बनाया जा सकता है, या तब तक प्रतीक्षा की जानी चाहिए, जब तक हिन्दी में कुछ वैज्ञानिकों और तकनीकियों की पुस्तकें प्रकाशित होकर सामने न आ जायें ? कहावत है कि घड़ी अगर बहुत दिनों तक बन्द पड़ी रही, तो

उसके पुर्जों में जंग लग जाता है। उस्मानिया युनिवर्सिटी हैदराबाद ने एक बार उर्दू में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली बनाने का प्रयास किया था, मगर जैसा कि सब को मालूम है, वह आम इस्तेमाल में नहीं आ पायी। रोजमर्रा के इस्तेमाल में कहीं उसको न लाया जाना, उसमें जंग लग जाने का सबसे बड़ा कारण था। इससे यही नतीजा निकाला जा सकता है कि हिन्दी शब्दावली की सफलता के लिए उसका तुरन्त इस्तेमाल में आजाना बहुत जरूरी है, जिससे कि उसका प्रचलन शुरू हो जाय और वह विकसित हो जाये, ताकि जब विज्ञान तथा अन्य विषयों के शिक्षण में हिन्दी को दृढ़ता से लागू किया जाये, तो कोई अड़चन न उपस्थित हो।

कुछ भारतीय भाषाविद् विदेशी शब्दों के इस्तेमाल में यह एतराज पेश करते हैं कि बहुत सारे अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अंग्रेजी शब्दों का आ जाना किसी भाषा को बरबाद कर देता है, उसे भ्रष्ट कर देता है। इस एतराज के दो पहलू हैं—पहला है सामाजिक पहलू। एक दृष्टिकोण यह है कि अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है, जिस पद पर आसीन है, उसके सर्वथा अनुपयुक्त है। इसका बहिष्कार आवश्यक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली के रूप में अंग्रेजी शब्दावली ग्रहण करने की कम सम्भावना रह जाती है। यानी सूत्र रूप में इस दृष्टिकोणका तात्पर्य यह है कि——चाहे दुरूह सही, पर अपनी भाषा ही अच्छी। इस एतराज का एक ही निराकरण सम्भव है कि शिक्षा में हिन्दी को निश्चित रूप से अतिशीघ्र चालू किया जाना चाहिए तथा हिन्दी भाषी प्रदेशों के सरकारी काम-काज में उसका व्यवहार किया जाना चाहिए। यहीं एक बात और कि इस तरह से अंग्रेजी की एकाधिकार वाली स्थिति समाप्त होने लगेगी और भारतीय वैज्ञानिकों में केवल अंग्रेजी तक सीमित रहने से जो एक खास तरह की एकांगिता आ गयी है, उससे भी बचा जा सकेगा। मैं समझता हूँ यह बहुत जरूरी है, क्योंकि किसी भी वैज्ञानिक विचार अथवा अनुसंधान पर किसी अंग्रेजी भाषी देश का एकाधिकार अब नही रह गया।

शुद्ध भाषा या सादी भाषा ? निर्णायक जनता

एतराज के दूसरे पहलू को लीजिए। उसका संबंध भाषा-विज्ञान से है। हिन्दी भाषा का विकास किस दिशा में होना है, इस सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार हैं; लेकिन इस सवाल का हल भी भाषा-विज्ञान के दो भिन्न मतों वाले वर्गों के शास्त्रार्थ से नहीं निकल सकता। इस सवाल का हल अगर ढूँढ़ना ही है, तो जनता द्वारा भाषा के प्रयोग को एक जबरदस्त कसौटी बनाना पड़ेगा। हाँ, इससे एक बात जरूर होगी कि शब्दों की शुद्धता के नाम पर जो ख्वाहमख्वाह के शब्द बना दिए जाते हैं, उनकी दाल नहीं गल पायेगी। १९६० में रूस में रूसी भाषा के दो भिन्न वर्गों——पश्चिमी तथा स्लैवोनिक में बड़ा मतभेद था। पश्चिमी वर्ग का कहना था कि रूसी में अन्तर्राष्ट्रीय शब्द लिए जाने चाहिए। दूसरे वर्ग का मत था कि हर विदेशी शब्द के स्थान पर, चाहे वह कितना ही प्रचलित शब्द क्यों न हो, हमारी अपनी युगों पुरानी रूसी भाषा का शब्द इस्तेमाल किया जाना चाहिए। रूसी भाषा में न मिले, तो चाहे उसके लिए चर्च स्वोलैवोनिक भाषा से शब्द लेना पड़े। उन्होंने ऐसे तमाम गढ़े हुए शब्दों के उदाहरण भी दिए, जो बड़े हास्यास्पद और बनावटी लगते थे। जनता में बड़ा असंतोष फैला और उन शब्दों का काफी मजाक बना। उसमें से बड़ी कोशिश के बावजूद तमाम शब्द मर गये, थोड़े-से शब्द हैं, जो हमारे प्रयोग में आते हैं। बाकी अपनी अभि-व्यक्ति की कमजोरी के कारण नहीं चल पाये। यही बात हिन्दी में भी देखी जा सकती है। (नहीं

जानता कि इसका आधार क्या है; लेकिन अक्सर मैंने अपने भारतीय साथियों को "कंठ लंगोट" या "पत्र घुसेड़ू" जैसे शब्दों का मजाक बनाते सुना है।)

शुद्ध भाषा का सवाल भी विचाराधीन है। यह "प्यूरिज्म" (शुद्धता) लैटिन के शब्द प्युरिस से निकला है, जिसका मतलब न केवल प्योर होता है, बल्कि उसमें कुछ सादगी और आदिमपने का भाव भी है। इस समस्या से एक नयी समस्या पैदा हो जाती है, कठिन भाषा और सादी भाषा की। सादी भाषा के पक्षपाती कुछ ऐसे शब्द भी प्रस्तावित कर सकते हैं, जो बहुत ही सरल हिन्दी के हों। यह बात स्पष्ट है कि कोई बनावटी और कठिन शब्द राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति सफलता पूर्वक नहीं कर सकता। इस दृष्टिकोण को जनता के सामान्य सांस्कृतिक स्तर के पहलू से भी आँका जा सकता है कि क्या भाषा को अर्द्धशिक्षितों के स्तर तक सरल बना दिया जाना चाहिए। या बिलकुल अशिक्षितों के स्तर तक? अथवा साक्षरता का स्तर उठाया जाना चाहिए; ताकि जनता सामाजिक सम्बन्धों, विज्ञान तथा तकनीकी बारीकियों को समझ सके? रूस में सफलता मिली साक्षरता का स्तर उठा कर। 'सिन्कोफ़ैसोट्रोन' 'एटम' 'साइबरनेटिक्स' जैसे शब्द एक पढ़ा-लिखा बुद्धिजीवी भी समझता है और एक किसान और मजदूर भी।

जनता का सांस्कृतिक स्तर उठाने में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चीज और थी। लोकप्रिय वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से इसमें काफी मदद मिली। ये पत्रिकाएँ वैज्ञानिकों की अपनी प्रचलित भाषा तथा कथित औसत आदमी के बीच एक कड़ी बन गयी। सोवियत रूस में लोकप्रिय वैज्ञानिक प्रकाशनों की बड़ी खपत है। एक उदाहरण लीजिए—आइन्सटीन और उसके सापेक्षता के सिद्धान्त पर कुजनेत्सोव की पुस्तक का अभी हाल में मास्को में एक लाख का संस्करण प्रकाशित हुआ था, जो कि एक ही दिन में बिक गया। दूसरा संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। जाहिर है कि यह खपत अपने आप नहीं पैदा हो गयी। जनता में वैज्ञानिक प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जो दिलचस्पी पैदा हुई है, उसके लिए खासा काम किया गया है। और वैसी परिस्थितियाँ पैदा की गयी हैं, और यह साफ है कि जब तक भारत में विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेज़ी का एकाधिकार स्थापित रहेगा. जनता में दिलचस्पी नहीं पैदा की जा सकती। बल्कि अंग्रेज़ी में अपराध और जासूसी कहानियाँ और अश्लीलता भरी पत्रिकाओं की जो भरमार है, वह लोगों का ध्यान गम्भीर और महत्त्वपूर्ण समस्याओं से हटा कर गलत दिशा में ले जाती है।

यहाँ व्यक्त किए गए मेरे विचारों का उद्देश्य यह नहीं है कि हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली बनाने के सामने और प्रश्न चिह्न लग जायें। मैं तो इस समस्या के कुछ पहलू आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ, ताकि एक सन्तुलित निर्णय पर पहुँचा जा सके।

●

वाल्टर चेनिंग

अंग्रेजी की गुलामी के खिलाफ एक अमरीकी चिन्तक के विचार

भारतीय भाषाओं को सत्ता सौंपने पर अंग्रेजी को उसके पद पर और भी सुदृढ़ करने के प्रयास हो रहे हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसे लोकतांत्रिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों पर आस्था है, जो स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन, नवीन उद्‌भावनाओं तथा देश की आत्मा अर्थात् संस्कृति के निर्बाध विकास के लिए निजी भाषाओं के महत्त्व को समझता है, वह इस स्थिति को देख कर अवश्य ही उद्विग्न हो उठेगा।

अंग्रेजी को हटाने के लिए हजारों दलीलें दी गयीं, देश भर के सैकड़ों विद्वानों, साहित्यकारों, शिक्षा-शास्त्रियों और भाषा-शास्त्रियों ने एक स्वर से आवाज लगायी, प्रदर्शन और सत्याग्रह हुए, सभाएँ और सम्मेलन हुए; किन्तु सब व्यर्थ....सब बेकार....।

जब हम लोगों ने कहा कि किसी विदेशी भाषा का किसी स्वतंत्र राष्ट्र के राजकाज और शिक्षा की भाषा होना सांस्कृतिक दासता है; यह हर तरह के विकास में बाधक है, तब अपने को भारतीयता का साकार स्वरूप मानने वाले अंग्रेजी भक्तों ने हमें उत्तर दिया कि हम कट्टर दुराग्रही हैं। जब हमने कहा कि अंग्रेजी को राज-भाषा के पद पर बनाये रखने से सच्चा लोकतन्त्र नहीं पनप सकता, क्योंकि इससे शासक और जनता एक दूसरे से अलग पड़ जाते हैं, तब हमें बताया गया कि अंग्रेजी विश्व के साथ सम्पर्क बनाये रखने का माध्यम है! जब हमने कहा कि अंग्रेजी के शिक्षा का माध्यम होने से हमारे देश के विद्यार्थियों की अपरिमित शक्ति और समय का अपव्यय होता है, तब हमें बताया गया कि यह सब झूठ है। आधुनिक विज्ञान और यान्त्रिकी क शिक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से ही दी जा सकती है। और जब हमने महात्मा गान्धी के इन शब्दों को दुहराया कि--

"यदि मेरे पास एक निरंकुश शासक के अधिकार होते, तो मैं विदेशी भाषा के माध्यम से अपने लड़के और लड़कियों की शिक्षा को तुरन्त बन्द करा देता और सभी अध्यापकों और प्रोफेसरों से कहता कि इस परिवर्त्तन को तुरन्त लागू करो, नहीं तो नौकरी से बर्खास्त किये जाओगे। यह ऐसी बीमारी है, जिसका तुरन्त इलाज होना आवश्यक है।" तो उन्होंने इन शब्दों को अनसुना कर दिया।

हमें यह बताया जाता है कि अंग्रेजी को स्वीकार कर हम विश्व के अन्य स्वाधीन देशों के समकक्ष हो सकेंगे; लेकिन सच तो यह है कि हर देश राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद सांस्कृतिक स्वाधीनता स्थापित करने की चेष्टा करता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अमरीका तक ने अंग्रेजी भाषा का आडम्बरपूर्ण आधिपत्य स्वीकार करना मंजूर नहीं किया था।

जब अमरीका आजाद हुआ

भारत और अमरीका की परिस्थितियाँ लगभग एक समान रही हैं। दोनों एक समय अंग्रेजों के उपनिवेश थे। अमरीका ने भी चिरकाल तक संघर्ष करके अपने कन्धों से औपनिवेशिक जुए को उखाड़ फेंका था और तदुपरान्त लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की थी। भारत की तरह उसके सामने भी यह समस्या थी कि राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद सांस्कृतिक स्वाधीनता कैसे प्राप्त की जाये, अर्थात् अंग्रेजी भाषा की दासता से कैसे मुक्ति प्राप्त की जाये। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक अमरीका के साहित्यकारों को इस दासता की तीव्र अनुभूति हो चुकी थी। यद्यपि उस समय के अमरीका के अधिकांश नागरिक—आदिवासियों को छोड़ कर—ऐसे लोग थे, जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी थी। फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि उस देश की निजी विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति उसके स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन का विकास एक विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं हो सकता। उन्हें अपने सांस्कृतिक माध्यम के रूप में उस भाषा को अपनाये रखने में हीन भावना की अनुभूति हुई, जो किसी समय उनकी मातृभाषा रह चुकी थी। १९वीं शताब्दी के साहित्यिक क्षेत्रमें वाल्टर चेनिंग साहित्यकारों के इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्री वाल्टर चेनिंग (१७८६–१८७६) अमरीका की कला और विज्ञान अकादमी के सदस्य थे। वे न केवल प्रसिद्ध साहित्यकार थे, अपितु बहुत बड़े शिक्षाविद् भी थे। नार्थ अमेरिका रिव्यू के सितम्बर १८१५ के अंक में प्रकाशित उनके एक लेख से नीचे कुछ उद्धरण नमूने के तौर पर दिये जाते हैं—

"राष्ट्रीय साहित्य अथवा यूँ कहें कि सच्चा राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रभाषा से उत्पन्न होता है। साहित्यिक विशिष्टताएँ भाषा की विशिष्टताओं से अंश मात्र ही भिन्न होती हैं, और साहित्यिक मौलिकता मस्तिष्क की उस स्वतंत्र क्रिया का फल है, जिसमें अन्य भाषा की दासता आवश्यक रूप से बाधा डालती है; अतः यदि हमसे इस समय पूछा जाये कि यह देश साहित्य में इतना पिछड़ा हुआ क्यों है, तो मैं उत्तर दूँगा कि क्योंकि इसने उस देश की भाषा को अपना रखा है, जो हर बात में इससे बिलकुल भिन्न है। और क्योंकि अपनी बौद्धिक शक्तियों का स्वतंत्र प्रयोग करने की अपेक्षा विदेशी साहित्य का संग्रह करने में आनन्द अनुभव करता है।

"दुर्भाग्य से विदेशी भाषा के इस प्रभाव ने हमें इतना जकड़ रखा है कि यह आशा नहीं की जा सकती कि हम अपनी भाषा को अपनी परिस्थिति, अपनी बौद्धिक शक्ति और मौलिकता के अनुरूप ढाल सकेंगे; किन्तु क्या यह सच है कि एक ऐसा राष्ट्र जिसकी निजी आत्मा है और निजी विशिष्टता है, हमेशा के लिए दूसरों की नकल ही करता रहेगा?

यह दिखाना कोई कठिन काम नहीं है कि किसी देश के साहित्य के उत्थान और प्रगति के लिए उसकी निजी भाषा का कितना महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी भाषा के प्रति उसके लगाव, उसके देश-प्रेम का एक अंग होता है। उस भाषा को इसलिए मूल्यवान समझा जाता है कि उसके माध्यम से दूसरे लोग उस देश की बौद्धिक स्थिति को जान सकते हैं।

दुर्भाग्य से इस दिशा में, भाषा के प्रति ऐसा आकर्षण और लगाव कभी नहीं हो सकता है। जिस भाषा में हम बोलते या लिखते हैं, वह उन लोगों की मातृभाषा है, जो यह समझते हैं कि हमारे अतिरिक्त दूसरों के होठों का स्पर्श पाकर यह भ्रष्ट हो जाती है। जिन्होंने इसे स्वतः पूर्ण

कहकर इसकी पूर्णता को सीमित कर दिया है और जिनकी प्राकृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और साहित्यिक विशिष्टताएँ हम लोगों से बिलकुल भिन्न हैं।

साहित्य के उत्थान और प्रगति के लिए राष्ट्रभाषा का कितना महत्त्व है यह बात हम उन राष्ट्रों के इतिहास के आधार पर कह सकते हैं, जिन्होंने अपनी मौलिकता के लिए प्रयास किये हैं। ऐसे सभी राष्ट्रों ने अपनी भाषा को इतना महत्व दिया है कि अन्य भाषाओं के साहित्य से उन्होंने अन्तरतम से घृणा की या उसकी उपेक्षा की। फ्रांस के लोगों ने अपने सुन्दरतम दिनों में इंग्लैंड के आगस्टन काल की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों को तुच्छ ही समझा।

जर्मनी ने उन्नति कैसे की ?

यदि जर्मनी ने फ्रांस का आत्मप्रदर्शन और इंग्लैंड की भाषा अपनायी होती, यदि कभी उसने एक की शासन-पद्धति और दूसरे की धार्मिक प्रथाएँ अपना ली होतीं, तो हम उनके दर्शन की गूढ़ता पर चकित न होते, या उनकी नाट्य शक्ति से अभिभूति और भावुकता से मोहित न होते।

इस देश के राजनैतिक ढाँचे ने हमारे दिलों में जो देश-प्रेम पैदा किया था, और अंग्रेजी भाषा की मदद लेकर भी हमने अपने साहित्य के उत्थान में जो योगदान किया था, वह राजनैतिक सिद्धान्तों के लिए विदेशी राजनीतिज्ञों पर बुरी तरह निर्भर रहने के कारण समाप्त हो चुका है और प्रकृति की उदारता के कारण, हमारी भूमि को जो सुन्दर दृश्य मिले हैं, वे विदेशी काव्य के वर्णनों के मोह के कारण उपेक्षित रहे हैं।

औपनिवेशिक जीवन में कुछ ऐसी बात अवश्य है जो साहित्यिक मौलिकता के विरुद्ध जाती है। इससे यह धारणा बन जाती है कि नये विषयों और विशेषकर विभिन्न नये दृश्यों और नये सम्पर्कों से उठने वाले विचारों के लिए नये शब्दों के निर्माण की प्रवृत्ति को अधिक से अधिक दबाया जाना चाहिए। सभी प्रकार के सुधारों के लिए इसकी दृष्टि विदेश की ओर लगी रहती है, साहित्यिक स्वर के लिए यह अपनी भूतपूर्व मातृभूमि की ओर देखते हैं और इसकी साहित्यिक मौलिकता भारत के और विधि-शास्त्र की मौलिकता के समान है, जिसे अपनी योग्यता या अयोग्यता के सम्बन्ध में जानने के लिए लन्दन स्थित उच्च अधिकारियों के निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है।"

यदि इन उद्धरणों को यत्किंचित शब्द परिवर्त्तन करके पढ़ा जाय, तो लगेगा कि किसी ने भारत की वर्तमान समस्या का चित्र उपस्थित किया है। यह ध्यान देने की बात है कि उन लोगों के पास अंग्रेजी के स्थान पर अपनाने के लिए कोई भाषा नहीं थी, किन्तु हमारे साथ ऐसी कोई मजबूरी नहीं। हमारे देश में ऐसी भाषाएँ विद्यमान हैं, जिनका साहित्य और इतिहास अंग्रेजी से भी प्राचीन है। इनमें सदियों तक इस देश का काम-काज चलता रहा है, इनके माध्यम से गणित, विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, दर्शन आदि विविध विषयों की शिक्षा दी जाती रही है और इनके साथ हमारी हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति का सम्बन्ध रहा है। हम अंग्रेजी की गुलामी क्यों स्वीकार करें ?

ब्रजभूषण पाण्डेय

अंग्रेजी हमें गूँगा बना रही है

यह शीर्षक आपको कुछ विचित्र-सा लगेगा। शायद आप इसे किसी सिरफिरे की बकवास समझ लें; क्योंकि अंग्रेजी विश्व की अत्यन्त समृद्ध और व्यापक रूप से फैली हुई अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रचारित है। वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को वहन करने वाली सर्वश्रेष्ठ भाषा है; अतएव अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति अवश्य ही योग्य और निपुण होगा। हो सकता है। लेकिन आपको हम यह बतलाना चाहते हैं कि हमारे देश के संदर्भ में अंग्रेजी की यह स्थिति नहीं है।

सम्प्रति हमारे देश में अंग्रेजी के भविष्य के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद चल रहा है। यह मतभेद केवल देश के कर्णधारों, विद्वानों और शिक्षा-शास्त्रियों में ही है। साधारण जनता में इसका कोई महत्त्व नहीं है; किन्तु यह सच है कि इन्हीं उच्चतर मस्तिष्कों के ऊपर ही देश में अंग्रेजी के भविष्य का निर्णय निहित है। साधारण जन के ऊपर ये लोग जो कुछ लाद देंगे, उसे वह वहन करेगा ही, करना ही पड़ेगा। मैं समझता हूँ, किसी भी देश में किसी एक विदेशी भाषा को लेकर इतने व्यापक और उच्च पैमाने पर कोई विवाद, संघर्ष अथवा मतभेद नहीं है। चूँकि इस मतभेद के कारण कभी-कभी विभिन्न वर्गों में उग्र प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं, जो देश की एकता में दरारें पैदा करती हैं, इसलिए विचारकों के सामने यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि क्या हम अनन्त काल तक एक विदेशी भाषा को लेकर आपस में मतभेद की खाई चौड़ी करते जायेंगे, या इसका कोई समाधान भी खोज सकेंगे।

अंग्रेजी के पक्ष में यह कहा जाता है कि वह एक पूर्णतः विकसित अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की अपार राशि उसमें निहित है। यही नहीं, वह सैकड़ों वर्षों तक हमारे यहाँ की राजभाषा और उच्च शिक्षा का माध्यम रही है, और अब भी वह शासन के सभी अंगों का भार वहन कर रही है। ऐसी स्थिति में उसे तुरन्त देश से निकाल देना उचित न होगा। यह सम्भव नहीं है। इसलिए उचित यह होगा कि हम अंग्रेजी से निरन्तर अपना सम्पर्क बनाएं रखें। अंग्रेजी से सम्बन्ध विच्छेद करके हम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के स्रोत से वंचित हो जायेंगे।

दूसरी ओर यह कहा जाता है कि जब तक अंग्रेजी हमारे यहाँ जड़ जमाये रहेगी, तब तक हिन्दी और देश की अन्य भाषाएँ एवं संस्कृति विकसित नहीं हो सकतीं; इसलिए जितनी जल्दी हो, हमें अंग्रेजी से अपना पिण्ड छुड़ा लेना चाहिए। चूँकि अंग्रेजी हमारे शोषकों की भाषा रही है, इसलिए हम तब तक राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकते, जब तक यह साम्राज्यवादी, नौकरशाही भाषा हमारे ऊपर लदी हुई है।

वर्तमान समय में अंग्रेजी जिस रूप में हमारे देश में छाई हुई है, उस रूप में वह भविष्य में नहीं रह सकती। जो लोग उसे यथावत बनाये रखना चाहते हैं, या उसे और गहरे पैठाने की

ताक में हैं, वे देश का बहुत बड़ा अहित कर रहे हैं। अंग्रेजी की वर्तमान स्थिति से हमारी देशी भाषाएँ पंगु बनी हुई हैं, यह एक अलग प्रश्न है। इससे भी अधिक हानि वह हमारे ज्ञान-चक्षु को बन्द करके कर रही है। अंग्रेजी के व्यापक व्यामोह में पड़ कर हमारी दृष्टि एकांगी एवं संस्कार-च्युत हो गई है। फल यह हो रहा है कि हम विश्व के अनेक भागों की संस्कृति, अनेक राष्ट्रों की आत्मा से बिल्कुल अपरिचित बने हुए हैं। अंग्रेजी के द्वारा होने वाली इस महान् क्षति की ओर हमारे देश के कर्णधारों, विचारकों का ध्यान ही नहीं जा रहा है। इसी दृष्टि से हम इस समस्या की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

किसी भी देश की भाषा अपने देश, राष्ट्र और उसमें निवास करने वाली जनता की वास्तविक वाणी होती है। इस दृष्टि से अंग्रेजी केवल एक-दो देश की ही वाणी है। वह ज्ञान की विज्ञान की कितनी ही निधि अपने में क्यों न समेटे हुए हो, किन्तु वह विश्व के सभी देशों की वाणी है, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भाषा के द्वारा ज्ञान-विज्ञान, टेकनालोजी का अर्जन तो उसका एकांगी उद्देश्य है, मुख्य उद्देश्य तो उसमें निहित किसी राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार है। आज रूस, जापान, अमरीका आदि देशों में जो हिन्दी का व्यापक अध्ययन बढ़ता जा रहा है, क्या उसका उद्देश्य किसी ज्ञान-विज्ञान का अर्जन है। शायद हिन्दी में आधुनिक विज्ञान और टेकनोलाजी का ककहरा भी नहीं है; अतएव यह निर्विवाद है कि विदेशियों का हिन्दी की ओर झुकाव भारतीय जन-मानस से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने की उत्कट अभिलाषा का ही परिणाम है।

इस दृष्टि से अंग्रेजी का अध्ययन हमारे लिए विशेष महत्त्व नहीं रखता। सैकड़ों वर्षों तक जो जाति हम पर शासन कर चुकी है, उसके राष्ट्र या उसकी आत्मा से हमारा खूब परिचय हो चुका है। आज जब कि हम स्वतन्त्र हो चुके हैं, हमारी यह चेष्टा होनी चाहिए कि हम भू-मण्डल के प्रत्येक राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार करें। यह काम अंग्रेजी के द्वारा सम्भव नहीं है। रूसी, चीनी, जापानी, अरबी, चेक आदि विश्व की अनेक दर्जनों ऐसी भाषाएँ हैं, जिनका अध्ययन हमारे लिए अति आवश्यक है। इन भाषाओं में भी ज्ञान-विज्ञान का विविध भण्डार तो भरा ही है, इनमें अपने-अपने देश की आत्मा भी बोल रही है। इनमें इन देशों की कोटि-कोटि जनता की भावनाएँ तरंगित हो रही हैं, जिनके साथ हमारा सम्पर्क स्थापित होना नितान्त आवश्यक है और यह संपर्क इन भाषाओं के अध्ययन से ही सम्भव है। किन्तु, अंग्रेजी हमारे ऊपर इतने व्यापक रूप से हावी है कि हमें इन भाषाओं की ओर देखने का भी अवसर नहीं मिलता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि युनिवर्सिटियों में अनेक विदेशी भाषाओं के अध्ययन के लिए व्यवस्था की गई है, जो उन्हें पढ़ना चाहें पढ़ सकते हैं; किन्तु यह एक प्रकार का भुलावा-मात्र है। स्थिति यह है कि जब एक विदेशी भाषा हमारे ऊपर छोटी-छोटी कक्षाओं से ही लाद दी जाती है और जब एक विदेशी भाषा के अध्ययन के लिए देश में चारों ओर व्यापक रूप में प्रयत्न और साधन प्रस्तुत किए जा रहे हैं, तो दूसरी भाषा के लिए कुछ अवसर नहीं ही मिलता। इस प्रकार यह जोर देकर कहा जा सकता है कि जैसे यह बातें सत्य हैं कि अंग्रेजी भाषा हमारी देशीय भाषाओं की प्रगति में रोड़ा बनी हुई है, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी अधिक यह बात सत्य है कि जब तक अंग्रेजी का इतने जोश-खरोश के साथ प्रचार-प्रसार और अध्ययन-अध्यापन चालू रहेगा, तब तक अन्य विदेशी भाषाओं के अध्ययन के लिए हमारे देश में कोई मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार यह सत्य है कि जहाँ अंग्रेजी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ हमारा सम्बन्ध बनाए हुए है, वहीं वह विश्व के अनेक भागों से हमारा नाता तोड़कर हमें कूपमण्डूक भी बनाए हुए हैं। वर्तमान स्वतन्त्र भारत के लिए कूपमण्डूकता उतने ही कलंक की बात है, जितना उसकी अपनी राजभाषा का न होना। देशी भाषाएं तो आगे बढ़ेंगी ही; क्योंकि उनके लिए मर मिटने वाले, उसकी जड़ को अपने रक्त से सींचने वाले, देश में लाखों की संख्या में हैं। जब परतन्त्र काल में हमारी भाषाएँ आगे बढ़ती रहीं, तो अब तो उनके विकास को रोक सकना असम्भव है; किन्तु दूसरी विदेशी भाषाओं का पक्ष लेकर इस देश में लड़ने वाले या अपना-खून पसीना एक करने वाले कौन हैं? अंग्रेजी और देशी भाषाओं के इस संघर्ष में किसकी विजय होगी, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु ऐसी संघर्ष की स्थिति में दूसरी विदेशी भाषाओं की स्थिति हमारे देश में क्या होगी, यह बात बहुत स्पष्ट है। निश्चित है कि अन्य विदेशी भाषाओं के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं। फिर भी यदि कुछ विदेशी भाषा के प्रेमी हैं, तो यह हमारे इस विशाल देश के लिए शर्म की बात है। भारतीय विचारकों को इस ओर गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए।

विगत वर्ष चेकोस्लोवाकिया के हिन्दी विद्वान् डाक्टर ओडोलेन स्मेकल भारत में आए हुए थे। उनकी हिन्दी-योग्यता के सम्बन्ध में यहाँ कुछ बताना अप्रासंगिक होगा, किन्तु इतना आप समझ लें कि उनकी हिन्दी भाषा में जो गति थी, वह यहाँ के किसी भी हिन्दी विद्वान् से कम नहीं थी। वे धारावाहिक रूप में ललित साहित्यिक हिन्दी में भाषण कर लेते हैं। उन्होंने बताया कि उनके देश में व्यापक रूप में विदेशी भाषाओं का अध्ययन हो रहा है। वहाँ किसी एक विदेशी भाषा के प्रति अनुचित रूप से पक्षपात अथवा मोह नहीं है। भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि केवल प्राग युनिवर्सिटी में भारत की छः भाषाओं के लगभग १८ विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करके इनमें रिसर्च कर रहे हैं। जहाँ तक मुझे स्मरण है, उन्होंने बताया था कि हिन्दी में ६, संस्कृत में ३, बंगला में ४, तथा तमिल-तेलुगु और उर्दू में दो-दो छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करके रिसर्च कर रहे हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो इनकी संख्या और अधिक है। उन्होंने बताया कि यही अनुपात दूसरी विदेशी भाषाओं के छात्रों का भी है।

चेकोस्लोवाकिया हमारे देश के एक प्रान्त के बराबर है। उसके अनुपात से यदि हम अपने यहाँ विदेशी भाषा की स्थिति का अवलोकन करें, तो हमारी आखें खुल जायेंगी; किन्तु अंग्रेजी की पहरेदारी में हमारे शिक्षाशास्त्री या नेता इतने मशगूल हैं कि इस तथ्य की ओर वे ध्यान ही नहीं दे पाते हैं। जिस रूस के साथ हम अपने घनिष्ट सांस्कृतिक सम्पर्क की बात करते हैं, वहाँ भी कुछ भाषाएँ हैं। रूस की कितनी भाषाओं के कितने विद्वान् हमारे देश में हैं और उनके द्वारा देश में विभिन्न भाषाओं के प्रति छात्रों की रुचि जागृत करने के लिए क्या हो रहा है? इन जैसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका ठीक उत्तर देने की स्थिति में शायद हमारा देश नहीं है। इस त्रुटि का एक मात्र कारण है, हम एक विदेशी भाषा अंग्रेजी के पंक में आकण्ठ निमग्न होने के कारण दूसरी ओर कुछ कर सकने की स्थिति ही में नहीं हैं।

अंग्रेजी का जो स्वरूप हमारे यहाँ है, वह पंक के समान ही है। लाखों की संख्या में अंग्रेजी के ज्ञानलवदुर्विदग्ध छात्रों की उस पल्टन से क्या लाभ है, जिसे अंग्रेजी में एक प्रार्थना-पत्र लिखने की भी क्षमता नहीं है। इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। एक युनिवर्सिटी के प्राध्यापक, जो सम्भवतः अपने को अंग्रेजी का बहुत बड़ा विद्वान् मानते

हैं; क्योंकि उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग को यूनिवर्सिटियों की हिन्दी परिषद् से सम्बन्धित एक पत्र अंग्रेजी में लिखा था। सात लाइन के उस अंग्रेजी पत्र में शायद सात ही अशुद्धियाँ थीं। अंग्रेजी के इस अधकचरे ज्ञान और तिस पर भी उसके प्रति मिथ्या मोह की कटु भर्त्सना पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने सरस्वती में की थी।

आप स्वयं सोचें, अंग्रेजी के इस अध्ययन से क्या लाभ? उचित तो यह है कि अंग्रेजी वही लोग पढ़ें, जो उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त करके उसके साहित्य-भण्डार से कुछ लाभ उठावें और देश को भी कुछ दें। ज्ञान लवदुर्विदग्ध अंग्रेजी के छात्रों से देश का कोई लाभ नहीं है; किन्तु बरसाती पानी मटमैला होगा ही। जब तक देश में धुँवाधार अंग्रेजी की पढ़ाई चालू रहेगी, तब तक गम्भीरतापूर्वक उसका अध्ययन नहीं हो सकता है; इसलिए देश में अंग्रेजी के उच्च कोटि के विद्वानों को पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि बरसात बन्द हो। तभी नदियों, तालाबों का जल निर्मल हो सकेगा।

व्यापक रूप से प्राइमरी कक्षाओं से ही अंग्रेजी की पढ़ाई प्रारम्भ कर देने से अंग्रेजी का स्तर कदापि ऊँचा नहीं उठ सकता। इस प्रकार की पढ़ाई से अंग्रेजी के अधकचरे क्लर्क पैदा हो सकते हैं, विद्वान् नहीं; किन्तु इस समय देश को अंग्रेजी क्लर्कों की जरूरत नहीं है, बल्कि अंग्रेजी के विद्वानों की जरूरत है। और अंग्रेजी में उच्चकोटि के विद्वान् तभी पैदा हो सकते हैं, जब हमारे देश में उसका अध्ययन इस दृष्टि से किया जायेगा कि वह एक विदेशी भाषा है न कि देश के राज-काज और क्लर्कों की भाषा। आज तो उसका अध्ययन क्लर्कों की भाषा के रूप में ही हो रहा है।

अंग्रेजी के समर्थक उसकी एक विशेषता का बखान करते नहीं अघाते। वह यह कि विश्व की किसी भाषा में कोई भी अच्छी रचना प्रकाशित होते ही अंग्रेजी में उसका रूपान्तर तुरन्त प्राप्त हो जाता है। मैं अंग्रेजी की इस विशेषता को स्वीकार करता हूँ; किन्तु ऐसा क्यों है? इसका मतलब है कि अंग्रेजी के विद्वानों में विश्व की प्रत्येक भाषा के उच्चकोटि के विद्वानों की संख्या बहुतायत से पाई जाती है। यह काम दो-चार आदमी नहीं कर सकते। अनेक विदेशी भाषाओं के विद्वानों के कारण ही कोई न कोई विद्वान् इस काम को कर ही देता है। यदि हमें अपनी भाषाओं में भी यह शक्ति लानी है, तो हमें भी व्यापक रूप से विदेशी भाषाओं का अध्ययन करना होगा। और यह तभी सम्भव है, जब अंग्रेजी की पढ़ाई को सीमित करके उसके स्थान पर दूसरी विदेशी भाषाओं को प्रतिष्ठित किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अंग्रेजी जहाँ एक ओर राज-काज और शिक्षा के माध्यम के रूप में स्थित होकर भारतीय भाषाओं के अधिकारों को छीने हुए है, वहीं वह विदेशी भाषा के रूप में एक-छत्र अधिकार जमाकर विश्व की दूसरी भाषाओं के प्रवेश को भी रोके हुए है। पहले रूप में वह हमारे अपने देश की वाणी को कुण्ठित बनाकर हमें गूँगा बना रही है, तो दूसरे रूप में वह विश्व के अनेक राष्ट्रों की आत्मा के साथ हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध रोककर हमें कूपमण्डूक भी बनाती जा रही है। भारत की शिक्षा-नीति के कर्णधारों को इस ज्वलन्त तथ्य की ओर समुचित ध्यान देना चाहिए।

●

निशिनाथ चक्रवर्त्ती

अंग्रेजी भाषा लादने के पीछे सरकारी नीति क्या है ?

सहज ही यह बात समझ में नहीं आती कि जिन प्रान्तों में हिन्दी सुगमता के साथ पढ़ी, लिखी और समझी जाती है, जहाँ पटवारी के कागज और बनिये की बही हिन्दी में सदा से लिखी जाती रही है, वहाँ शासन का एकदम से अंग्रेजी के प्रति दुस्साहस एवं दुराग्रह क्यों है ? समस्त सामाजिक और आर्थिक स्थितियों पर विचार करने के बाद हमें जो बात स्पष्ट दिखलाई देती है, वह यह है कि आज से सत्रह वर्ष पहले जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया था, तब हमारे देश का नौकर वर्ग उसको अपनाने के लिए तैयार था और यदि उस समय राष्ट्रभाषा को बलपूर्वक लागू किया गया होता, तो आज जो दिक्कतें हमारे सामने आती हैं, वे न आतीं। गत सत्रह वर्षों में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने हमारे सरकारी नौकरों के दिमाग में यह ठूँस-ठूँस कर भर दिया है कि वह अंग्रेजी को चालू रखेगी और भरसक अंग्रेजी जानने वाले के हितों की रक्षा करेगी। आज स्थिति यह है कि जो सरकारी नौकर १९४८ में हिन्दी को तत्परता से सीखने के लिए तैयार था, उसने अपनी आगे आनेवाली पीढ़ी को अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ा-पढ़ाकर उन्हें पूरी तरह से अंग्रेजी में दक्ष बनाने की चेष्टा की है। साथ ही गत सत्रह वर्षों में हिन्दी सीखने और ग्रहण करने के प्रति भी वह उदासीन हो गया है। इन सब का परिणाम यह हो गया है कि आज अंग्रेजी भाषा एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग की स्वार्थ-सम्पन्नता का कारण बन गई है। सरकार का काम-काज देखनेवाला वर्ग कार्यालयों में, जन-सम्पर्क में, व्यवहार में भीतर-भीतर अंग्रेजी का समर्थन करनेवाला हो गया है और जहां हिंदी प्रविष्ट भी हो सकती है ; वहाँ सरकार की उदासीनता का लाभ उठाकर अंग्रेजी चलाई जा रही है।

पिछले २०० वर्षों में अंग्रेजी सरकार ने हमारे देश के निवासियों में जिस मनोवृत्ति को पैदा किया था, वह कुछ विचित्र था। पटवारी अपने बेटे को पटवारी बनवा देने में अपनी पूर्ण सफलता समझता था ; आई० सी० एस० अपने बेटे को आई० सी० एस० बनवा देने में गर्व की बात समझता था। इसके लिए वह योजनाबद्ध प्रयास करता था। अंग्रेजी सरकार भी नामजद करने के अधिकार को सुरक्षित रखती थी। कभी-कभी तो वह इसका खुलकर प्रयोग करती थी। ऐसा करने के पीछे जो मनोविज्ञान उसके दिमाग में काम करता था, वह भारतीय समाज में अपने समर्थकों के विशिष्ट वर्ग को सुदृढ़ करना था। स्वतन्त्रता के बाद आज भी हमारे देश के नौकर वर्ग की मनोवृत्ति ठीक उसी ढर्रे पर चल रही है। उसके लिए यह सोचना कठिन हो पा रहा है कि वह एक दम से अंग्रेजी छोड़कर हिन्दी पर कैसे आये; क्योंकि गत सत्रह वर्षों में उसका एक बेटा भी सत्रह वर्ष की आयु का हो गया है और उसके दिमाग में नौकरी और अच्छे जीवन के सपनों के साथ-साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह बैठा दिया गया है कि व्यावसायिक और सामाजिक सफलता के लिए अंग्रेजी अनिवार्य है। इन सब का परिणाम यह है कि इस नौकर वर्ग को समय-समय पर जब कभी

भी अवसर मिलता है, वह हमेशा कुछ न कुछ ऐसा कर गुजरता है, जिसमें भाषा को लेकर एक झगड़ा उठ खड़ा हो। वह सरकारी कार्यालयों में अंग्रेजी को चलाता है हिन्दी की उपेक्षा करता है। वह आगे आचार-व्यवहार में अंग्रेजी जाननेवालों को प्रतिष्ठा देता है और हिन्दी जाननेवाले का तिरस्कार करता है। सरकारी कार्यालयों के आफिसर वर्ग की यह नीति भली प्रकार से देखी और समझी जा सकती है। वहाँ जो अल्प संख्यक कर्मचारी हिन्दी में टिप्पणियाँ लिखते हैं, या हिन्दी में पत्र-व्यवहार करना चाहते हैं, उन्हें सरकारी आफिसरों से एक मोर्चा लेना पड़ता है। सरकारी आफिसर के हाथ में उस बेचारे लेखक और क्लर्क का आचरण और उसकी आगामी तरक्कियों की कुंजी होती है। यदि वह बिचारा हिन्दी के प्रेम में अपने किसी आफिसर से लड़भिड़ भी जाय, तो उसका अभिशाप उसको ही नहीं, उसके परिवार को भी भोगना पड़ता है। सरकारी आफिसर चाहे वह नवजवान हो या बूढ़ा, अंग्रेजी की विशिष्टता इसलिए कायम रखना चाहता है, ताकि उसकी निजी विशिष्टता बनी रहे। हर कार्यालय में ऐसे हाईस्कूल पास बाबू आज भी मिल जायँगे, जिनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा मात्र अंग्रेजी में नोट टिप्पणी लिखने के कारण होती है। वह बूढ़ा बाबू भी अपनी इस विशिष्टता को मिटने नहीं देना चाहता; क्योंकि वह विशिष्टता उसके लिए एक ऐसा अमोघ अस्त्र है, जिसके आधार पर वह पूरे कार्यालय पर अपना आतंक जमाये रखता है। जो नये कर्मचारी आते हैं, वह उसके आतंक को देख कर या तो उसी से अंग्रेज़ी में टिप्पणी लिखने की कला सीखने लगते हैं, नहीं तो धीरे-धीरे करके स्वतः अंग्रेजी प्रयोग करने लगते हैं।

सरकारी कार्यालयों में आज वह वर्ग काफी संख्या में है। गत सत्रह वर्षों में यह वर्ग बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ है। कुछ बाबू लोग तो ऐसे हैं, जिनकी टिप्पणी और लेखन शैली के स्वयं उनके आफिसर लोहा मानते हैं और बुलाकर उनसे कहते हैं कि यह सरकारी गोपनीय कागज है, इसका जवाब लिखना है। आप लिख दें। बाबू लिख देता है और वह दस्तखत करके कागज आगे बढ़ा देता है।

प्रस्तुत वस्तुस्थिति के अध्ययन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह इस प्रकार है —

१. कार्यालय के आफिसर वर्ग की गत सत्रह वर्षों में यह नीति बन गई है कि वह अंग्रेजी को प्रतिष्ठित करके चलायें।

२. ये आफिसर इसीलिए कार्यालयों में उन बाबुओं को आदर और सम्मान देते हैं, जो अंग्रेजी जानते हैं।

३. इस पक्षपात से हिन्दी में लिखने-पढ़ने वालों में अनावश्यक रूप से एक प्रकार की दीन भावना जाग्रत करके यह आफिसर वर्ग उन्हें पदच्युत कर देता है।

४. जब कोई भी विदेशी भाषा राज्य के कारबार से प्रतिष्ठित होती है, तब उससे एक प्रकार की असहानुभूत्यात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती है। कर्मचारियों का भावनात्मक सम्बन्ध देश और राष्ट्र के प्रति विनष्ट हो गया है। वह केवल नौकरी, तनख्वाह, भत्ता आदि को ही ध्यान में रखने लगे हैं। यह स्थिति चिन्त्य है।

५. गत सत्रह वर्षों के बीच हमारी राष्ट्रीय सरकार को कुछ ऐसा करना चाहिए था कि जिससे सैकड़ों वर्षों की पुरानी नौकरी की प्रवृत्ति बदलती और देश एवं राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित भावना जाग्रत होती। सरकार ने ऐसा नहीं किया, जिसका दुष्परिणाम अनेक रूपों में हम देखते हैं। भाषा के सम्बन्ध में भी वही मनोवृत्ति काम करती है।

इस बीच जो दूसरी मनोवृत्ति विकसित हुई है, वह भी कुछ विचित्र है। ये सरकारी कार्यालय और इन कार्यालयों के बड़े आफिसरों ने दो प्रकार के चेहरों का प्रयोग करना शुरू किया है। यह विरोध किसी चीज का नहीं करते और अपने को तटस्थ बनाये रखने का ढोंग रचे रहते हैं। जिन कार्यालयों का सम्पर्क जन-सम्पर्क से होता है, वह कार्यालय सूचना पट्टिका से लेकर थूकदानी पर तो हिन्दी लिखवा देते हैं; पर आफिस की फाइल पर अंग्रेजी ही चलाते हैं। नित्य प्रति औसत के नाम पर ये दो-चार पत्र हिन्दी में भी छपवाकर बाहर भिजवा देते हैं। अंग्रेजी पत्र चाहे रजिस्टर में चढ़ें या न चढ़ें, हिन्दी पत्र यह बड़े-बड़े मोटे-मोटे अक्षरों में चढ़ाते हैं। ताकि किसी भी अवसर पर यह हजारों की संख्या का आँकड़ा प्रस्तुत कर सकें।

वस्तुतः इस मनोवृत्ति से हिन्दी की अधिक हानि हुई है। इसने यह मिथ्या भ्रम फैलाया है कि हिन्दी तेजी से बढ़ रही है। वस्तुस्थिति पर इसने पर्दा डालने की चेष्टा की है। परिणाम यह हुआ कि हमारी भारी प्रगति केवल एक सीमित दायरे में बँधकर कुण्ठित हो गई है। हमें आज सत्रह वर्ष बाद राष्ट्रभाषा को लेकर दोहरी-तेहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही है। नौकरशाही के मन को बदलना, हिन्दी के काम को आगे बढ़ाना और साथ ही जो बाह्य विरोधी शक्तियाँ राष्ट्रभाषा के विकास में रोड़े अटकायें उनको हटाना। हमें यह काम कैसे करना चाहिए, इसके लिए विचार करने की आवश्यकता है; क्योंकि सोते हुए को जगाना तो आसान होता है; पर जो जाग रहा और सोने का बहाना कर रहा हो, उसे जगाना कठिन होता है।

सरकारी दफ्तरों की सूचियों और उनके आदेशों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट पता चलता है, कि कानूनी स्तर पर आज की शासन-पद्धति दुहरे आचरण का पालन कर रही है। एक ओर तो वह हिन्दी के चलाने का कागजी आदेश भेजती है और दूसरी ओर वह मन से अंग्रेजी का समर्थन करती और अपने में ही एक व्यंग्यात्मक स्थिति को जन्म देती है। हिन्दी के प्रति श्रद्धा रखनेवाली जनता को और हिन्दी के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को इस दिशा में विशेष कार्य करना चाहिए। उन्हें इस पूर्ण स्थिति का अध्ययन करके उस मनोवृत्ति को बदलने का प्रयास करना चाहिए, जो अनावश्यक रूप से कार्यालयों की दक्षता को न्यून बनाती है। न्यायालयों और कचहरियों में जो दूरियाँ जनता और न्याय के बीच है, उसका कारण है कि एक साधारण स्तर के न्याय के लिए उसे एक दुभाषिये की आवश्यकता पड़ती है। वह यह चाहते हुए कि अपने अधिकार और कर्त्तव्य को स्वतः जाने-समझे, ऐसा कर नहीं पाता। देश के विधान, विधि और न्याय के प्रति जागरूक होने के बावजूद भी उसे यह सुविधा नहीं मिल पाती कि वह उसको आत्मसात कर सके। परिणाम यह हो रहा है कि सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों और अन्य कार्यक्षेत्रों के प्रति उसके मन में कोई आदर नहीं है। वह केवल भय से प्रेरित होकर उनको स्वीकार करता है। भय भी न्याय की अनिश्चितता के कारण है और न्याय की अनिश्चितता का कारण है विधि, विधानों और जनता के बीच भाषा की अज्ञानता। यह अज्ञानता कभी-कभी बड़े भयावह रूप भी ग्रहण कर लेती है। जिस देश की जनता सैकड़ों वर्षों से अपने अधिकार और वैधानिक स्थिति से अपरिचित रहेगी उसका रूप कभी भी कुछ हो सकता है। भय से प्रताड़ित मन जब विद्रोह करता है, न्याय न मिलने पर जब व्यक्ति के मन में आक्रोश उठता है तब किसी भी व्यवस्था के लिए उसके मन में कुछ भी उत्पन्न हो सकता है। लुई चौदहवें के शासन-काल में भी उसकी निष्ठुरता से केवल मुट्ठी भर परिवार लाभ उठाते थे। जार के शासन-काल में रूस के निवासी भी न्याय की सुगमता से वंचित थे, क्योंकि न्याय क्या है, इसे

केवल मुट्ठी भर लोग ही जानते थे। उसके दुष्परिणाम उन देशों को भोगने पड़े हैं। हमें आज उनसे कुछ सीखना चाहिए। इतिहास से कुछ सीखना चाहिए और जन-मानस में न्याय, विधि और विधान के प्रति जो भय और आतंक है, उसे मिटाने की चेष्टा करनी चाहिए। वह दिन दूर नहीं, जब हमारी थोड़ी-सी असावधानी एक भयंकर आक्रोश को जन्म दे देगी। मुट्ठी भर अंग्रेजी जाननेवालों का मानसिक विलास धरा रह जायगा। ये मुट्ठी भर लोग तब नजर भी नहीं आयेंगे। इसीलिए शासन में जो दूरदर्शी लोग हैं, उन्हें चाहिए कि जनमानस को अधिक कुंठित न करें। उसे सहज रूप में न्याय, अधिकार, कर्त्तव्य और अन्य जीवन के पक्षों को सुगमता के साथ ग्रहण कर सकने की क्षमता प्रदान करें।

आज इन कार्यालयों में हिन्दी चलाना कठिन नहीं है। अब तो तरुण कार्यकर्त्ताओं ने प्राय: प्रत्येक कार्यालय में हिन्दी परिषद् या हिन्दी समिति की स्थापना कर ली है। वहाँ का लेखक वर्ग आज हिन्दी में काम करने के लिए तत्पर है। सरकारी आदेश ही कागजी तौर पर उन में हिन्दी चलाने की प्रेरणा देते हैं। फिर भी यह मुट्ठी भर बड़े आफिसर यदि अपने स्वार्थवश या एक विशिष्ट वर्ग के स्वार्थवश हिन्दी के चलाने में रुकावट डाल रहे हैं, तो हमारे शासन को समझना चाहिए कि इसके पीछे कौन-सा षड्यन्त्र काम कर रहा है। क्या हमारी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें आज इतनी छोटी हो गई हैं कि एक बार हिन्दी में भी कार्य-व्यापार चलाने की सुविधा देने के बाद वह यह नहीं देख सकतीं कि उनका पालन हो रहा है या नहीं; लेकिन कुछ लोग बनावटी रूप से अन्धे और बहरे होते हैं। अपने स्वार्थ की हर बात सुनने की वह क्षमता रखते हैं। उससे सम्बद्ध हर वस्तु वह देख भी लेते हैं; लेकिन परमार्थ के विषय में वह अन्धे बन जाते हैं। हमारे देश की शासन पद्धति भी आज कुछ इसी प्रकार की है। लगता है कि वह जानबूझकर, अंग्रेजी जानने वालों के हितों की रक्षा के लिए इधर देखने का कष्ट नहीं करना चाहती; किन्तु कभी-कभी सभी शक्तियों को सुनाने के लिए जनमत को प्रबल होना चाहिए। यदि हमारा जनमत सशक्त होकर सरकार की इस उपेक्षा को दिखलाये, तो कुछ मुट्ठी भर लोगों के हित-साधन के लिए सरकार अनवरत मौन नहीं धारण कर सकती और न उसकी उपेक्षा ही कर सकती है।

यहीं पर एक बात की ओर हमें और ध्यान देना है और वह है--बिखरी हुई शक्तियों के संजोने का। जहाँ यह बात सही है कि ९०% जनता हिन्दी के लिए अपना सर्वस्व दान कर सकती है, वहाँ यह भी सत्य है कि वह संगठित नहीं है और जो कुछ वह चाहती है, उसको स्वयं आपत्ति करने में कुछ ढीली है। कोई कारण नहीं है कि हमारी नगर पालिकाओं और म्युनिसिपैल्टियों में अब भी अंग्रेजी में काम-काज हो, उसके लिए हमें स्थानीय रूप से संघर्ष करना चाहिए। अंग्रेजी में जो पत्र-व्यवहार यह संस्थाएँ करें तो उनका उत्तर या तो देना नहीं चाहिए, या अगर देना चाहिए, तो केवल हिन्दी में और उसके साथ यह लिख देना चाहिए कि आप अंग्रेजी में पत्र भेजकर मेरा अपमान करते हैं। यही काम अपने क्षेत्र में प्रतिनिधि, सभासदों और सदस्यों को करना चाहिए। नगर में लगायी जानेवाली नाम-पट्टिकाओं को यदि हमारी नगरपालिकाएँ चाहें, तो मिनटों में बदलवा सकती हैं। सड़कों पर जो मार्ग चिन्ह हैं, उन्हें बदलवा सकती हैं। बहुत-से अंग्रेजीपरस्त यह कह सकते हैं कि यह काम ठीक नहीं; लेकिन कभी-कभी जनता को अहिंसात्मक ढंग से अभिव्यक्ति देने के लिए ऐसा करना ही उचित और न्यायसंगत है।

सरकारी कार्यालयों की यह दुर्गति आज सब जानते हैं। उनकी कोई बात जनता से छिपी

नहीं है। जनता को भी यह समझना चाहिए कि अंग्रेजी, सरकार द्वारा हिन्दी की सहचरी भाषा के रूप में स्वीकार की गई है। यदि केवल इसी का लाभ उठाकर हम सरकारी कार्यालयों में जो भी कागज दें, वह केवल हिन्दी में हो, तो हम एक प्रकार से सरकारी कार्यालयों को उसके लिए बाध्य कर देंगे कि वह अंग्रेजी में पत्र-व्यवहार करना छोड़कर हिन्दी में पत्र-व्यवहार करे। इसके लिए किसी अतिरिक्त आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है। जो जहाँ है, वहीं से लड़ाई लड़ सकता है। हिन्दी में कार्य करने के लिए सरकारी कार्यालयों को बाध्य करना इस दृष्टि से लड़ाई भी नहीं कही जा सकती। वह तो हमारी जागरूकता का परिचायक है। एक ऐसी माँग के लिए बल देना है जो वैधानिक रूप में हमें प्राप्त है।

लेकिन यह सत्य है कि जब तक सरकारी कार्यालय संगठित रूप में जनमत का बल नहीं देख लेंगे, तब तक व्यक्तियों को परेशान करेंगे। १९६२ के प्रयाग लेखक सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी के लेखकों ने यह माँग की थी कि उनके अनुबन्ध-पत्र हिन्दी में होने चाहिए और जब तक उन्हें हिन्दी में अनुबन्ध-पत्र नहीं मिलेंगे, तब तक वे लेखक रेडियो के कार्यक्रमों में भाग नहीं लेंगे। हिन्दी लेखकों ने संगठित होकर पहली बार यह कदम उठाया था। यदि वह संगठित कदम कुछ दिनों चला होता, तो रेडियो को झुकना पड़ता। दुर्भाग्यवश उसी समय चीनी आक्रमण हुआ और हिन्दी लेखकों का संगठन देश-रक्षा के नाम पर टूट गया। आज केवल छः लेखक ही अपनी उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं। संघशक्ति के न होने से जनमत को सत्ता इसी प्रकार चोट पहुँचाती है। मैं इसे अपने लोगों की कमजोरी मानता हूँ। यदि हिन्दी लेखक संगठित रूप में अंग्रेजी अनुबन्ध-पत्रों का त्याग करते, तो यह शासन महीने भर में अनुबन्ध-पत्र का हिन्दी अनुवाद करके भेजती; लेकिन ऐसा न करके आज वह प्राणबोध की भावना से एक मामूली-सी बात की अवज्ञा कर रही है। इतने बड़े शासन के लिए दस पंक्तियों का अनुबन्ध-पत्र हिन्दी में अनुवादित न करा सकना, उसकी असमर्थता नहीं, उसके प्रमाद का प्रमाण है।

कहने का सारांश यह है कि हिन्दी के कार्य को यदि हम सरकार से करवाना चाहते हैं, तो उसके लिए सामूहिक शक्ति की आवश्यकता है। यदि उस सामूहिक शक्ति का प्रदर्शन नहीं होगा और सरकार को विवश नहीं किया जायगा, तो वह इक्के-दुक्के लोगों को अनावश्यक रूप से अपमानित करेगी। हमें अपने आन्दोलन के इस पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिये। आज भारत में एक भी अंग्रेजी अफसर नहीं हैं। बड़े से बड़े पद पर आज भारतीय ही शासन चला रहे हैं। उनको इसके लिए मजबूर किया जा सकता कि वह हमारी बात मानें।

सरकारी कार्यालय जन-सेवा के लिए है और वैधानिक रूप से जो अधिकार जनता को प्राप्त हैं, उनको स्वीकार करना उनका धर्म है; लेकिन इसका पक्ष दोहरा है। जब जनमत जागरूक होता है, सरकारें उनका अनुकरण करती हैं। जब जनमत कमजोर होता है, तो सरकारें उस कमजोरी का लाभ उठाती हैं और मनमाने ढंग से उसका उपयोग करती हैं। हमें इन सावधानियों के साथ सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के काम को आगे बढ़ाने में निश्चित कदम उठाने चाहिये।

●

देवेन्द्रकुमार जैन

आकाशवाणी और हिन्दी

जिन शब्दों ने आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग में सबसे अधिक तहलका मचाया है, वे हैं 'परमाणु' और 'सहअस्तित्व'। . . .डाक्टर बच्चन का आग्रह है कि इन दोनों शब्दों के स्थान पर 'ऐटमी' और 'सहजीवन' शब्दों के प्रयोग ही किये जायँ। बाद में 'ऐटमी' शब्द के प्रयोग पर लगा प्रतिबंध श्रीप्रकाश-समिति ने स्वयं हटा दिया, परंतु 'सहअस्तित्व' के प्रयोग पर अब भी सरकारी तौर पर प्रतिबंध है। यह बात किसी के ध्यान में नहीं आती कि 'सहजीवन' का एकमात्र अर्थ है—'सिंबिओसिस', न कि 'कोएग्ज़िस्टेंस'। . . .

श्रीप्रकाश-समिति केवल हिंदी-समाचारों की भाषा पर दृष्टि रखती है, . . .परंतु सामान्य हिंदीभाषी की दृष्टि से हिंदी समाचार-विभाग की समस्या क्या केवल हिंदी भाषा तक ही सीमित है, समाचारों से उसका कोई संबंध नहीं ? भाषा के नाम पर हिंदी में समाचारों की उपेक्षा का एक मुख्य कारण यह भी है कि इस समिति के अधिकांश सदस्य समाचारों की पृष्ठभूमि, उनके महत्त्व और समाचारों के प्रस्तुतीकरण से अपरिचित हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जब कि भाषा के सरलीकरण के नाम पर या भाषा को अपने मनोनुकूल बनाने के लिए समाचारों को छोड़ देने, समाचारों में काट-छाँट कर देने और कदाचित् भाव-विपर्यय कर देने तक के सुझाव दिये गये। इन सुझावों के अनुसार समाचार गौण थे, भाषा के तथाकथित संशोधन अधिक महत्त्वपूर्ण।

इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि १३ सितंबर १९६३ को रात्रि सवा आठ बजे के हिंदी-समाचार में यह प्रसारित हुआ—'बेलग्रेड अंतरसंसदीय संघ की बैठक में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए संघ के प्रधान सचिव ने चीन पर भारत के हमले की चर्चा की', तो न तो समिति के किसी सदस्य का, न डाक्टर बच्चन का 'चीन पर भारत के हमले' की ओर ध्यान गया। इसके कुछ दिन बाद पहली अक्तूबर को मध्यान्ह के हिंदी-समाचारों में एक और इसी प्रकार का समाचार प्रसारित हुआ। 'श्रीमती पंडित ने कहा कि भारत ने काश्मीर के संबंध में अपने सभी कर्तव्य पूरे किये हैं। मुख्य समस्या आत्मनिर्णय की नहीं, बल्कि यह है कि पाकिस्तान पर हमला किया गया है, जो १९४७ से आज तक चल रहा है।' इस प्रकार भारत द्वारा पाकिस्तान पर हमले की ओर भी, समिति या उसके प्रतिनिधि, किसी का ध्यान नहीं गया।

. . .१९६३ के मध्य अक्तूबर में संयुक्त राष्ट्र राजनीतिक समिति में भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने चीन के विकृत ढंग से चिंतन की आलोचना करते हुए कहा था—'इस प्रकार विकृत चिंतन को केवल उसी विचित्र दार्शनिक सिद्धांत की पृष्ठभूमि में हृदयंगम किया जा सकता है कि जो सिद्धांत परमाणु बमों की महाविध्वंसक शक्ति से करोड़ों लोगों का विनाश शांत भाव से देख सकते हैं।' . . .श्रीमती पंडित की इस उपयुक्त विवेचना को जिस भाषा

में प्रसारित किया गया, वह इस प्रकार थी--'यह केवल उन्हीं का दार्शनिक सिद्धांत हो सकता है जिन्होंने ऐटमी तूफ़ान में करोड़ों लोगों को बरबाद होते देखा है और जो उस पर भी चुप रहे हैं।'..

वस्तुतः हिंदी-समाचारों की समस्या भाषा नहीं है। भाषा का प्रश्न राजनीतिक कारणों से उठाया जाता है और मूल उद्देश्य से सर्वसाधारण का ध्यान हटाने के लिए इस प्रश्न को तूल दिया जाता है।...

आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग की समस्या है--मूल रूप से यथासंभव अधिकतम समाचार हिंदी में प्राप्त करना।...

इस समय हिंदी समाचार-विभाग का एक पिछलग्गू विभाग है। हिंदी विभाग में स्थायी सेवा के वे ही लोग कार्य करने के लिए भेजे जाते हैं, जिनका चुनाव केंद्रीय लोक-सेवा आयोग द्वारा अंग्रेज़ी माध्यम से होता है।...

दूसरा प्रमुख कारण यह है कि हिंदी समाचार-विभाग की नकेल अंग्रेज़ी समाचार-विभाग के हाथ में रहती है। जब कभी हिंदी-विभाग स्वतंत्र मार्ग अपनाना भी चाहता है, तब अंग्रेज़ी विभाग के वरिष्ठ अधिकारी तत्काल हिंदी के लोगों को परामर्श (वस्तुतः 'आदेश') देने के लिए आ पहुँचते हैं। वर्तमान लोकसभा के शरत्कालीन छठे अधिवेशन में २ दिसंबर १९६३ के आसपास हिंदी में प्रस्तुत प्रस्ताव पर जब हिंदी में वक्तव्य देने की चर्चा हुई, तो उसे आकाशवाणी के हिंदी समाचार-विभाग द्वारा अपने समाचारों में प्रसारित करने पर अंग्रेज़ी के मुख्य समाचार-संपादक ने तत्काल आपत्ति कर दी।

यह तो सदा होता ही है कि रामलीला मैदान या दिल्ली के रीगल के मैदान में प्रधान मंत्री का हिंदी भाषण पहले अंग्रेज़ी में अनूदित हो कर अंग्रेज़ी समाचार में आता है, फिर यह अंग्रेज़ी-विभाग उस अंग्रेज़ी रूप का संपादन या संक्षेप कर के अनुवाद के लिए हिंदी तथा दूसरी भाषाओं के विभागों को भेजता है। साथ ही यह भी अंग्रेज़ी विभाग की इच्छा पर निर्भर है कि वह जब चाहे किसी समाचार को भी 'केवल अंग्रेज़ी के लिए' घोषित कर दे।...

बीच में यह व्यवस्था की थी कि मूल हिंदी भाषण हिंदी-विभाग को हिंदी में दिये जायँ और इस प्रयोजन से हिंदी के नाम पर दो संवाददाता भी रखे गये थे ; परंतु इन संवाददाताओं से सदा अंग्रेज़ी का ही काम कराया गया। निराश हो कर अब ये लोग त्यागपत्र दे कर चले गये हैं।

जब डाक्टर केसकर सूचना और प्रसारण मंत्री थे, तब हिंदी समाचार-विभाग के विस्तार की योजना तैयार की गयी थी।...इस योजना को लागू करने के पूर्व ही हिंदी समाचार-विभाग केवल हिंदी-अनुवाद विभाग था। इस स्थिति को समाप्त कर हिंदी समाचार-विभाग को अंग्रेज़ी समाचार-विभाग के समकक्ष बनाने के लिए तीन चरणों की एक योजना बनायी गयी।...

अभी इस योजना के दूसरे चरण को लागू हुए कुछ ही दिन बीते थे कि डाक्टर गोपाल रेड्डी का उर्दू-प्रेम उमड़-उमड़ कर इस योजना की जड़ों को कुरेदने लगा। तभी बिल्ली के भाग छींका टूटा और देश में आपात-स्थिति घोषित कर दी गयी। आपात-स्थिति के कारण जनता को उसी की भाषा में जानकारी प्रदान करने के स्थान पर उसे अंग्रेज़ी में प्रवचन सुनना आवश्यक हो गया। सरकारी विचारधारा के अनुसार देशभक्ति केवल अंग्रेज़ी से फूटती है, भारतीय भाषाओं से नहीं। इसलिए, आकाशवाणी के समाचार-विभाग में अंग्रेज़ी के एक डिप्टी डाइरेक्टर के स्थान पर पाँच डिप्टी डाइरेक्टर रखना आवश्यक हो गया। अर्थ-मंत्रालय ख़र्च बढ़ाने को तैयार नहीं था, इस

कारण पहला प्रहार हिंदी समाचार-विस्तार-योजना पर किया गया। इसके मुख्य समाचार-संपादक, एक समाचार-संपादक और कुछ उपसंपादकों के पद समाप्त कर उन्हें अंग्रेज़ी के डिप्टी डाइरेक्टरों के लिए प्रदान कर दिया गया।

परंतु अंग्रेज़ी के इन डिप्टी डाइरेक्टरों के लिए काम कहाँ से पैदा किया जाता? इसलिए इनमें से एक को ट्रांसपोर्ट का काम सौंपा गया, दूसरे को प्रशासन का, तीसरे को समाचार-दर्शन का, चौथे को भाषाओं का। ये लोग रखे गये थे अंग्रेज़ी समाचारों के लिए, करने लगे ट्रांसपोर्ट और प्रशासन आदि का कार्य; परंतु बाहरी आलोचनाओं तथा आंतरिक असंतोष के कारण इन सब लोगों को फिर अंग्रेज़ी समाचारों का वही काम सौंपा गया, जो कि समाचार-संपादक पहले से ही कर रहे थे। वही काम, वही स्तर, पर उसे करने वालों का पद और पैसा बढ़ाया गया और वह भी हिंदी के हितों का बलिदान कर के।

इस सारे घोटाले में श्रीप्रकाश-समिति ने एक बार भी आवाज़ नहीं उठायी।

●

रसिकेशु बनर्जी

विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रयोग

विश्वविद्यालयों में स्वतंत्रता के बाद भी हिन्दी की उपेक्षा करके अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाये रखना, इस बात का द्योतक है कि हमारे देश का बौद्धिक वर्ग अभी मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं हुआ है। यह मानसिक गुलामी और कब तक चल सकती है, कहा नहीं जा सकता; किन्तु एक बात निश्चित है कि जिस जनमत की उपेक्षा प्रदेशीय शासन-सत्ता नहीं कर पाई, यदि वह एक बार अपने पूर्ण रूप से विश्वविद्यालय के शैक्षिक माध्यमों की समस्या लेकर उठेगी, तो सारे तर्क-कुतर्क एक ओर रह जायेगा और हिन्दी माध्यम अपने आप ही आ जायगा। हर देश का बौद्धिक वर्ग प्रायः स्वभाव और प्रकृति से कुछ दुविधापूर्ण स्थितियों में रहता; किन्तु शायद ही किसी देश के विश्वविद्यालय ऐसे हों जिन्होंने अपने देश में शिक्षा का माध्यम विदेशी-भाषा को बनाया हो। यह सौभाग्य और दुर्भाग्य भारत ही को प्राप्त है कि वह उसकी वर्तमान पीढ़ी, सुख-सुविधा और स्वार्थ के लिये आगामी पीढ़ी को नकलची, झूठा बना रही है और स्वदेशीय भाषाओं के प्रति उपेक्षा और आत्महीनता का प्रदर्शन कर रही है। इंगलैण्ड ने तो सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में ही लैटिन से मुक्ति पा ली थी। ठीक इसी तरह युरोप के अन्य देशों ने---चाहे वह जितने ही छोटे क्यों न हों---अपनी इस मानसिक दासता से छुट्टी पा ली थी। और अपनी स्वदेशीय भाषा को प्रतिष्ठित कर दिया था।

हमारा देश इस अर्थ में बड़ी काहिली का परिचय देता रहा है। मास्को में शेक्सपीयर के नाटक रूसी भाषा में पढ़ाये जाते हैं। इंगलैण्ड में कानून और हीगेल के दर्शन से लेकर पूरे यूरोप की दार्शनिक विचार-धारा अपनी राष्ट्रभाषा में पढ़ाई जाती है; किन्तु हमारे देश के अंग्रेजी प्रोफेसर, अब भी अपनी गर्दन ऐंठ-ऐंठ कर शेक्सपीयर को अंग्रेजी में ही पढ़ाने की कसम खाये बैठे हैं। वह शायद यह नहीं जानते कि जो टूटी हुई अंग्रेजी वह अपनी कक्षा में बोलते हैं, वह महज़ बिगड़ी अंग्रेजी होती है और उस माध्यम से अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान तो कम होता है, पर गर्दन ऐंठने का सुख अधिक। अधिकतर विद्यार्थी उन प्रोफ़ेसरों को देख कर आत्महीनता अनुभव करने लगते और वह यह समझ लेते हैं कि अंग्रेजी साहित्य को यदि समझना है तो इस प्रकार के भोंडे तरीक़े से गर्दन ऐंठने से ही अंग्रेजी आ जाती है। परिणाम यह होता है कि अंग्रेजी का विषय ज्ञान तो नहीं के बराबर होता है; पर वह अंग्रेजी के ऊपरी हावभाव अधिक जान जाते हैं। मेरा अपना निश्चित मत है कि उच्च शिक्षण में भी जब तक राष्ट्रीय स्वदेशीय भावना से प्रेरित होकर विदेशी साहित्य को देशी भाषा में नहीं पढ़ाया जायगा तब तक न तो उस भाषा के साहित्य का रस ही विद्यार्थी ले पायेंगे और न उनका ज्ञानार्जन ही हो पायेगा।

मेरी यह बात शायद विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों को कुछ अटपटी-सी लगे; किन्तु सत्य यह है कि यह नक़ली स्थिति विश्वविद्यालयों में आज भी वर्तमान है। इसका व्यंग्य तो तब पता चलता है, जब हमारे संस्कृत के प्राध्यापक शकुन्तला को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते हैं। इसी प्रकार शंकर का दर्शन अंग्रेजी में पढ़ाना भी व्यंग्य-सा लगता है। मैं आज तक इस विरोधी स्थिति को समझ नहीं पाया हूँ। शंकर के दर्शन को समझने के लिये यदि आक्सफ़ोर्ड में अंग्रेजी का प्रयोग हो, तो मुझे वह स्थिति उनके स्वाभिमानानुकूल लगेगी। यही कारण है कि शेक्सपीयर को हिन्दी के माध्यम से पढ़ना हमें अपने देश में अपमान जनक लगता है।

विश्वविद्यालयों में समस्त अध्ययन अंग्रेज़ी माध्यम में पड़कर खटाई में पड़ जाता है। जो भी विद्यार्थी वहाँ पढ़ते हैं, उनमें से अधिकांश अर्द्धशिक्षित और अर्द्धदीक्षित निकलते हैं। उन्हें विषय-ज्ञान को कौन कहे, सारा जीवन भाषा ही समझने में बिता देना पड़ता है।

विश्वविद्यालय का उच्चशिक्षण-स्तर इस दृष्टि से केवल सतही ज्ञान-वर्धन करता है। शिक्षार्थी की प्रतिभा अनावश्यक रूप से कुण्ठित कर दी जाती है और एक अनावश्यक गतिरोध उसके व्यक्तित्व में आ जाता है। यह हीन भावना उसके मन को कभी भी कोई साहसिक क़दम उठाने की शक्ति नहीं देती।

मैं जब कभी भी इस पर गहराई से विचार करता हूँ और यह जानने की भी चेष्टा करता हूँ कि ऐसा क्यों होता है, तो जो भयानक चित्र प्रस्तुत होता है, उसे देखकर लगता है कि यदि विश्वविद्यालयों की पढ़ाई अंग्रेजी के माध्यम से आगामी दस वर्ष और चली, तो हमारे देश में जन-जीवन और शिक्षित वर्ग में इतनी गहरी खाई पैदा हो जायगी कि शायद उसका पटना असंभव हो जायगा। मैं जब प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ता था, तब वहाँ सभ्य और संभ्रान्त लड़के वे माने जाते थे, जो 'म्योर होस्टल' में रहते थे और अंग्रेजी विभाग के, फ्राईडे क्लब के मेम्बर थे। म्योर होस्टल में यदि १००% विद्यार्थी अपनी प्रतिभा के कारण रहते थे, तो ९०% विद्यार्थी बड़े आई० सी० एस० वर्ग के घराने के होते थे। अंग्रेजी बोलना, अंग्रेजी रहन-सहन और अंग्रेज़ियत से ओतप्रोत उनका जीवन प्रायः एक उद्देश्य से ही भरा-पुरा होता था और वह था आई०सी०एस०,पी०सी० एस० की तैयारी। फ़्राईडे क्लब में भी ऐसे ही लोग रहते थे, जो केवल अंग्रेजी बोलते थे और अंग्रेजियत में डूब कर शायद आक्स्फोर्ड या कैम्ब्रिज की नक़ल में उसी के सपने देखते थे। मैं नहीं कह सकता कि म्योर होस्टल का भी कोई विद्यार्थी किसी भी रूप में राष्ट्रीय आंदोलन या राष्ट्रीय जीवन से सहानुभूति रखने वाला होता हो।

आज विश्वविद्यालय को शायद अपनी यह दक़ियानूसी पद्धति बदलनी पड़ेगी। उस ज़माने में यदि प्रयाग विश्वविद्यालय का नाम इसलिये था कि उसके विद्यार्थी अधिक से अधिक संख्या में आई० सी० एस० की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे, तो स्वतंत्र भारत में भी यदि वही पुराना आदर्श विश्वविद्यालयों में क़ायम रहा, तो यह हमारी स्वतंत्रता और हमारे देश का दुर्भाग्य ही कहा जायगा। आज हमें आई०सी०एस०पी० सी०एस० में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी तो चाहिये ही, साथ ही आज हमें ऐसे व्यक्तित्व चाहिये, जो विश्वविद्यालयों से परीक्षा पास करने के बाद राष्ट्र के निर्माण-कार्य में लग जायँ। साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, उद्योग और सामाजिक तंत्रों का अध्ययन कार्य साधारण स्तर को ऊपर उठायें। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करके उसकी समस्याओं का अध्ययन करके, राष्ट्रीय स्तर पर उनका समाधान निकालें। व्यापक रूप में उसका

प्रयोग करें और प्रामाणिक रूप में उन्हें अपने देश और समाज के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा करें।

आज विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की प्रेरणा का अभाव है। उस अभाव का एकमात्र कारण है आज की शिक्षा का वैदेशिक रूप। विश्वविद्यालय अभी भारतीय नहीं हो पाये हैं। उनमें आज भी अंग्रेजियत है। अंग्रेजी के प्रति मोह है। उनकी सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा ही यह है कि वह कम से कम मेहनत से डिग्रियाँ लेकर सरकारी दफ्तरों का चक्कर लगाये। यही स्वप्न उन्हें दिया गया है। मैकाले ने जिस शिक्षा-पद्धतिको यहाँ जन्म दिया था, उसका उद्देश्य ही यह था कि इस देश में अधिक से अधिक नौकर पैदा हों। उसकी शिक्षा-पद्धति ने ऐसे नौकरों की एक अद्‌भुत सेना पैदा भी की थी। आज भी हमारे विश्वविद्यालयों की यही दशा है और इस दशा का एकमात्र कारण यह कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विषयों को पढ़ने के नाते, विषय की आत्मा से उनका दुराव सदैव ही बना रहता है। उन को उस विषय को राष्ट्रीय और स्वदेशीय स्तर पर आत्म करने का अवसर ही नहीं मिलता।

आज जिस प्रकार की संस्कृति हमारे समाज में व्याप्त है वह कुछ इसी प्रकार की है। एक ओर हमारी संस्कृति में सम्पन्न वर्ग तेज़ी से उस अंग्रेज़ी का अन्धभक्त होता जा रहा है, जिसमें समाज की अधिकाधिक प्रतिभा एक अपनी औपचारिक शिष्टता को प्रश्रय दे रही है। अंग्रेजियत हमारे चौक, बैठकखाने, दीवानखाने को दबाती चली जा रही है। वेशभूषा भी उसी प्रकार की हुई जा रही है। बोलचाल में भी उसी प्रकार की खिचड़ी भाषा का प्रयोग हो रहा है। यदि घर में बूढ़े बाबा दादी को घर के आधुनिक होने या बनने में बाधा समझा जाता है, तो बाहर उन्हें कर दिया जाता है। हिन्दी भी यथेष्ट आधुनिक नहीं दीख पड़ती। दोनों से कतराने की प्रकृति में एक वर्णसंकर संस्कृति हमारे चारों ओर इतनी तेज़ी से फैल रही है, जिसमें बाह्य आडम्बर नक़ल और काग़ज़ी औपचारिकता ही है। कोई विशिष्ट मूल्य आज उसमें से न तो विकसित हो रहा है और न उसके पनपने या बढ़ने की कोई आशा ही है। आज हमारे विश्वविद्यालय इस प्रकार की संस्कृति को जन्म देने और उनको प्रोत्साहित करने में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से मदद करते हैं। प्राध्यापकों का जीवन विद्यार्थियों के लिये सदैव अनुकरणीय रहा है। वह सदैव उनके आदर्शों और उनके विचारों से प्रभावित होते हैं; किन्तु वहाँ भी आज व्यक्तित्वहीनता ही प्रश्रय पाती है। इस व्यक्तित्व-हीनता को प्रोत्साहित करने वाली प्रमुख प्रकृति का विकास ही अंग्रेजी भाषा से होता है। अध्यापक शिक्षण में अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण और उत्कृष्ट भाग दे ही नहीं सकता; क्योंकि उसके व्यक्तित्व का प्रस्फुटन अंग्रेजी भाषा के माध्यम से असंभव है। वे प्राध्यापक, जो विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी में पढ़ाते हैं, वह बोलती हुई किताबें लग सकते हैं, व्यक्तित्वपूर्ण आचार्य नहीं। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों में कोई भी परम्परा नहीं विकसित हो पा रही है। जिस व्यक्तित्व से परम्परा बनती है, विचारकों का वृत्त बनता है, चिन्तनशीलता का आधार बनता है, वह व्यक्तित्व ही अपना नहीं होता। उखड़े हुए लोगों की जड़ ही-व्यक्तियों की अपनी कोई भी व्यवस्था नहीं होती। परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी भी उसी उखड़ी हुई परम्परा का एक अंश बन जाता है और घुट-घुट कर एक सीमा के बाद नितान्त औपचारिक तरीके से पढ़ता है। मूल ग्रन्थ की अपेक्षा कुंजियों का सहारा लेता है और उन्हीं को रटकर उत्तर की कापी भरने के बाद वापस चला जाता है।

अभी कुछ ही दिनों की एक घटना है। एम० ए० पास एक विद्यार्थी मेरे पास किसी विषय विशेष में—जिसमें मैं भी कुछ काम कर रहा हूँ—कुछ सहायता लेने के लिये आये; क्योंकि एम०ए० पास करने के बाद उन्होंने मेरे ही विषय से मिलता-जुलता विषय ले रखा था। मैंने उनके हाथ में अखबार देते हुए कहा—आप इसका ऐडिटोरियल पढ़ें....मैं दस मिनट में आता हूँ। उन्होंने अखबार ले लिया। दस मिनट बाद जब मैं लौटा, तो मैंने पूछा "क्या आपने एडीटोरियल पढ़ लिया है ?" उन महोदय ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"मुझे एडिटोरियल मिला ही नहीं।" मैं थोड़ा चकित हो गया। पता चला कि वह सज्जन एडिटोरियल के अर्थ ही नहीं जानते। एम० ए० द्वितीय श्रेणी में पास, बी० ए० द्वितीय श्रेणी में पास; लेकिन किसी भी अखबार में एडिटोरियल क्या होता है, सम्पादकीय का क्या अर्थ होता है, वह उन्हें मालूम ही नहीं था। उनके जाने के बाद मैं सोचता रहा कि आखिर इसका कारण क्या है कि अंग्रेज़ी लेकर बी० ए० पढ़ने के बावजूद भी यह लड़का यह नहीं जानता कि एडिटोरियल किसे कहते हैं ? निश्चय ही मेरे दिमाग़ में आया कि उस विद्यार्थी की लापरवाही तो है ही, लेकिन इस लापरवाही का कारण वह शिक्षा-पद्धति भी है, जिसमें एडिटोरियल का अर्थ सम्पादकीय है यह कभी बताया ही नहीं गया होगा ! फिर वह विद्यार्थी बी० ए०, एम० ए० तक की परीक्षायें पास करने के बावजूद भी अंग्रेजी भाषा में दक्षता कहाँ से और कैसे प्राप्त कर पाता।

प्रस्तुत घटना अकेली नहीं है। अभी दर्शन-विभाग के एक विद्वान् भी विद्यार्थियों पर आक्षेप लगाते हुए शिकायत कर रहे थे कि उनके सेमिनार के दर्जे में जो भी विद्यार्थी आते हैं, वह उनसे खुल कर बातें नहीं कर पाते। जब मैंने पूछा कि आखिर इसका कारण क्या है, तो वह खुद बोले कि मैंने उन विद्यार्थियों से कहा—अंग्रेजी में न सही अपनी भाषा में ही कुछ बोलें; लेकिन तब भी वह कुछ नहीं बोल पाते। मैंने उनसे कहा कि इसका मूल कारण यह है कि माध्यम अंग्रेजी में होने के नाते वे रट कर उत्तर तो लिख सकते हैं; किंतु अंग्रेजी में बात नहीं कर सकते। एक दूसरी भी अड़चन उनके सामने होती है और वह यह कि अंग्रेज़ी में पढ़े हुए विषय को हिन्दी में यदि वह प्रस्तुत भी करना चाहें, तो भी कठिनाई होगी ही। विद्यार्थी के इस सीमा को यदि प्राध्यापक समझ लें, तो शायद आज जो अशिक्षित बी० ए०, एम० ए० विश्वविद्यालयों से निकल रहें हैं, उनकी संख्या में वृद्धि न हो।

विज्ञान के क्षेत्र में भी यही दशा है। माध्यमिक शिक्षण से लेकर विश्वविद्यालय की उच्चतर शिक्षा तक में विषय क्षात्र के जीवन का अंग नहीं बन पाता। भाषा की दुरूहता उन्हें विषय से दूर रखती है। मौलिक चिन्तन के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते वह इतने खोखले और रिक्त हो जाते हैं कि उनके पास वह पूँजी ही नहीं बन पाती, जिसके बल पर वह अपने आप सोच-विचार सकें।

मेरा तो यह निश्चत मत है कि यदि दस वर्ष तक या अगले पाँच वर्ष तक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का वही उपक्रम रह गया, जो आज है, तो हमारे देश के डिग्री प्राप्त अशिक्षितों की संख्या इतनी बढ़ जायगी कि उनको सँभालना कठिन हो जायगा। आज जब एक हाईस्कूल पास विद्यार्थी चपरासी नियुक्त होता है, तो वह अपने मन में वर्तमान शिक्षा-पद्धति को गालियाँ ही देता है। इसलिये वह गालियाँ नहीं देता कि वह चपरासी है, वरन् इसलिये कि यदि अंग्रेजी उसके मार्ग में रुकावट न होती, तो वह कार्यालय का लेखक भी हो सकता था। वह बी० ए०, एम० ए० पास व्यक्ति जो आज ६० रु० मासिक वेतन पर कहीं भी नौकरी करता है, उसके भी मन में वही आकांक्षा दबी है।

जब तक वह दब कर उसे उदासीन बना रहा है, तब तक तो कोई बात नहीं है; किन्तु जिस दिन यह आक्रोश फूटेगा, तो उसका क्या रूप होगा, यह कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न उठता है—क्या हमारे देश के शिक्षा-शास्त्री इन तथ्यों को देख नहीं रहे हैं? यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे देख नहीं रहे हैं; पर मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि वह देख कर, जान बूझ कर, मात्र निहित स्वार्थों के कारण उस समस्या पर विचार करने का कष्ट ही नहीं करते। अनुभव शिक्षा-शास्त्रियों का भी यही है; लेकिन शायद आज उनके सामने अंग्रेजी समर्थकों की चाटुकारिता इतनी मूल्यवान है कि वह देश और राष्ट्र के भविष्य की कल्पना ही नहीं कर पाते। मेरी समझ में नहीं आता कि जिस प्रकार की कहानियाँ यूरोप और पश्चिम में आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुकी थीं, उन से हम लाभ क्यों नहीं उठाते। इंगलैण्ड में आज भी जो लेटिन और ग्रीक पढ़ना चाहता है, उसे पूरी सुविधा है; लेकिन आज उसके मानस से शायद यूरोप वालों का देश आतंकित नहीं है। विश्वविद्यालयों में सभी भाषाओं के पढ़ने की सुविधा होनी चाहिये, लेकिन उनके पढ़ने का माध्यम हिन्दी ही होना चाहिए। साथ ही ऐशियाई भाषाओं का भी स्थान होना चाहिये और उनको भी हिन्दी के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिये। आज से कुछ वर्ष पूर्व राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने इस विषय को संसद में उठाया था। उन्होंने प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू से कहा था कि चीन देश ने, जो अपने यहाँ की लिपि चित्र शैली को समाप्त कर के वर्णाक्षर शैली में परिवर्त्तित करना चाहा है, उसे यह सुझाव दे कि वह नागरी लिपि अपनाये, क्योंकि यह संसार की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि है। लेकिन, उनकी यह बात शायद प्रधान मंत्री को अच्छी नहीं लगी। हमारा मतलब केवल इतना ही है कि अंग्रेजी से कहीं अधिक आवश्यक है एशियाई भाषाओं का जानना। उससे एशिया की शक्ति संगठित होगी। यह तब हो सकेगा, जब हम स्वयं ठीक रास्ते पर होंगे।

●

खण्ड ३

दक्षिण भारत और हिन्दी आन्दोलन

पी० नारायण

हिन्दी स्वराज्य के लिए सांस्कृतिक क्रान्ति

हमारा नेतृत्व आज परस्पर विरोधी विचारों व घोषणाओं का पुंज बनता जा रहा है। आज प्रजातंत्र के नारों से नभ विदीर्ण हो रहा है। राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता का तूफानी प्रचार है। शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के संकल्प हो रहे हैं। पंचायती राज्य का समाँ बाँधा जा रहा है। मगर ये सारी योजनाएँ जिस राष्ट्रभाषा और राजभाषा द्वारा साधी जानी चाहिए और साधी जा सकेंगी, वह आज भी कारावासिनी है!

एक देश की मुक्ति के साथ उसकी समस्त आकांक्षाओं-उमंगों का वहन उस देश की राष्ट्र-भाषा द्वारा होना चाहिए था। स्वराज्य की तभी सच्ची सार्थकता मानी जा सकती है, मगर हमारी वर्तमान विडम्बना यह है कि हम भारतीय कलेवर का सर्वांगीण विकास करना चाहते हैं, रीढ़ की हड्डी राष्ट्रभाषा के बिना। यह तो लार्ड मैकाले के विजय की घोषणा है। अल्प-संख्यक अंग्रेज शासकों के लिए भारतीय भाषा सीख कर भारतीय जनता पर शासन करना आसान था, लंकाशायर के बदले यहीं कारखाने खोलकर कच्चे माल को पक्का बनाना अधिक सहज कार्य था। आई० सी० एस० परीक्षाएँ भारत में ही आसानी से चलायी जा सकती थीं। मैकाले साहब की बुद्धिमान जाति ने अगर वैसी भूल की होती, तो तन से काले और गोरे अंग्रेजों के भारतीय मानसपुत्र अंग्रेजी भक्त बुद्धिजीवी मध्यवर्ग की विश्वामित्र-सृष्टि का वर्तमान, और अंग्रेजी ताण्डव यहाँ सम्भव न हो पाता। जिन्होंने अपने सामर्थ्य में हमें राजनीतिक स्वाधीनता दिलायी वे आज सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील क्यों नहीं हैं? राष्ट्रभाषा को तुरन्त ग्रहण करने में भारतीय नेतृत्व का यह असमंजस कुरुक्षेत्र के अर्जुन की याद दिलाता है। अगर आज राष्ट्र का सर्वाधिक दुर्भाग्य यही है कि उत्तिष्ठ पुंसत्व की निर्भय प्रेरणा देने के लिए न मोहन दिखायी देते हैं, न मोहनदास। वर्तमान नेतृत्व के रुख से दुखी होकर राष्ट्र की संजीवनी राष्ट्रभाषा असहाय होकर आज बारम्बार अपने राष्ट्रपिता का स्मरण कर रही है, जिन्होंने हजारों बार घोषित किया था कि "यह मेरा निश्चित मत है कि अंग्रेजी शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों को निर्बल और नकलची बना दिया है। कोई भी देश नकलचियों की जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बन सकता।"

आखिर ये राजाजी, चटर्जी, मुदलियार, मुंशी, अय्यर, अय्यंगर प्रभृति क्या चाहते हैं? यदि ये अद्भुत प्रतिभाएँ चूंकि ताजिन्दगी अंग्रेजी में ही पलीं, इसलिए अपनी अन्तिम सांस तक उसी में लेना चाहती हैं तो लें (संविधान ने १५ साल की अवधि इसलिए तो रखी गई थी।)

लेकिन इस छोटे-से वर्ग के लिए हम अपनी भावी पीढ़ी के मंगल को क्यों कुर्बान कर दें? इन तमाम स्वातंत्र्य सेनानियों की भव्य मेधा की यह कैसी परिणति है?

राजनीति अपने क्षेत्र में जो करे, उससे हमें मतलब नहीं, पर स्पष्ट बात यह है कि हिन्दी स्वराज्य के लिए सांस्कृतिक क्षेत्रों में हिन्दी संबंधी सांस्कृतिक क्रान्ति करनी होगी। इसके लिए सब से पहले हिन्दी प्रचार क्षेत्र से बद्ध नेतृत्व को विदा करना होगा। अधिक सक्रियता से अंग्रेज़ी की सांस्कृतिक गुलामी का विरोध करना होगा। तभी यह बात लोगों की समझ में आ सकेगी कि विदेशी आक्रमणकारी से मुकाबला करने का अस्त्र अंग्रेजी नहीं है। वह तो स्वयं एक पिछले विदेशी आक्रमणकारी की अवशिष्ट थाती है। मातृभाषा जिन्दाबाद, राष्ट्रभाषा जिन्दाबाद——यही भारतीय प्राणों के नारे हो सकते हैं।

•

के० सी० सारंगमठ

यह दक्षिण की सच्ची आवाज़ है

सहभाषा के सवाल ने आज सारे देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कहा जा रहा है कि दक्षिण भारतीयों की मांग पर संविधान में यह सुधार किया गया है। यह मिथ्या व भ्रमपूर्ण आरोप है। आँकड़ों से पता चलता है कि दक्षिण के चारों प्रान्तों में हिन्दी परीक्षार्थियों की हिन्दी स्कूलों और प्रशिक्षणालयों की संख्या साल दर साल बढ़ती जा रही है। केवल कर्नाटक (मैसूर राज्य) में चार हिन्दी-प्रशिक्षण केन्द्र हैं, जिनमें से एक को मैसूर सरकार और शेष तीनों को केन्द्रीय सरकार की सहायता से द० भा० हिन्दी प्रचार सभा कर्नाटक, प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा, धारवाड़ के तत्त्वावधान में चला रही है। प्रादेशिक भाषा साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य तीव्र गति से चालू है। प्रादेशिक भाषा विद्वानों, चन्द राजनीतिक नेताओं और धर्म-ग्रंथों तक की सद्‌भावना, सहयोग तथा आशीर्वाद, हिन्दी प्रचार-कार्य के लिए काफी मात्रा में प्राप्त है। वास्तव में हिन्दी विरोधी नीति दक्षिण की नहीं, बल्कि कुछ अंग्रेजी-भक्तों की नीति है। जिसके आधार पर वे हिन्दी को राजभाषा से पद-च्युत कर अंग्रेजी को प्रतिस्थापित करके, सस्ती लोकप्रियता पाने का स्वप्न देख रहे हैं।

मानी हुई बात है कि एक राष्ट्र के लिए जैसे एक नाम की, एक संविधान की और एक झंडे की जरूरत होती है, वैसे ही एक राजभाषा की अनिवार्य आवश्यकता है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। संविधान की धारा ३४३ में कहा गया है कि सन् जनवरी १९६५ के बाद हिन्दी ही राजभाषा होगी। अंग्रेजी का प्रयोग केवल उन्हीं निश्चित उद्देश्यों के लिए होना चाहिए, जो संसद द्वारा स्वीकृत हों। पहले से देश की जनता का भारी बहुमत इसी पक्ष में है। अब ऐसी कौन-सी नयी परिस्थिति आ गयी कि अंग्रेजी का पुनरुत्थान आवश्यक हो गया। जो व्यक्ति इस बात का समर्थन करता है कि अंग्रेजी को सदा के लिए सहभाषा का स्थान देकर, उसे स्थायी गौरव दिया जाय, वह महात्मा गांधीजी का सच्चा अनुयायी तो नहीं हो सकता, क्योंकि गांधीजी के विचार हिन्दी के पक्ष में थे।

यह आरोप लगाया जाता है कि हिन्दी राजभाषा बनने लायक नहीं, मगर हमारी समझ में यह दलील ऐसी है जैसी यह कि अच्छे तैराक बनने के बाद ही पानी में उतरने का प्रयास करो। हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली जब तक तैयार नहीं होती, तब तक अंग्रेजी वैज्ञानिक और यान्त्रिक पारिभाषिक शब्द ज्यों के त्यों हिन्दी में रखे जा सकते हैं। हैदराबाद के निजाम साहब ने

करोड़ों रुपये खर्च करके उर्दू की पारिभाषिक शब्दावली तैयार करा दी है। उससे भी उचित लाभ उठाया जा सकता है।

हमारा मत तो यह है कि अहिन्दी भाषी शासकीय अधिकारियों को हिन्दी सीखने के लिए एक अवधि निर्धारित करें और नियत हिन्दी-परीक्षा में उत्तीर्ण अधिकारियों को दो एक बढ़ती भी दी जाय, तो सहर्ष अधिकारी वर्ग हिन्दी सीखेंगे, हिन्दी परीक्षार्थियों की संख्या और बढ़ेगी तथा हिन्दी-प्रचारकों के कार्य-क्षेत्र में भी वृद्धि होगी। निःशुल्क हिन्दी-शिक्षा के लिए दी जानेवाली सहायता और धन का उपयोग इस योजना के अन्तर्गत किया जा सकता है। राज्यों का शासन प्रादेशिक भाषाओं में और केन्द्रीय शासन हिन्दी में चलाना चाहिए। सरल हिन्दी का सुझाव जनता व काल पर छोड़ दें, ताकि भाषा के विकास में सीमा निश्चय करने की कोशिश राष्ट्रभाषा के स्वस्थ विकास में बाधा न पहुँचाए। हिन्दी संस्कृत-निष्ठ हो या फारसी-अरबी मिश्रित हो, अभी इस वाद-विवाद में पड़ने से कोई लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता।

दुनिया के अन्य आजाद मुल्कों ने अपनी मातृभाषा के माध्यम से ही इतनी अधिक उन्नति की है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण जापान, रूस, फ्रांस आदि देश हैं। आधुनिक शिक्षा-पद्धति में अंग्रेजी का समावेश करके अधिकांश विद्यार्थियों के भावी जीवन से खिलवाड़ किया जा रहा है। अंग्रेजी दासी को सम्राज्ञी न बनावें। घर का फाटक घर नहीं बनता। हम अंग्रेजी पढ़ेंगे, मगर राजभाषा नहीं बनायेंगे।

संविधान की धारा ३५१ के अन्तर्गत कहा गया है कि हिन्दी को--जो सरकारी भाषा है--विकसित करना केन्द्र सरकार का कर्त्तव्य है। सरकार की हिन्दी सम्बन्धी कोई नीति नहीं, यह हमारा आरोप कदापि नहीं है। मगर नीति को सीमित अवधि के अन्दर कार्यान्वित करने की ठोस योजना को दृढ़ संकल्प से कार्यान्वित किया जाय, यह हमारा सुझाव है। इसके अभाव में तथा-कथित "दक्षिण का हौवा" हमेशा डराता रहेगा, और अंग्रेजी-भक्त उसकी ओट लेते रहेंगे।

पहले तो हम यह नहीं मानते कि भारतीय भाषाओं में कोई पारस्परिक झगड़ा है। यदि हो भी, तो भारतीय भाषाओं के आपसी झगड़े की वजह से अंग्रेजी को राजभाषा स्वीकार कराना ठीक वैसा ही है, जैसे कोई यह कहे कि राजनीतिक दलों के झंडों के झगड़े के कारण हम सब यूनियन जैक को अपना झंडा मान लें। हम अपने नेताओं का आदर करते हैं। उनके पीछे चल कर हमने स्वतंत्रता प्राप्त की है और भारत के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए। जनवरी सन् १९६५ के बाद हिन्दी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करेंगे। अंग्रेजी का सीमित प्रयोग किन्हीं थोड़े-बहुत कार्यों के लिए आवश्यक हो, तो उसे जनमत के अनुसार कुछ अल्पकाल की निर्धारित अवधि तक ही सीमित रखेंगे।

●

शंकरराव कम्पीकेरी

हिन्दी का पौधा दक्षिण वालों ने अपने त्याग से सींचा है

भारत के अहिन्दी प्रदेशों के जिन लोगों ने हिन्दी के पौधे को अपने त्याग से सींचा है, उनमें दक्षिण भारतीयों का विशेष योगदान रहा है। पुनर्जागरण के समय जनता में देशाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना पैदा करना अत्यावश्यक था; अतएव पूज्य बापूजी ने देश को सबल बनाने और स्वतंत्रता संग्राम को आगे बढ़ाने के लिए हिन्दी को ही माध्यम-रूप में स्वीकार किया। समूचे देश के लिए एक ही सामान्य भाषा पर बल दिया। बापूजी के प्रयत्नों के कारण ही दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का कार्य शुरू हुआ। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडनजी ने भी उनका साथ दिया। मद्रास में सन् १९१९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार-कार्यालय के रूप में हिन्दी-प्रचार सभा की स्थापना हुई। हिन्दी का प्रचार करने के लिए बापूजी ने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी और उनके साथ स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक को मद्रास भेजा। दक्षिण के नवयुवकों को हिन्दी-शिक्षा दिलाने के लिए उन्हें इलाहाबाद भेजा। हिन्दी प्रचारकों को तैयार करना और उनके द्वारा लोगों में हिन्दी के प्रति अभिरुचि पैदा करना ही बापू जी का प्रमुख कार्य बना। सन् १९२४ में दक्षिण भारत-हिन्दी-प्रचार सभा की स्थापना करने का सारा श्रेय बापूजी को ही है। महर्षि दयानन्द ने अपनी मातृभाषा गुजराती के बजाय हिन्दी में ही 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना कर के भारतीयता का परिचय दिया। उसी तरह बापूजी ने भी गुजराती या अन्य किसी एक विशिष्ट प्रदेश की भाषा को न अपनाते हुए भारत के जन-जन की भाषा हिन्दी ही को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। दक्षिण भारत में गुजराती भाषा-भाषी श्री देवदास गांधी ने ही प्रथम प्रचारक के रूप में हिन्दी का प्रचार-कार्य किया। इस प्रकार हिन्दी राष्ट्रीयता के प्रचार का वाहन बनी। उसे भारतीयता का प्रतीक समझा जाने लगा। हिन्दी का प्रचार-कार्य बढ़ते ही, सभी प्रदेशों में सन् १९३६ में प्रान्तीय सभाओं का गठन हुआ। सन् १९३७ में मद्रास राज्य के मुख्य मंत्री श्री बापूजी के अत्यन्त प्रिय अनुयायी राजाजी केन्द्रीय सभा के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने ही मद्रास राज्य के सभी स्कूलों में अधिकृत रूप से हिन्दी का प्रवेश कराया और प्रचार-कार्य को एक नया वेग दिया। जिस प्रकार स्वराज्य के लिए राष्ट्रभक्तों ने त्याग किए, उसी तरह स्वभाषा की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए भी वे महान् से महान् त्याग करते रहे।

दक्षिण और उत्तर भारत के लोगों के मध्य प्राचीन काल से आज तक विभिन्न संतों, ऋषियों और साधकों ने भावात्मक एकता को कायम करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। भक्त कवियों ने आध्यात्मिक एकता को अक्षुण्ण रखा है। हिन्दी के माध्यम से ही राष्ट्र की भावात्मक

और सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। इसीलिए दक्षिण के लोग हिन्दी को बिना किसी द्वेष-भाव के प्रेम और श्रद्धा से पढ़ रहे हैं। पांच साल के बालक-बालिका से ले कर साठ साल के पुरुष-स्त्री तक राष्ट्र भाषा का अध्ययन कर रहे हैं।

कुछ राजनीतिक स्वार्थी नेता लोग गलत प्रतिनिधित्व करते हुए दक्षिण भारतीयों की भावनाओं को हिन्दी के खिलाफ उभारने का दुस्साहस कर रहे हैं; इसलिए उन्हें राजनीतिक चालबाजों से सावधान रहने का पूरा-पूरा प्रयत्न करना आवश्यक है। समष्टि रूप में दक्षिण भारत के लोगों में हिन्दी के बारे में किसी प्रकार की भ्रामक धारणाएँ या भ्रमपूर्ण भय नहीं है। आन्ध्र, कर्नाटक, केरल और तमिलनाड के हजारों हिन्दी-सेवियों ने अपने अपार त्याग से हिन्दी के पौधे को सींचा ही नहीं, अपितु संकटों और काल के कठोर थपेड़ों से सुरक्षित रखा है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के १५ वर्ष बाद अंग्रेजी का लौटता हुआ महत्त्व बुझते हुए दिए की बढ़ने वाली लौ अथवा मरते हुए आदमी के संभल जाने के समान है। परन्तु, हिन्दी रूपी दीपक की प्रज्वलित अमर ज्योति को तेजोमय रखने के लिए भविष्य में भी दक्षिण भारतीय महान् से महान् त्याग और आत्मोत्सर्ग करने के लिए तैयार हैं।

●

रसिक पुत्तिगे

दक्षिण वालों पर अंग्रेजी समर्थक आरोप लगाना बन्द करें

घर जलते समय चुप रहना उचित नहीं। देश की एकता की बात जब कभी याद आती है, तब समूचे देश को एक तार में पिरोने की योग्यता रखने वाली हिन्दी को पदच्युत करके, गुलामी का संकेत अंग्रेज़ी को स्थान देने वाली बात, दिल पर सुई सी-चुभती है।

इस अंग्रेज़ी को बनाये रखने का और हिन्दी को अलग करने का खास कारण दक्षिण वालों की आपत्ति बताई जाती है। जनता की माँग कह कर दक्षिण की ओर संकेत कर के जनमत का गला घोंटा जाता है। कितना बड़ा स्वार्थ है इस नाटक में! . . . मैं ज्यादा कहना नहीं चाहता। हिन्दी भाषा में आज जितने शब्द हैं, उनका प्रभाव हिन्दी से भी पहले की करीब ईसापूर्व दूसरी सदी तक प्राचीन भाषा—तुलु भाषा पर—किस हद तक है इतना ही बता दूं।

क्योंकि तुलु दक्षिण की एक भाषा है, जिसकी अपनी लिपि होते हुए भी उसने अपना साहित्य सिर्फ जबानों तक ही सीमित रखा और उसके बोलने वाले करीब दस बारह लाख व्यक्ति अन्यान्य भाषा-प्रदेशों में अन्यान्य भाषा सीख कर काम चलाते हैं। लेकिन, फिर भी तुलु भाषा में जो शब्द-भंडार हैं, उसमें करीब ३० प्रतिशत अनजाने ही हिन्दी से मिलते-जुलते शब्द हैं। जब कोई तुलुभाषी हिन्दी या उर्दू सीखता है, तब उसे मालूम होता है कि ये शब्द हिन्दी में भी हैं।

ईसापूर्व सदियों से भी अरब-समुद्र के किनारों में अरबी, फारसी व्यापारी आया जाया करते थे। उनका सम्बन्ध अधिकतर तुलु भाषा-भाषी जनता से ही होता था। उसके बाद मुगल शासन-काल में जितने भी अदालती जमींदारी के शब्द आए, वे सब तुलु भाषा और कन्नड़ भाषा में भी हैं।

नीचे कुछ ऐसे शब्द दिये गये हैं, जिनका व्यवहार तुलु भाषा में लगातार हर रोज उसी अर्थ में होता रहता है, जिसमें हिन्दी उर्दू में होता है—लायक, लगाम, चडावु (चढ़ाव), बेजार, वेवर्सि (बेवारिस) पक्त (फ़कत) जोर, लड़ाई, वारीस, हक, रद्द, अकल, असल, पक्का, दगल-बाजी, जब्ति (जब्त) फरारि (फ़रार) हिकमत, अन्दाज, कुशल (खुशहाल) सामन, हुशारु (होशियार) अमीन, फिरियाद अर्जी, वकालत, लुच्चा, हलका, बरकत, कंजूस, कैफोत (कैफियत) दाकल (दाखल), फाशि (फाँसी), गौर्जि, गौज, दरकास्त आदि। और कई शब्द हैं जिनको कहाँ तक गिनाऊँ। इनके अलावा अन्य कई शब्द ऐसे हैं, जिनके उच्चारण में विघटन आने से रूप और अर्थ में परिवर्त्तन आया है; जैसे—फाड शब्द बदल कर, पाड बन कर डोल के अर्थ में आ गया है।

और थोड़ा-सा हट कर देखें, तो कन्नड़ भाषा में भी उपर्युक्त शब्द उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बाकी के शब्द तो कन्नड़ में संस्कृत से ज्यादा लिये गये हैं। फिर भी किसी भी प्रान्त में हिन्दी समझी नहीं जाती, सीखी नहीं जाती, ऐसी बात कभी नहीं।

पता लगाने पर निष्पक्ष विचारकों को मालूम होगा कि दक्षिण भारत भर में हर अगस्त और फरवरी में कितने हिन्दी के परीक्षार्थी स्कूली परीक्षाओं के अलावा अन्य हिन्दी परीक्षाओं में शामिल होते हैं। क्या वे आज के, कल के, नागरिक नहीं हैं। क्या वे बूढ़े, जो दो प्रतिशत अंग्रेज़ी जानने वाले हैं, कल के नागरिक होंगे ? दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने ही अब तक ७५ लाख परीक्षार्थियों को हिन्दी परीक्षाएँ पास करायीं हैं। इसके अलावा दस बीस अन्यान्य संस्थाएँ हिन्दी परीक्षाएँ चलाती हैं। आगरा, बम्बई और इलाहाबाद की हिन्दी परीक्षाएँ ज्यादातर दक्षिण भारत में ही चलती हैं। इसके अलावा करीब दस साल से चारों राज्यों के स्कूल कालिजों में हिन्दी पढ़ाई जाती है।

इस सब के अलावा यह हिन्दी-प्रचार का ही परिणाम है कि आज सब से ज्यादा पैसा हिन्दी फिल्मों को दक्षिण से मिलता है। रजत जयन्ती, स्वर्ण जयन्ती दक्षिण में हिन्दी फिल्में मनाती हैं। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास, पुस्तकें, दक्षिण में लगातार बिकती हैं और चाव से पढ़ी जाती हैं।

आज हर वधू के चुनाव में हिन्दी परीक्षा पास करना भी एक अनिवार्य योग्यता माना जाता है। नेहरूजी का भाषण हिन्दी में सुनना चाहते हैं दक्षिण वाले। इतनी सारी बातें जानते हुए भी अगर दक्षिण की ओर कोई उँगली दिखा कर यह कहे कि दक्षिण को हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने में आपत्ति है, तो वह स्वार्थपूर्ण अकलमन्दी के सिवा और कुछ हो नहीं सकती।

हम जानते हैं, मानते हैं कि सरकारी काम-काज सारे भारत भर में (दक्षिण में खास कर) एकदम हिन्दी में चलावें, तो गड़बड़ी होगी क्योंकि; सरकारी कल-पुर्जे अब भी वही हैं, जो अंग्रेजों के जमाने में थे। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि हमेशा-हमेशा के लिए उन्हीं कल-पुर्जों को बनाए रखें और आगे की पीढ़ी को उसी साँचे में ढालें।

कहना यह नहीं कि अंग्रेज़ी को हटाओ और हिन्दी को उसकी जगह पर बिठाओ। कहना यह है कि अंग्रेज़ी को हिन्दी की जगह पर न बिठाया जाय और हिन्दी को काबिल बनने की पूरी-पूरी मदद की जाय, ताकि वह जल्दी से जल्दी अपने हक को सँभालने में सफल हो जांय।

●

के० बी० मानप्पा

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार की स्थिति

एक अहिन्दी भाषी प्रदेश (मैसूर राज्य) में हिन्दी के सम्बन्ध में पिछले तीस साल से काम करते हुए, व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर, हम अहिन्दी भाषी क्षेत्र में हिन्दी-प्रचार के बारे में कुछ बातें आपके सामने रखना चाहते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले ही राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी-प्रचार के कार्य को कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यों के एक ढंग के रूप में ले लिया था और कुछ काम हो भी चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात् कांग्रेस ने जब राज्यों तथा केन्द्रीय शासन की बागडोर सँभाली तब उसने इस कार्य को सरकारी तौर पर उठाया और यह स्वाभाविक ही है कि प्रजातन्त्र की संसदीय प्रणाली में, जब सरकार कोई काम उठाती है, तब विरोधी दल उसका विरोध करता है, और उसके स्थान पर लोगों के सामने कुछ दूसरा कार्यक्रम पेश करता है। भारत में खास तौर से जनता के संतोष के लिए कांग्रेस पार्टी तक को स्वतंत्रता-पूर्व की अपनी कई धारणाएँ बदलनी पड़ी हैं। देश का भाषावार विभाजन, क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना, अंग्रेजी को १९६५ के बाद भी सहभाषा के रूप में बनाये रखना, आदि कुछ इसी तरह की बातें हैं; जो बाद में परिवर्त्तित रूप में सामने आयीं।

यहाँ इस समस्या पर विस्तार से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। इस समय इस सम्बन्ध में हम अपने अनुभव और कुछ उपाय, पाठकों के सामने जरूर रखना चाहते हैं।

हम पहले ही यह बात साफ कर दें कि १९६५ के बाद भी अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में बनाये रखने, अथवा जब तक अहिन्दी भाषी क्षेत्र के लोग अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को लाने का निश्चय न कर लें, तब तक उसे चलाते रहने के विरोध में हम नहीं हैं। हमारा कहना है कि यही समय है, जब हिन्दी-प्रचार का भावी कार्यक्रम शुरू कर दिया जाना चाहिए और उसमें एक नवीनता लायी जानी चाहिए; ताकि अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी को पनपने का उचित अवसर मिल सके और कम से कम इतना तो हो ही जाये कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ, हिन्दी और अंग्रेजी में से जिसे भी अपने लिए उपयुक्त समझें, बराबरी के दर्जे पर चुन सकें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने इस ओर कुछ काम किया है। मगर उस काम का नतीजा केवल इतना दिखायी देता है कि दक्षिण में हिन्दी के प्रचार के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से एक क्षेत्रीय अधिकारी की नियुक्ति हो गयी है, जिसका दफ्तर मद्रास में है।

सभी लोग इस बात से सहमत होंगे कि वह चाहे हिन्दी भाषी क्षेत्र हों, या अहिन्दी भाषी,

सभी जगह हिन्दी और सहभाषा यानी अंग्रेजी पर बराबर ध्यान दिया जाना चाहिए था। और, अगर इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, जिसको हम समझते हैं क्षेत्रीय भाषा के विकास से कोई विरोध नहीं है, तो फिर अहिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी के अध्ययन के प्रति उपेक्षा बिलकुल निरर्थक और बेमानी समझ पड़ती है। उदाहरण के लिए 'सदर्न रीजनल कौंसिल आफ स्टेट्स' (राज्यों की दक्षिणी क्षेत्रीय परिषद्) ने यह निश्चय किया है कि प्राइमरी शिक्षा में तीसरे दर्जे से अंग्रेजी पढ़ायी जानी चाहिए, मगर इन्हीं राज्यों में ऐसे कितने ही माध्यमिक स्कूल हैं, जहाँ हिन्दी के पढ़ाये जाने की कोई सुविधा नहीं रखी गयी है।

इस सम्बन्ध में जहाँ तक सरकार का प्रश्न है, शायद शिक्षा को राज्यों का मसला मान कर केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-मंत्रालय हिन्दी के सम्बन्ध में सबके लिए कोई एक तरह का कदम उठा पाने में असमर्थ है। हिन्दी-प्रचार के लिए राज्य सरकारों के माध्यम से कुछ करते हुए केन्द्रीय सरकार जो रकम मंजूर करती है, उसे या तो उपयोग में नहीं लाया जाता, या उसका आधा चौथाई उपयोग में लाया जाता है और या फिर उसका दुरुपयोग किया जाता है।

इस सम्बन्ध में हमारा सुझाव है कि अहिन्दी भाषी राज्यों में प्रभावशाली व्यक्तियों को चाहिए कि वे अपने प्रभाव से अंग्रेजी और हिन्दी को बराबरी का दर्जा दिलवाने में सहायक सिद्ध हों। और, यदि यह भारतीय संविधान और राज्यों के अधिकारों के विरुद्ध नहीं है, तो केन्द्रीय सरकार को इन अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में सीधे अपने मातहत हिन्दी-प्रचार संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए। साथ ही, गैर सरकारी तौर पर जो संस्थाएँ हिन्दी-प्रचार-कार्य कर रही हैं, उनके ऊपर थोड़ी देख-रेख और निगरानी रखते हुए आर्थिक रूप से उनकी सहायता करनी चाहिए।

●

जयप्रकाश भारती

राष्ट्रभाषा का विरोध दक्षिण में नहीं

हमारी राष्ट्रभाषा की समस्या अत्यधिक उलझन में रही है। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के १२ वर्ष बाद भी राजकाज में हिन्दी का प्रयोग नहीं किया जा रहा, और हाल ही में अंग्रेजी को सखी राजभाषा बनाने के विधेयक ने तो हम पर वज्रपात ही कर दिया है। अंग्रेज चले गए; परन्तु गुलामी का यह सब से बड़ा अवशेष अंग्रेजी आज भी राष्ट्र-मानस पर छाया हुआ है। इस विदेशी भाषा ने हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी के आसन को तो छीना ही, साथ ही यह सभी प्रांतीय भाषाओं को भी फलने-फूलने नहीं दे रही है।

जो लोग इस विदेशी भाषा को बनाए रखना चाहते हैं, उनका सबसे बड़ा तर्क यह है कि हिन्दी का दक्षिण में विरोध है। कुछ लोग इसके साथ ही बंगाल अथवा असम का भी नाम लेते हैं कि यहाँ हिन्दी का विरोध है। पिछले दिनों कुछ अहिन्दी भाषा-भाषी मित्रों से मिलने अथवा पत्र-व्यवहार करने का सुअवसर हमें प्राप्त हुआ और उनसे इस सम्बन्ध में खुल कर चर्चा हुई। उनमें से कुछ की प्रतिक्रिया से हम पाठकों को अवगत कराना चाहते हैं। निश्चय ही ये सब अपनी अपनी मातृ-भाषाओं के अच्छे जानकार हैं, और भाषा के संबंध में उन्होंने निष्पक्ष विचार व्यक्त किए हैं।

तमिलनाड में पाँच प्रतिशत भी विरोधी नहीं

तमिल के युवा कवि और शिक्षा-विशारद श्री गो परमशिवन से भाषायी समस्या पर बड़ी गर्म चर्चा हुई, परन्तु उन्होंने कहा कि यदि तमिल को तमिलनाड में राज-काज की भाषा के रूप में प्रयोग किया जाय तो हिन्दी को अखिल भारतीय स्तर पर प्रयोग करने के हम विरोधी नहीं हैं। राष्ट्रीय एकता बनाए रखने के लिए तमिलनाड का प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी देश-वासियों के साथ है। तमिल भाषा-भाषी लोग हिन्दी सीख रहे हैं और मैं स्वयं भी हिन्दी सीखने को उत्सुक हूँ। बहुत थोड़ी मैंने अभी सीखी है।

एक अन्य तमिल-भाषी सामाजिक कार्यकर्त्ता ने कहा कि मद्रास के जनसाधारण में हिन्दी के प्रति कोई विरोध की भावना नहीं है। कतिपय संस्थाएँ अथवा राजनीतिज्ञ ही इसका विरोध कर रहे हैं। जो जनता के पांच प्रतिशत का भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। उक्त कार्यकर्त्ता का सुझाव था कि दक्षिण भारत में हिन्दी सीखने वालों को कुछ सुविधाएँ दी जाएँ, तो हिन्दी प्रचार का कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ सकता है। अभी तक कुछ सामाजिक संस्थाओं ने ही यह कार्य किया है, सरकारी स्तर पर अभी कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ।

दक्षिण से हिन्दी के शिक्षक

तेलुगु की प्रमुख पत्रिका 'जागृति' के सम्पादक श्री टी० एल० नारायण से जब हमने पूछा कि क्या आंध्र में हिन्दी का विरोध है, तो उन्होंने कहा—हिन्दी का विरोध करने वालों में दो प्रकार के लोग हैं, एक तो स्वार्थी नेता तथा दूसरे वे लोग, जो सारे देश को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखते और उत्तर दक्षिण को अलग-अलग कर देना चाहते हैं। श्री नारायण का कहना था कि हमें ऐसे लोगों को समझाना चाहिए और यदि वे अपनी हठधर्मी न छोड़ें, तो उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसे लोगों के पीछे जनता नहीं है।

श्री नारायण के साथ हुई चर्चा में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कही कि साहित्य, संस्कृति और भाषाएँ एक-दूसरे से निकट का संबंध रखती हैं। इनके बीच में राजनीति को नहीं कूदना चाहिए। इससे भाषा-समस्या उलझती है। हिन्दी सीखना कठिन नहीं है। तेलुगु में संस्कृत के अनेक शब्द हैं और हिन्दी में भी। आंध्र की जनता सरल, किन्तु संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करती है। साथ ही आंध्र प्रदेश में तेलुगु को राजभाषा भी रखना होगा।

केरल के हिन्दी प्रेमी

मलयालम के पत्रकार श्री वेणुगोपाल ने चर्चा के बीच कहा कि केरल में हिन्दी का तनिक भी विरोध नहीं है। हिन्दी सीखने वालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। इतना ही नहीं, हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के लिए केरलवासी अधिकाधिक संख्या में तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने उत्साह के साथ यह भी कहा कि केरल में तो ऐसे लोग तैयार हो गए हैं और हो रहे हैं कि आवश्यकता पड़े, तो उत्तर भारत में हिन्दी-शिक्षक के रूप में भेजे जा सकें।

बंगाली त्याग करेंगे

कलकत्ता के एक बंगाली मित्र श्री एल० एन० दास ने भाषा-संबंधी कुछ प्रश्नों के उत्तर में लिखा था—बंगाली कभी भी राष्ट्र-भक्ति में पीछे नहीं रहे हैं। हिन्दी हमारी भी है। हम थोड़ी-सी नौकरियों के पीछे हिन्दी का विरोध नहीं करेंगे। बँगला बंगाल में चले और हिन्दी राष्ट्र-भाषा बने, तो किसी को भी विरोध नहीं।

इसी प्रकार असम, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात तथा अन्य सभी प्रांतों में, कहीं भी राष्ट्र-भाषा का विरोध नहीं है। यदि है, तो केवल कुछ राजनीतिज्ञों के दिमाग में, जो अपने स्वार्थों के लिए अथवा अपनी नेतागिरी कायम रखने के लिए समग्र राष्ट्र के हितों का बलिदान करने पर तुले हुए हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भाषायी विवाद को तुरन्त समाप्त करके हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहार में लाया जाए। हिन्दी पूर्ण-रूपेण सक्षम है, उसमें उच्च शिक्षा भी दी जा सकती है, और राज-काज भी चलाया जा सकता है। आवश्यकता है केवल संकल्प करने की। वह किसी पर लादी नहीं जाएगी, लादने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक भारतवासी, जिसमें तनिक भी देश-प्रेम है, सच्चे हृदय से उसका स्वागत करने को तैयार खड़ा है।

टी० माधवराव

मद्रास के छिहत्तर लाख हिन्दी छात्र

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा मद्रास का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इसका वृत्तान्त हिन्दी-प्रेमियों के लिए बड़ी दिलचस्पी की चीज होगी। पूज्य महात्मा गांधी के सामने समस्या यह थी कि भारत में भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वालों को एकसूत्र में लाने के लिए कौन-सा उपाय किया जाय। सारे भारतवर्ष में उन्होंने राष्ट्रीयता का प्रचार तो किया ही, उन्होंने यह भी सोचा कि देश को बलवान बनाने के लिए भाषा-भेद रूपी दीवार को हटाना चाहिए। इसीलिए देश के लिए एक सामान्य भाषा का, एक राष्ट्रभाषा का, कौमी जबान का विचार उनके मन में उठा। इसी विचार का फल था कि सन् १९१८ में इन्दौर कांग्रेस के अधिवेशन में बापूजी ने कहा कि सारे भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा की बड़ी जरूरत है और वह हिन्दी ही हो सकती है। प्रथम हिन्दी-प्रचार के रूप में उन्होंने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी को और उनके साथ स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को मद्रास भेजा।

सन् १९१८ में डा० पी० सी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में स्व० एनीबेसेन्ट ने मद्रास में गोखले हाल में पहले हिन्दी वर्ग का उद्घाटन किया। बाद में पं० हरिहर शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मद्रास कार्यालय के संचालक बने। अधिक संख्या में दक्षिण के चारों प्रान्तों में हिन्दी-प्रचारकों को तैयार करने के लिए हिन्दी-शिक्षक विद्यालय खोले गए। सन् १९१९-२० में करीब ८० हिन्दी प्रचारक इन विद्यालयों में तैयार हुए। सन् १९२४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्यालय पूज्य बाबूजी के आदेशानुसार दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा मद्रास के नाम से पंजीकृत हुआ। और बापू उसके आजीवन अध्यक्ष बने। इस तरह हिन्दी का प्रचार न केवल भाषा का प्रचार बना; बल्कि यह राष्ट्रीयता का, भारतीयता का प्रतीक बना। दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का यह पौधा धीरे-धीरे बढ़ा और अब विशाल वृक्ष बन गया है। आन्ध्र प्रदेश, केरल, मैसूर राज्य तथा तामिलनाड के कितने ही नवयुवक इस महान् राष्ट्रीय कार्य में जुटे हैं।

सन् १९३७ में प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हुए। मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के उस समय के उपाध्यक्ष एवं मार्गदर्शक श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मद्रास के मुख्यमंत्री बने। उन्होंने मद्रास राज्य के सभी स्कूलों में अधिकृत रूप से हिन्दी को प्रवेश कराया। राजाजी के इस नये कदम से हिन्दी-प्रचारकों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। सन् १९३८ से पहले हिन्दी को ऐच्छिक भाषा के तौर पर उच्च कक्षाओं में पढ़ाते थे, पर राजाजी ने पहली कक्षा से हिन्दी को पढ़ाने का नियम बनाया और प्रचार-कार्य को एक नया वेग दिया। स्कूलों में हिन्दी-शिक्षण

के लिए पाठ्यक्रम बनाने और पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का काम भी सरकार ने सभा को सौंपा।

दक्षिण के चारों प्रान्तों में सभा की शाखाएँ खोली गयीं। बापूजी के अमरत्व के बाद डा० स्व० राजेन्द्रप्रसाद सभा के अध्यक्ष चुने गये थे। उन दोनों महापुरुषों के मार्ग-दर्शन पर प्रचार का कार्य बढ़ता जा रहा है।

भारत की एकता सभा का प्रधान लक्ष्य है। और हिन्दी भाषा का प्रचार उसका साधन है। प्रान्तीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी भाषा का विकास करना उसका कार्यक्रम है। दक्षिण भारत में इस वक्त करीब १,००० हिन्दी-प्रचारक काम कर रहे हैं। इन प्रचारकों में से करीब ६००० लोग सभा द्वारा प्रमाणित हैं, जो प्रमाणित प्रचारक कहलाते हैं। अब तक दक्षिण में हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या ७६,००,००० है। करीब ६००० केन्द्रों में हिन्दी का प्रचार हो रहा है। लगभग २००० केन्द्रों में सभा की हिन्दी-प्रचार परीक्षाएँ चलती हैं। सभा ने अब तक ३२० पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

हर साल सभा पदवीदान समारम्भ में 'विशारद' व 'प्रवीण' उपाधियाँ प्रदान करती हैं। इस सभा में चारों प्रान्तों के विद्यार्थी हजारों की संख्या में भाग लेकर अपनी उपाधियाँ प्राप्त करते हैं। पिछले २७ साल से सभा पदवी-दान समारम्भ चलाती आ रही है। सन् १९४६ में सभा की रजत-जयन्ती के अवसर पर एक विशेष पदवीदान समारम्भ रखा गया। इसमें गांधीजी ने खुद अपने हस्ताक्षर करके स्नातकों को प्रमाणपत्र प्रदान किये।

गत ३१ दिसम्बर १९६२ के दिन सभा का २७वाँ पदवीदान समारम्भ मनाया गया। भारत सरकार के गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने स्नातकों को दीक्षान्त भाषण दिया। इस समारम्भ में करीब १५०० विद्यार्थियों ने उपाधियाँ प्राप्त कीं।

देश में भाषाओं की अनेकता के कारण एकता को कायम रखने में प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ एक सार्वदेशिक भाषा हिन्दी को व्यापक करने और योग्य तथा चरित्रवान कार्यकर्ताओं को तैयार करने का काम ही, दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के निरन्तर चिन्तन के विषय हैं।

●

हरिमोहन मालवीय

दक्षिण के संदर्भ में हिन्दी

दक्षिण के हिन्दी-विरोध की बात आज बहुत चलाई जा रही है। चाहे प्रभावपूर्ण जनमत दक्षिण में भी हिन्दी के पक्ष में हो; किन्तु यह बात सत्य है कि व्यापक प्रचार-तंत्र हिन्दी के विरुद्ध कुछ लोगों के हाथों में अवश्य है। मैं कई बार यह भी सोचता हूं कि ये लोग, जो अंग्रेज़ी को चिपका कर हिन्दी को संवैधानिक अधिकार से च्युत करना चाहते हैं, क्या कहीं विदेशी सूत्रों से तो संचालित नहीं होते हैं, जो भारत जैसे एशियाई-अफ्रीकी देशों पर अंग्रेज़ी के माध्यम से सदैव हावी रहना चाहते हैं। मेरा यह प्रश्न सार्थक है क्योंकि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के लिए निकलने वाली पत्रिका के ताजे अंक में 'ब्रिटिश कौन्सिल' द्वारा अंग्रेज़ी के व्यापक प्रचार की योजना सन्मुख आई है। वे अविकसित देशों के त्वरित तकनीकी और प्राविधिक विकास के संदर्भ में अंग्रेज़ी का प्रसार करने की आस्था प्रकट करते हैं, किन्तु यह एक स्पष्ट प्रवंचना है, जिसे समझना चाहिए। वे राष्ट्र अपने एकाकी स्वत्व की वृद्धि के लिए ही यह लुभावनी बात कह रहे हैं। यही बात दूसरे रूप में दक्षिण के दिग्गज भी कहते हैं कि अंग्रेज़ी के अपदस्थ होने से देश विश्व के अधिकांश राष्ट्रों से वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संपर्क स्थापित नहीं रख पाएगा। मैं समझता हूँ कि दक्षिण के सीमित अंग्रेज़ी-भक्त बुद्धिजीवियों का यह तर्क उत्तर के भी अंग्रेज़ी भक्तों के सिर का भूत बना हुआ है। क्या वास्तव में दक्षिण हिन्दी-विरोधी है, और अंग्रेज़ी को वहां का जनसाधारण अनन्त काल तक चलाना चाहता है। किन्तु यह भ्रान्ति सार्वदेशिक रूप में प्रचारित की गई है कि अंग्रेज़ी भाषा प्रशासन के ढाँचे की विकसित परम्परा से प्राप्त है, इसके बिना काम नहीं चल सकता, आदि। अंग्रेज़ी की समृद्धि की बात को ही लें। यह बात निर्विवाद भी मान ली जाय, तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि करोड़ों भारतीय इसके सहारे अपने भावी जीवन के लिए सक्षम बन कर आज खड़े हो सकते हैं । उत्तर स्पष्ट है कि यदि राष्ट्र-रचना के लिए त्वरित गति से कार्य कराना है, तो वह माध्यम अंग्रेज़ी नहीं हो सकती। दक्षिण में अंग्रेज़ी और हिन्दी की विशेष स्थिति की बात भी इसी प्रसंग में कहना मैं उचित समझता हूं। दक्षिण में प्रशासन-तंत्र पर अंग्रेज़ी का जो पूर्ण प्रभुत्व है, उस सीमा तक हिन्दी के अधिष्ठित करने की बात भी नहीं उठती। अंग्रेज़ी ने केवल हिन्दी का अहित अधिक किया हो, यह बात भी नहीं है; वरन् दक्षिण की भाषाओं के लिए भी वह वरदान सिद्ध नहीं हुई। दक्षिण की वे शक्तियां जो अंग्रेज़ी को चलाना चाहती हैं, यदि अपनी योजना में सफल हो गईं, तो यह निश्चित है कि इसका परिणाम तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम पर भी पड़ेगा। दक्षिण की भाषाओं के प्रचारक और बुद्धिजीवी इस बात को जानते हैं। श्री ग्रामणी ने अपना जो आन्दोलन तमिलनाड में चला रखा है, वह इसका प्रमाण है। उत्तर हो या दक्षिण, यदि अंग्रेज़ी भविष्य में भी चली, तो समस्त भारतीय भाषाएँ पनप नहीं सकतीं।

अतएव दक्षिण के दुराग्रही अंग्रेज़ी भक्तों के विरुद्ध दक्षिण के जन-मानस को उद्वेलित करना चाहिए।

दक्षिण में हिन्दी के प्रचार की बात के साथ-साथ राष्ट्रीय और भावात्मक एकता की बात भी राजनीतिक स्तर पर फैलाई जाती है। जहाँ तक भावात्मक एकता की बात है, वह दक्षिण-उत्तर के भाषाई विवाद से समाप्त होने वाली स्थिति नहीं है। भाषाई विविधता के बाद भी संस्कृति की एक ही पयस्वनी से पोषित समग्र समाज सदैव से एक रहा है और ऐसी विलगता का अनुभव कभी भी न करेगा कि वह संघर्ष के लिए उद्यत होकर पृथक्करण को अपना ले। राष्ट्रीय एकता की बात व्यवस्थामूलक भी है, और उसकी कड़ी हिन्दी ही जोड़ सकती है। प्रकृत रूप में उत्तर और दक्षिण की भाषाएँ सहज-सिद्ध विकासमान होती ही जायेंगी। भीषण प्रयास के बाद भी अंग्रेज़ी दिन-प्रतिदिन जन-समाज की बौद्धिक भूख शान्त करने में असमर्थ होती जा रही है। भाषा का ज्ञान अर्जित अज्ञान होता है। जब तक उसका अधिकतम व्यवहार नहीं किया जाता भाषा का सतही ज्ञान ही हाथ लगता है। व्यक्ति का वातावरण भी भाषा को उसके लिए सहज करता है। अंग्रेज़ी के लिए ये परिस्थितियाँ न उत्तर में हैं और न दक्षिण में; अतएव जो समाज अपनी भाषा को छोड़ कर पराई भाषा की ओर आकृष्ट होगा, उसका बौद्धिक ह्रास अवश्यंभावी है। हिन्दी तमिल, तैलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं के स्वत्व के लिए भी लड़ रही है, यह दक्षिण के बन्धुओं को समझना चाहिए। उन भाषा क्षेत्रों में अंग्रेजी का सीमित स्थान हिन्दी अंग्रेज़ी से ले कर प्रादेशिक भाषाओं के लिए पथ प्रशस्त ही करेगी।

कई बार साहित्यिक श्रेष्ठता की बात भी दक्षिणी भाषाओं की समृद्धि के अभिनिवेश के साथ चलाई जाती है। आज यह दृष्टिकोण पुराना पड़ गया है, कि कौन साहित्य कितना श्रेष्ठ है। फिर भी श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने के लिए भी हिन्दी और दक्षिणी भाषाओं के बीच साहित्यिक आदान-प्रदान होना चाहिये। दक्षिण और उत्तर की साहित्यिक उपलब्धियों का सामंजस्य होने से जो कुछ नया बनेगा उसकी कल्पना ही मुग्ध कर देती है।

एक बात और भी प्रचारित की जाती है कि हिन्दी माध्यम होने पर केन्द्रीय शासन की नियुक्तियों पर प्रभाव पड़ेगा, किन्तु यदि प्रतिभाशाली और योग्य व्यक्तियों को ही उच्चतम सरकारी पदों पर नियुक्त करने की बात पर शासन दृढ़ रहे, तो भाषा सम्बन्धी कठिनाई गौण हो जाती है। यह कार्य शासन का है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि भाषा की जटिलता के कारण किसी की हानि न हो। इसका एक हल प्रदेशानुसार आनुपातिक चयन भी हो सकता है।

•

क० म० शिवराम शर्मा

तमिल भाषा और हिन्दी

भारत की भाषाओं में अत्यन्त प्राचीन भाषाएँ दो हैं—संस्कृत और तमिल। कई तमिल भाषाओं का तो कहना है कि तमिल संस्कृत से भी प्राचीन है। हमारे लिए प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सी भाषा किससे प्राचीन है। हमें विचार यह करना है कि तमिल और संस्कृत के—तमिल भाषा-भाषियों और संस्कृत भाषा-भाषियों—के बीच में मेल-मिलाप कैसे हुआ। आज हम समग्र भारत को—आसेतु हिमाचल तक—एक राष्ट्र मानते हैं।

तमिल-संस्कृत के समन्वय पर विचार करते हुए हम केवल संस्कृत भाषा तक सीमित न रह कर संस्कृत से उत्पन्न आधुनिक हिन्दी पर तमिल का प्रभाव कैसे पड़ा है, इसका भी कुछ विचार करेंगे। भारत जैसे देश में एक भाषा का दूसरी भाषा से प्रभावित होना स्वाभाविक है। भारत की तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, महाराष्ट्री, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी, बँगला, उड़िया आदि सभी भाषाओं पर एक दूसरे का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा का माध्यम ले कर सार्वदेशिक व्यापार चला करते थे, और आज हम हिन्दी को वह स्थान प्रदान करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। अन्य भाषाओं ने हिन्दी पर कैसा प्रभाव डाला—यही हमारे लिए विशेष विचारणीय है। पर तमिल सुदूर दक्षिण की भाषा है, इसलिए उसका प्रभाव हिन्दी पर किस तरह से पड़ा—यह शीघ्र समझाना आसान नहीं है। हमें एक तरह से आर्य-द्राविड़ समन्वय का ही कुछ उल्लेख करना होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत की भाषाएँ भिन्न परिवार की हैं, और उत्तर भारत की भाषाएँ संस्कृत या प्राकृत अन्य है। यही कारण है कि सन् १९१८ ई० में गान्धीजी ने, जब हिन्दी-प्रचार का काम शुरू किया, तब पहले दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करने की आवश्यकता बताई थी। दक्षिण भारतीयों के लिए हिन्दी एक विदेशी भाषा-सी थी। उत्तर के लोग तो केवल 'मद्रासी भाषा' से परिचित थे। बहुत-से लोग यह भी नहीं जानते थे कि स्वतन्त्रता के पूर्व के मद्रास प्रान्त में, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम नामक चार साहित्य-सम्पन्न प्रमुख भाषाएं थीं। तेलुगु नाम उन दिनों केवल तेलुगु भाषा के लिए नहीं, अपितु तमिल और मलयालम भाषाओं के लिए भी लागू था; अतएव गान्धीजी ने राष्ट्रीयता की दृष्टि से न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार आवश्यक माना, बल्कि उत्तर भारतीयों को दक्षिण भारतीय किसी एक भाषा का सीखना भी आवश्यक माना था। भाई हृषीकेश शर्माजी को उन्होंने आदेश दिया था कि पहले तेलुगु भाषा सीखने पर अधिक ध्यान दो।

यद्यपि तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम एक परिवार की भाषाएँ हैं, तो भी यह मानना ठीक नहीं होगा कि तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम, तमिल से उत्पन्न हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कई शब्द इन चारों भाषाओं में प्रयुक्त हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि केवल तमिल भाषा की अत्यन्त प्राचीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम की रचनाएँ दस या बारह सौ

वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है; पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि जहां आजकल कन्नड़ और तेलुगु भाषाएं प्रचलित हैं, उन प्रदेशों में तमिल प्रचलित थी। जहां मद्रास से दक्षिण की डेढ़ या दो हजार वर्ष पूर्व की तमिल रचनाएँ उपलब्ध हैं, वहां मद्रास से उत्तर की कोई तमिल रचना उपलब्ध नहीं है। प्रश्न उठता है कि—हजार वर्ष पूर्व की तेलुगु या कन्नड़ की रचनाएं उपलब्ध है, तो उससे पूर्व उन भाषाओं के क्षेत्र में जो भाषा प्रचलित थी, वह कौन-सी भाषा थी? यह मानना उचित मालूम होता है कि कोई ऐसी सामान्य भाषा थी, जिसका तमिल से निकट सम्बन्ध था। उसी से कन्नड़ और तेलुगु भाषाओं की उत्पत्ति हुई। मलयालम आजकल जिस प्रदेश में प्रचलित है, वहां करीब डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व तमिल ही प्रचलित थी; अतः मलयालम भाषा को तमिल से उत्पन्न माना जा सकता है; किन्तु इस प्रदेश में भी तमिल प्रथाओं से भिन्न प्रथाएँ ऐसी पाई जाती हैं कि सहसा यह मानने का साहस नहीं होता कि केरल की संस्कृति तमिल संस्कृति से उत्पन्न है।

ऐसा समन्वय भाषा के सम्बन्ध में भी अवश्य ही हुआ होगा; पर हमें आज अपना विचार हिन्दी तक ही सीमित रखना है। मेरा विचार है कि हिन्दी के वाक्य की रचना में तमिल का कुछ प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

दक्षिण के लोग हिन्दी व्याकरण के 'लिंग' के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई पाते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि 'पैर' क्यों पुल्लिग है और 'टांग' स्त्री लिंग। उनकी समझ में नहीं आता कि 'अपजय' अर्थ प्रकट करने पर 'हार' क्यों स्त्रीलिंग है और 'माला' अर्थ प्रकट करने पर वही शब्द क्यों पुल्लिंग है। इस पर एक सज्जन ने एक सीमित क्षेत्र में इस संकट से मुक्ति पाने का एक सरल उपाय ढूंढ़ निकाला। उन्होंने कहा कि जिस वाक्य के कर्त्ता के साथ ने 'कारक' चिन्ह लगा है उसके 'कर्म' के साथ 'को' अवश्य लगा लो ताकि 'क्रिया का' रूप सदा पुंलिंग एक वचन रहे। कौन यह निश्चय करने का कष्ट उठाए कि 'कर्म' पुंलिग है या स्त्री लिंग। वे कहा करते थे, मैंने रोटी को खाया, उसने कहानी को सुना, तुमने चिट्ठी को पढ़ा आदि।

इन सब 'कर्मों' के साथ 'को' लगाना कुछ अच्छा तो नहीं लगता। प्रश्न अब यह उठता है कि 'कर्म' में कहां 'को' लगना अनिवार्य है और कहां वह चिन्ह लुप्त रह सकता है। यहीं पर दक्षिण भारतीय भाषाओं का प्रभाव देखने में आता है।

द्राविड़ भाषाओं में 'संज्ञाओं' के दो भेद हैं—महद्वाचक और अमहद्वाचक। मनुष्य वर्ग और देवता वर्ग के नाम महद्वाचक संज्ञाएं हैं। जीव-जन्तु, जीव-रहित अन्य वस्तुओं के नाम अमहद्वाचक हैं। महद्वाचक संज्ञाओं के ही स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का भेद माना जाता है। गाय स्त्रीवर्ग का जीवन होने पर भी स्त्रीलिंग की नहीं मानी जाएगी क्योंकि वह अमहद्वाचक है। अमहद्वाचक 'संज्ञाओं' के साथ "कर्म" कारक चिन्ह लगाना अनिवार्य नहीं है, महद्वाचक "संज्ञाओं" में वह अनिवार्य है।

यह कहना कठिन है कि तमिल पर हिन्दी का कोई प्रभाव पड़ा या नहीं? दोनों भाषाएं एक दूसरी से दूर रहने के कारण एक का दूसरी पर अधिक प्रभाव पड़ा नहीं होगा पर हिन्दू लोगों में तीर्थयात्रा का बड़ा महत्व माना गया है। इसलिए यात्रियों के कारण थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता ही रहा। तमिल प्रदेश के रामेश्वर, श्रीरंग, कांची जैसे क्षेत्र उत्तर भारतीयों के लिए दर्शनीय रहे हैं। उत्तर से यात्रा पर आने वाले गुजराती, महाराष्ट्री और बंगाली लोग भी अपने

विचार हिन्दी में व्यक्त करते रहे हैं। वैसे ही तमिल प्रदेश के यात्री चाहे पण्ढरपुर जाते, चाहे द्वारिका, अपने विचार हिन्दी में ही प्रकट करते रहे हैं। सम्भवतः इसका कारण मुसलमानों का राज्य-शासन हो। मुसलिम शासन यद्यपि दक्षिण में अपेक्षाकृत कम रहा, तो भी वह रहा अवश्य। आर्काट के नवाब का नाम तो प्रसिद्ध ही है। वे लोग अपने साथ उर्दू दक्षिण में ले गए। वह उर्दू दक्षिण में हिन्दुस्तानी कहलाई। उत्तर के कई हिन्दी भाषी व्यापारी दक्षिण में आ बसे। वे यद्यपि हिन्दी भाषा-भाषी थे, तो भी दक्षिण भारत में उनकी भाषा भी हिन्दुस्तानी कहलाई। सामान्य लोगों का विश्वास था कि हिन्दुस्तानी मुसलिम शासकों की भाषा थी और इसलिए धनी परिवारों में 'हिन्दुस्तानी' पढ़ना सभ्यता का लक्षण माना गया। तमिल प्रदेश के मध्य भाग में स्थित तंजौर जिले के एक गांव में मुझे यह सुनने का मौका मिला––

मुसलमान की बाषा मुषुदुम आता तै,
वन्ददुक्कु बोले तो सोच्चतुक्कु अल्ला है।

अर्थात् मुसलमान की भाषा पूरी-पूरी आती नहीं है। जितनी आती है, उतनी बोल लूँगा और शेष के लिए अल्ला है।

इतना तो निश्चित है कि मुसलिम शासकों के कारण और महाराष्ट्र के राजाओं के कारण अनेक शब्द जो हिन्दी में प्रचलित हैं, तमिल में भी प्रविष्ट हुए। मेज, कुर्सी, तमिल में मेजें, कुर्ची बन गई। खाली शब्द तमिल में 'काली' बन गया और उसका इतना उपयोग बढ़ गया कि इसका समानार्थ वाची तमिल शब्द बहुत कम प्रयुक्त होता है। सरकारी व्यवहार में जमाबन्दी, अजमाइश, किश्त, तहसीलदार, दास, चोबदार आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं।

कुछ शब्दों की समानता विशेष ध्यान देने योग्य है––

तमिल	हिन्दी
पिदुंग	फुदकना
पटिगारम	फिटकरी
शेरूक्क	सरकना (फिसलना अर्थ में)

इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि तमिल पर हिन्दी का प्रभाव पड़ा हो अथवा हिन्दी पर तमिल का प्रभाव पड़ा हो। तमिल इतनी पुरानी और दूरस्थ भाषा है कि उस पर हिन्दी का प्रभाव पड़ नहीं सकता था। इन्हीं कारणों से वह स्वयं भी हिन्दी पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती थी। फिर भी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। तमिल के आल्वरों में पेरियाल्वार एक हैं। इन्हीं के यहाँ 'आण्डाल' नामक प्रसिद्ध कवयित्री पली। आण्डाल की गिनती भी आल्वारों में है।

पेरियाल्वार ने श्रीकृष्ण पर गीत रचे हैं। पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व किसी तमिल पत्र के दीपावली अंक में मैंने कनक-आँगन में घुटनों से चलते हुए अपने प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करने वाले बाल-कृष्ण का चित्र देखा। तुरन्त मुझे सूरदास का पद याद हो आया और मैंने सोचा कि उस पद के आधार पर ही यह चित्र बना होगा; पर उस चित्र के नीचे दिया हुआ था 'पेरिया-ल्वार का एक गीत'। मुझे वह गीत सूरदास के पद का भाषान्तर-सा प्रतीत हुआ; पर पेरियाल्वार

का समय सूरदास से सैकड़ों वर्ष पूर्व था। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि सूरदास ने पेरियाल्वार के यहाँ से गीत का विषय लिया होगा।

सन् १९३७ में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के अहाते में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक बैठक हुई थी, जिसमें महात्मा गान्धी, राजर्षि टण्डनजी, स्वर्गीय जमनालालजी वजाज आदि पधारे थे। उस अवसर पर कई तमिल विद्वान् भी पधारे थे। वहां स्वर्गीय महामहोपाध्याय उ० वें० स्वामिनाथ अय्यर ने अपना यह विचार प्रकट किया था कि तुलसीदास पर कम्ब का प्रभाव पड़ा होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम्ब का काल तुलसीदास से सैकड़ों वर्ष पूर्व था।

श्री अय्यर का यह कहना था कि उत्तर भारतीय काव्य-परम्परा में स्वयंवर के पूर्व नायक-नायिकाओं के मिलने का वर्णन नहीं रहता है। तमिल-काव्य परम्परा में यह पाया जाता है। तुलसीदास के रामचरित मानस में भी यह पाया जाता है—यह सम्भवतः कम्ब का ही प्रभाव रहा हो। स्वयं तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागम सम्मतम्" कहा है। कम्ब रामायण नाना पुराणों में एक रहा हो। सुदूर काशी वासी तुलसी पर तमिल रामायण का प्रभाव कैसे पड़ा होगा? इसके सम्बन्ध में यह कहा गया—दक्षिण भारत के कई शैवमठ हैं, जो कई सदियों से धर्म और भाषा की सेवा करते आ रहे हैं। तंजाऊर जिले में 'तिरुप्पनन्दाल' नामक एक स्थान है, जहा एक ऐसा मठ है। उसके स्थापक अकबर और जहांगीर के समय के थे। वे काशी में जा कर बहुत दिनों तक रहे थे; इसलिए मठ का नाम ही काशीवासी मठ पड़ा। उनके यहां काशी में प्रतिदिन तमिल कम्ब रामायण पर प्रवचन हुआ करता था।

इधर तमिल प्रदेश में 'हरि कथा' नामक कथा-वाचन का क्रम चलता है। हरिश्चन्द्रोपाख्यान, रुक्मिणीपरिणय आदि कथाओं का प्रवचन होता है। बीच-बीच में गीत भी गाये जाते हैं। ऐसी हरि कथा को सामान्यतः कालक्षेपम कहते हैं। ऐसे कालक्षेपों में कबीरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि की कथाओं का भी प्रवचन होता आया है। यह क्रम करीब सौ दो सौ वर्षों से चला आ रहा है; पर इन प्रवचनों में इन साहित्यकारों को केवल भक्तों के रूप में चित्रित किया जाता रहा। इनकी दो चार रचनाएँ सुनाई जाती थीं।

शिवाजी महाराज के एक वंशज ने दक्षिण में अपना प्रभाव बढ़ाया और तंजौर जिले के तंजौर (तंजाऊर) नगर में अपनी राजधानी स्थापित की। उनके वंशजों ने तमिल साहित्य और कला को प्रोत्साहन दिया और साथ-साथ महाराष्ट्र और कुछ अंश तक हिन्दी-साहित्य को प्रोत्साहन दिया। तंजाऊर नगर में 'सरस्वती महल लाइब्रेरी' नामक बृहत् पुस्तकालय है। उसमें कई हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। यदि कोई उस पुस्तकालय में जाकर खोजे, तो अवश्य ही कुछ हिन्दी रचनाएँ मिल जाएँगी।

इस सदी के आरम्भ में कुछ पारसी नाटक मण्डलियाँ दक्षिण भारत में हिन्दुस्तानी नाटक प्रदर्शित करती थीं। दक्षिण के लोगों को हिन्दी या हिन्दुस्तानी का परिचय प्राप्त करने के ये ही अवसर थे।

मद्रास के श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यर बड़े देशभक्त थे। वे महामना मालवीयजी के आप्त मित्र थे। सन् १९१० में उन्होंने काशी में एक भाषण देते हुए कहा था कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। सन् १९१८ ई० में जब बापूजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार

आरम्भ किया, तब वे न रहे। खुशी की बात है कि उनके दो पुत्र हैं और दोनों हिन्दी-प्रचार के समर्थक हैं।

आर्य समाज का दक्षिण में भी कुछ प्रचार हुआ। उसके कारण हिन्दी का भी कुछ प्रचार हुआ; पर वह राष्ट्रभाषा का प्रचार नहीं था—आर्य भाषा का था। मदुरा नगर में ठाकुर खाँ चन्द्र वर्मा नामक सज्जन १९१५-१६ में ही हिन्दी-वर्ग चलाते थे। उन दिनों श्री ऐनी बेसण्ट का तमिल प्रदेश में बड़ा प्रभाव था। ठाकुरजी बेसण्ट का विरोध करते थे; इसलिए वे सरकारी जासूस माने गए।

सन् १९१८ में दक्षिण भारत में जब से हिन्दी का प्रचार शुरू हुआ, तब से कुछ आदान-प्रदान का काम शुरू हुआ है। श्रीमती अम्बुजम अम्माल ने रामचरित-मानस के अयोध्याकाण्ड का तमिल में सरल गद्यानुवाद किया है। आपने प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' का भी अनुवाद किया और इस अनुवाद के आधार पर तमिल बोलपट भी तैयार हुआ। अनेक उपन्यास और कहानियों का तमिल में अनुवाद हुआ है। श्री जमदग्नि नामक हिन्दी-प्रचारक ने स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का तमिल में पद्यानुवाद किया है। ऐसे ही 'आंसू' का भी तमिल में पद्यानुवाद हुआ है।

तमिल से हिन्दी में भी कई ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है। स्वर्गीय सुब्रह्मण्य भारती के "ज्ञानरथम" नामक गद्य-काव्य का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। तमिल वैष्णव कवि आल्वारों की कृतियों का अनुवाद हिन्दी में हुआ है।

सुमतीन्द्रन नामक उत्साही प्रचारक ने सुन्दर कविताएँ रची हैं, जिनकी बड़ी प्रशंसा हुई है। अभी हाल में मुझे दो-चार हिन्दी गीत 'कर्नाटक राग' में सुनने का मौका मिला। ये गीत मदुरा की एक देवी ने रचे हैं। ये गीत कृष्ण-भक्ति के गीत हैं और मीरा की रचनाओं से कुछ मिलते-जुलते हैं।

एक तमिल भाषा-भाषी के कुछ शब्द यहाँ दिये जा रहे हैं—

वर्णमात्र को है सदा अकार का आधार।
त्यों ही सारी सृष्टि का है ईश्वर आधार।।
का होइहि जो राखिए तिय कहं कारागार।
ताकर उच्च चरित ही ताकर राखनहार।।
वीणा नाद मृदंग को उत्तम मानै सोय।
शिशु की बातें अटपटी जिसने सुनी न होय।।
सुत प्रति करतब बापका बस एकहि सो जान।
पाने योग्य करे उसे विज्ञों से सम्मान।।
सुत कर करतब सोय जाते पितुसन सब कहै।
का तय कीन्हा होय जाकर फल उससुन भयो।।
नारंगी का आचार नाव निसेनी और गुरु।
आप न पावें पार औरन को कर पार भी।।

●

एन० वेंकटेश्वरन्

केरल की हिन्दी को देन

केरल के लोग

केरल के सब से आदिम निवासियों की परम्पराओं में 'चेरुमर', 'पुलयर' आदि पुरानी द्राविड़ जाति के लोग इस समय भी मिलते हैं, जो अपनी आजीविका के लिए प्रायः खेती-बारी के काम करते हैं। उसी परम्परा के 'मलयर', 'नायाटी', 'काटर' आदि कुछ असभ्य लोग हैं, जो ज्यादातर जंगलों में रहते हैं और शिकार-द्वारा अपनी उपजीविका चलाते हैं। ये दोनों प्रकार के आदिम निवासी, ज्यादा अशिक्षित और गरीब हैं। अपनी परम्परागत रूढ़ियों और रीति-रिवाजों के कारण ये लोग सभ्य समाज से सदा दूर रहते हैं ; लेकिन आजकल विशेष प्रकार से परिगणित और पतित जातियों के उद्धार के देश-व्यापी प्रयत्नों के फलस्वरूप इन लोगों की दशा भी धीरे-धीरे सुधरती जा रही है। इन आदिम निवासियों की संख्या भी काफी बड़ी है।

प्राचीन काल में भारत के अन्य प्रांतों तथा यूरोप, अरब आदि विदेशों से जो लोग विभिन्न समय पर केरल में आकर आबाद हुए थे, उनको इतिहास के विद्वान् 'अभ्यागत लोग' के नाम से पुकारते हैं। ऐसे अभ्यागत लोगों में 'नम्पूतिरी' और 'नायर' जाति के लोग सब से प्राचीन और प्रमुख माने जाते हैं। 'नम्पूतिरि' शुद्ध आर्य रक्त के ब्राह्मण समझे जाते हैं, तो 'नायर' आर्य और द्राविड़ के मिश्रित रक्त के शूद्र। केरल के प्राचीन इतिहास से पता लगता है कि यहाँ पहले कई शताब्दियों तक 'नम्पूतिरी' और 'नायर' लोगों की विशेष प्रधानता और प्रतिष्ठा रही थी और उनके अधीन 'पुलयर', 'चेरुमर' आदि आदिम निवासी लोग किसान और मजदूर बनकर गुलामों की तरह दिन काटते थे।

केरल के 'नम्पूतिरियों' के विषय में कहा जाता है कि पौराणिक काल में भगवान् परशु-राम ने क्षत्रिय-हत्या के पापों से स्वयं मुक्ति पाने के इरादे से समुद्र के भीतर से अपने परशु को फेंक कर केरल प्रदेश को बाहर निकाल लिया और ब्राह्मणों को उसे दान में दे दिया। जिन ब्राह्मणों को केरल की भूमि प्राप्त हुई, उनको 'नम्पूतिरी' ब्राह्मण का नाम भी दिया था। परशुराम ने केरल भूमि पर शासन करने का सम्पूर्ण अधिकार भी उन्हीं 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' को दिया था। केरल में उनको स्थायी रूप से अधिवसित करने के उद्देश्य से भगवान् परशुराम ने 'नम्पूतिरी' ब्राह्मणों की चोटी सामने की ओर बढ़ाने की एक नई रीति भी प्रचलित कर डाली थी, जिससे यदि वे कभी केरल छोड़ कर अपने पुराने देश या अन्यत्र कहीं चले जाते, तो वहाँ से एकदम जाति-भ्रष्ट लोगों की तरह लाचार होकर उनको केरल की ही तरफ लौट आना पड़ता था। ब्राह्मण होने पर भी 'नम्पूतिरियों' में कुछ खास खानदानों के लोगों को राज्य-रक्षा के लिए आवश्यक क्षत्रियोचित सैनिक शिक्षा और शस्त्र-विद्या की शिक्षा पाने की विशेष अनुमति और सुविधा भी पहले दी गई थी; अतः केरल में आज भी 'यात्रा नम्पूतिरी' नामक कुछ विशेष प्रकार के ब्राह्मण

हैं, जिनमें आज भी 'आयुध मेट्टुक्कल' (शस्त्र-ग्रहण) नाम का एक खास रिवाज प्रचलित है। यह प्रथा उनकी पुरानी युद्ध-यात्रा की प्रतीक मानी जाती है। 'यात्रा नम्पूतिरियों' को पहले अन्य नम्पूतिरियों की तरह वैदिक शिक्षा पाना अनिवार्य नहीं था। वे केवल 'सन्ध्यानुष्ठान' करने मात्र की साधारण-सी शिक्षा पाकर अपना शेष समय शस्त्राभ्यास और राजनीति के कार्य में लगाते थे।

कहा जाता है कि जब पहली बार 'नम्पूतिरि' लोग केरल में आकर रहने लगे थे, तब अपनी परिचर्या और सेवा-शुश्रूषा के लिये कुछ शूद्र वर्ण के लोगों को भी साथ ले आये थे। उन्हीं शूद्रों को 'नायर' कहते हैं। 'नायर' लोग यहाँ आकर 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' की सेवा के अलावा देश के शासन सम्बन्धी अन्य कार्य भी करते थे, जिससे वे देश के 'नायक' भी माने जाने लगे। 'नायर' शब्द 'नायक' का तद्भव रूप है। प्राचीन काल में केरल के नायर लोग बड़े बहादुर-योद्धा थे। नायरों में बहुत-से कुशल सेना-नायक भी हुए थे। केरल में समय-समय पर सामन्तों के बीच जितने पारस्परिक युद्ध हुए थे, उन सब के वर्णन में यहाँ के नायरों की बहादुरी और साहस की घटनाओं का विशेष उल्लेख मिलता है। अंग्रेजों के शासन-काल में भी केरल की 'नायर-सेना' का विशेष सम्मान किया जाता था। वास्तव में 'नायर' जाति के लोग बड़े बहादुर और साहसी हैं। इस समय भी केरल में नायरों के कई बड़े-बड़े प्राचीन खानदान हैं। उन खानदानों के लोगों को 'नायर' के अलावा अन्य कई प्रकार के आदरपूर्ण नामों से भी सम्बोधित करने की प्रथा प्रचलित है। वे तमाम शब्द मलयालम में 'सेना' अथवा 'शासन' सम्बन्धी सम्मान-भाव के द्योतक हैं। उन में कर्त्ता, मेनन, पणिक्कर, अच्चन, कुरूप, नाम्पियार आदि इस समय भी प्रचलित हैं। सरदार के० एम० पणिक्कर, श्री वी० के० कृष्ण मेनन आदि इन्हीं खानदानों की परम्परा में से हैं।

केरल की भाषा और साहित्य

केरल के अधिकांश लोगों की मातृभाषा मलयालम है। मलयालम को अपनी जन्म-भूमि के नाम के आधार पर कई लोग 'केरली' भी कहते हैं। यद्यपि 'केरली' अपनी बड़ी बहन 'तमिल' भाषा के बराबर अत्यधिक पुरानी अथवा प्राचीनतम भाषा नहीं मानी जाती है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व केवल ९०० ईस्वी के करीब ही साबित किया जा सकता है। तो भी, उसका व्याकरण और शब्द-समूह तमिल की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक एवं सर्वांगपूर्ण है। दक्षिण भारत की प्राचीन द्राविड़ भाषा के कुल में जन्म लेने पर भी मलयालम पर अपनी जननी की अपेक्षा धात्री संस्कृत-भाषा का बहुत अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। प्राचीन मलयालम में भी उत्तर भारत की कई प्रमुख भाषाओं की तरह संस्कृत के सैकड़ों शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूपों में पाये जाते हैं।

मलयालम की वर्णमाला संस्कृत के समान ही है। दो चार वर्ण अधिक भी मिलते हैं। मलयालम की अपनी अलग लिपि भी है, जो अत्यन्त सुन्दर और सम्पूर्ण है। यद्यपि नागरी लिपि में मलयालम की सम्पूर्ण ध्वनियाँ नहीं हैं, तो भी उसके सहारे से मलयालम भाषा अच्छी तरह लिखी और पढ़ी जा सकती है। लेकिन, दो-चार वर्षों के लिए मलयालम के हेतु नागरी-लिपि में कुछ विशेष प्रकार के चिह्नों का उपयोग भी करना पड़ेगा ; अतः भारत की राष्ट्र-लिपि अथवा सामान्य-लिपि के रूप में नागरी-लिपि को अपनाने के प्रस्ताव का विरोध शायद ही मलयालम के भक्त

लोग करेंगे। केरल के कई वर्तमान प्रगतिशील, विकासोन्मुख विचारकों, साहित्यकारों तथा भाषा-प्रेमियों ने भारत की सामान्य लिपि के रूप में नागरी लिपि को स्वीकार करने के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव का दिल से समर्थन भी किया है।

मलयालम का प्राचीनतम साहित्य 'लोक गीतों' का माना जाता है। लोक-गीतों की भाषा आधुनिक मलयालम से एकदम भिन्न थी। उस समय की भाषा का नाम ही दूसरा था, क्योंकि मलयालम का स्वतन्त्र, सुन्दर रूप उन गीतों में पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ था। उन दिनों की उस भाषा को 'मलयालम-तमिल' कहते थे। कुछ लोगों का कहना है कि वह तमिल भाषा की एक प्रादेशिक बोली मात्र थी ; लेकिन वास्तव में 'मलयालम-तमिल' में रचे हुए उन प्राचीन गीतों में तमिल भाषा से बहुत कुछ भिन्न एक स्वतन्त्र प्रकार की बोली का विकासोन्मुख रूप अवश्य प्राप्त होता है, जिसका नाम ही आगे चलकर 'मलयालम' पड़ा था। अतः उन लोक-गीतों को, यदि मलयालम के प्रेमी ऐतिहासिक विद्वान्, मलयालम की प्राचीन सम्पत्ति बताते हैं, तो तमिल के अनन्य आराधक उन्हें अपनी भाषा की पुरानी पूँजी मानने का दावा भी अवश्य करते हैं। वे लोक-गीत तत्कालीन किसान रमणियों के गाने के लिए रचे गये थे, जिनमें केरल के प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम, विरह, विनोद आदि के मनोज्ञ एवं मधुर वर्णन मिलते हैं ; लेकिन उन गीतों का कोई अच्छा प्रामाणिक संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। केवल देहाती लोग गाया करते हैं।

उपर्युक्त लोक-गीतों के बाद मलयालम में 'पाट्टुकल्' नामक विशेष प्रकार का साहित्य मिलता है। तत्कालीन लोगों को आनन्द प्रदान करने तथा सत्प्रेरणा देने के उद्देश्य से विविध विषयों पर रचे गये खास प्रकार के गानों को 'पाट्टुकल्' कहते हैं। उन गानों में देवों की कथाएँ वीर पुरुषों की जीवनियाँ, विनोद भरी सामयिक बातें, भगवान् की स्तुति, देश-भक्ति, बेकारी, गरीबी आदि विविध विषय वर्णित हैं। मलयालम भाषा का स्वतन्त्र रूप सब से पहले उन्हीं, 'पाट्टुकल' नामक रचनाओं में ही प्रकट हुआ है, जो तमिल से थोड़ा-बहुत प्रभावित होने पर भी उससे बिल्कुल भिन्न अवश्य है। उस समय की मलयालम में सर्वनाम, विशेषण, क्रियाओं के रूपान्तर, विभक्तियाँ, कारक, प्रत्यय, क्रिया विशेषण आदि करीब-करीब आधुनिक मलयालम के अनुरूप ही पाये जाते हैं ; अतएव 'पाट्टुकल्' को मलयालम साहित्य की सम्पत्ति मानने में कहीं किसी प्रकार का विरोध होना सम्भव नहीं है।

प्राचीन काल से लेकर ईसा की अठारहवीं सदी अथवा उन्नीसवीं सदी के आरम्भ काल तक मलयालम में केवल पद्य-साहित्य की उन्नति ही अधिक हुई थी। उन्नीसवीं सदी में गद्य-साहित्य का विकास भी धीरे-धीरे होने लगा। केरल की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण गद्य के विकास की अनिवार्य आवश्यकता भी आ पड़ी थी। अंग्रेजों के शासन-काल में प्रायः सभी भाषाओं में गद्य-साहित्य का विकास शीघ्र होने लगा। मलयालम की हालत भी वैसी ही थी। ईसाई धर्म के अनेक प्रचारकों के कारण हमारे देश के साहित्य में गद्य का उपयोग बढ़ने लगा और उसके अनुसार रचनाओं की संख्या भी अधिक होने लगी। यहाँ तक कि प्रथम 'मलयालम-कोश' के लेखक डा० गुण्डर्ट नामक जर्मनी के एक विदेशी सज्जन ने मलयालम भाषा सीखने के लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें, व्याकरण-ग्रन्थ आदि की रचना करके पर्याप्त यश कमा लिया है। वास्तव में गुण्डर्ट की साहित्य-सेवाएँ प्रशंसनीय हुई हैं। उनके लिखे कोश में शब्दों की उत्पत्ति,

अर्थ-भेद, व्यंग्यार्थ, उच्चारण की रीति आदि विविध बातों पर प्रकाश डाला गया है। मलयालम की प्राचीन कृतियों का अध्ययन करने के लिए गुण्डर्ट का कोश बहुत उपयोगी है।

मलयालम के गद्य-साहित्य में सब से पहले पाठ्य-पुस्तकों की बारी ही आती है। आरम्भ में कई ईसाई पण्डितों ने इस उपयोगी कार्य में थोड़ी-बहुत सफलता अवश्य पाई है; लेकिन 'केरल वर्मा वलियकोयितम्पुरान' और उनके भानजे 'राजराज वर्मा कोयि तम्पुरान' के प्रयत्नों से मलयालम में जो पाठ्य पुस्तकें लिखी गई थीं, उनकी बराबरी करनेवाली रचनाएँ, शायद ही किसी भाषा में अन्यत्र प्रकाशित हुई होंगी। वे दोनों राज-परिवार के प्रतिष्ठित विद्वान् और अच्छे कवि तथा साहित्यकार भी थे। मलयालम के अभिनव साहित्य के निर्माताओं में ये दोनों कोयतम्पुरान अत्यन्त आदरणीय साहित्य-सेवी माने जाते हैं। उन्होंने अथक परिश्रम करके गद्य-साहित्य की बड़ी उन्नति की है। उनमें राजराज वर्मा ने स्वयं पाठ्य-पुस्तकों के अलावा अच्छे-अच्छे रीति ग्रन्थों, व्याकरण आदि की रचना भी की है। उनके लिखे हुए लक्षण-ग्रन्थों में 'साहित्य साह्यम्' तथा 'मध्यम-व्याकरणम्', 'वृत्त मंजरी', 'भाषा-भूषणम्', 'केरल पाणिनीयम्' आदि प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं। केरल वर्मा ने 'अकबर' नामक एक उपन्यास लिखा है। 'विज्ञान मंजरी' और 'महच्चरितम्' उनकी दूसरी श्रेष्ठ गद्य रचनाएँ हैं। वे गद्य की अपेक्षा पद्य ज्यादा लिखते थे। उनके काव्यों में 'पद्मनाभ पद पद्म शतकम्', 'मयूर सन्देशम्', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक (अनुवाद), 'ध्रुव चरितम्', 'हनुमदुत्सवम्' आदि बहुत श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध माने जाते हैं। उन दोनों 'कोयितम्पुरानों' की प्रेरणा से कितने ही गद्य-लेखक तथा कवि मलयालम साहित्य की उन्नति करने में तत्पर होने लगे। उन सबके अथक प्रयत्न से आधुनिक काल में मलयालम साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है।

जैसे हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु से शुरू होता है, वैसे ही मलयालम में भी उपर्युक्त दोनों 'कोयितम्पुरानों' से आधुनिक पद्य और गद्य-साहित्य का आरम्भ होता है। वे आधुनिक युग के पथ-प्रदर्शक एवं प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके समकालीन कवियों में के० सी० केवल पिल्ला, कोडुं गल्लूर कुंजिकुट्टन तम्पुरान, चात्तुकुट्टि मन्नाटियार, पन्तलम् केरल वर्मा, नटुवम् नम्पूतिरी, कुण्टूर नारायण मेनन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में कई महाकाव्य, खण्ड-काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी मिलती हैं, जिन सबके नामों की बड़ी सूची मात्र यहाँ देना अनावश्यक-सा प्रतीत होता है।

आधुनिक पद्य-साहित्य की नवीन धारा के अग्रदूतों के रूप में कुमारन्, आशान, बल्लतोल. और उल्लूर के नाम लिये जाते हैं। ये दोनों महाकवि इस समय जीवित नहीं है। इनमें कुमारन् आशान् मलयालम के दुःखवादी दार्शनिक कवि हैं। उनकी कविता में पीड़ा और निराशा की मार्मिक गूँज है। वे बड़े तत्त्वान्वेशी, जीवनदर्शी कवि थे; अतः उनकी रचनाएँ दार्शनिक और आदर्श-प्रधान हैं। वे समाज-सुधारक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कवि थे। उन्होंने अछूतों की दयनीय दुर्दशा पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए 'चण्डाल भिक्षुकि' नामक खण्ड-काव्य लिखा है। सके अलावा 'बुद्ध चरितम्', 'वीणपूवू', 'नलिनी', 'चिन्तामग्ना सीता', 'लीला', 'करुणा' आदि बीसों उत्कृष्ट काव्य लिखे हैं।

वल्लतोल नारायण मेनन मलयालम के राष्ट्रीय कवि थे। समाज और राष्ट्र की नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं पर पड़ा है। वे गान्धी जी के बड़े भक्त थे। उसी प्रकार

साम्यवादी रूस के आराधक भी थे। 'चित्रयोगम्' उनका लिखा महाकाव्य है। 'बधिर विलापम्', 'कांञ्चि सीता', 'मग्दलन मरियम्', 'शिष्यनुमकनुम्', 'गणपति' आदि उनके मुख्य खण्ड काव्य हैं। 'साहित्य मंजरी' नामक आठ भागों में उनकी विविध विषयों पर लिखी फुटकर कविताएँ संगृहीत हैं।

उल्लूर परमेश्वरय्यर बड़े ही विलक्षण पण्डित और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी रचनाएँ पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण विद्वानों के बीच में विशेष समादर की पात्र बनी हैं। 'उमा केरलम्' उनका एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। 'बंचीश गीति', 'मंगल मंजरी', 'पिंगला', 'हृदय कौमुदी', 'कर्ण भूषणम्', 'किरणावलि', 'काव्य-चन्द्रिका' आदि उनके मुख्य खण्ड-काव्य और पद्य-संग्रह है। उल्लूर ने पद्य की तरह गद्य में भी कई श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं, जिनमें 'विज्ञान दीपिका' उनके विद्वत्तापूर्ण निबन्धों का संग्रह है। उन्होंने मलयालम के कई प्राचीन काव्यों की खोजकर प्रकाशित किया। उनकी भूमिका और टीकाएँ भी लिखीं। उन्होंने मलयालम साहित्य का एक बृहत् प्रामाणिक इतिहास भी लिखा है।

मलयालम के आधुनिक जीवित कवियों में जी० शंकर कुरुप बड़े प्रगतिशील और छायावादी कवि हैं। वे केरल के नवयुवकों के सब से प्रिय कवि माने जाते हैं। उनके विचार और आदर्श आधुनिक युग के अनुकूल एवं क्रान्तिकारी हैं। दलित मानवता की पुकार और कला उनकी कविता के शब्दों में गूँज उठती है। उन्होंने 'साहित्य-कौतुकम्' नामक चार-पांच संग्रहों में अपनी सैकड़ों फुटकर कविताओं को प्रकाशित किया है। 'स्वप्न सौधम्', 'सूर्यकान्ति', 'नवातिथि', 'संध्या' आदि उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। रवि बाबू की गीतांजलि का पद्यानुवाद भी उन्होंने किया है। अब वे हिन्दी के जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' का भी अनुवाद कर रहे हैं।

कोमल-कान्त पदावलियों में मधुर मार्मिक गीत रचने वाले भावुक कवि 'चंगंपुषा' कृष्ण पिल्लै मलयालम के दुःखवादी कवियों में सब से श्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन की निराशा, प्रेम की पीड़ा, गरीबी और बेकारी की यातना, समाज के अत्याचार, क्रान्ति के स्वप्न आदि विषयों पर उन्होंने बहुत-सी सुन्दर मार्मिक रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं का बहुत प्रचार केरल के अपढ़ मजदूरों व देहातियों के बीच में भी हुआ है। 'रमणम्' नामक उनका जो खण्ड-काव्य है, उसका पैंतीसवाँ संस्करण भी अभी निकला है। 'देवता', 'आराधन', 'बाष्पांजलि', 'हेमन्त चन्द्रिका', 'उद्यान-लक्ष्मी-सुगंधांगदा' आदि उनके प्रमुख खण्ड-काव्य और कविता-संग्रह हैं। वे केरल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि माने जाते हैं; लेकिन दुर्भाग्यवश पैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही उनका स्वर्गवास हो गया था।

मलयालम के आधुनिक पद्य-साहित्य में ऐसे अनेक उदीयमान प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं, जो अपनी अमूल्य, सुन्दर, भावपूर्ण, क्रान्तिकारी एवं मधुरतम कविताओं से साहित्य की निरन्तर श्रीवृद्धि करते रहे हैं। उनमें नालप्पाडु बालामणि अम्मा और नारायण मेनन, के० राजा कुट्टिप्पुरत्तु केशवन नायर, वेण्णिक्कुलम्, गोपाल कुरुप, वेलोप्पिल्लि श्रीधर मेनोन, ओलप्पमण्ण, पी० भास्करन, अेन० वी० कृष्ण वारियर, पाला नारायणन नायर आदि कुछ प्रमुख कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मलयालम के गद्य-साहित्य में उपन्यास, गद्य-काव्य, नाटक, एकांकी, कहानी, जीवनी, निबन्ध, आलोचना आदि सब प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत,

अंग्रेजी और बंगाल के उपन्यासों तथा आख्यायिकाओं का प्रभाव मलयालम पर खूब पड़ा है। अंग्रेजी और बँगला के उत्तम उपन्यासों का अनुवाद मलयालम में काफी हो चुका है। उनके प्रभाव में पड़कर कई स्वतन्त्र मौलिक उपन्यासों की रचना भी हुई है। उपन्यासों में सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'कुन्दलता' के रचयिता 'अप्पु नेटुंगाडी' माने जाते हैं। चन्तु मेनन के 'शारदा', 'इन्दुलेखा', सी० वी० राम पिल्लै के 'मार्तण्ड वर्मा','रामराज बहादूर', 'धर्मराजा', 'प्रेमामृतम्', टी० के० वेलु पिल्लै के 'हेमलता', सरदार के० एम० पणिक्कर के 'परंकिप्पटयालि' 'पुणोरकोट्टु स्वरूपम्', 'केरल सिंहम्' एन० के० कृष्ण पिल्लै के 'कनक मंगलम्', नारायण गुरुक्कल के 'सत्याग्रही', रामकृष्ण पिल्लैके 'पारपुरम्' गोपिनाथन नायर के 'सुधा', पोट्टकाट्ट कषी तथा उरुब के दसों उपन्यास, आदि उच्चकोटि के उपन्यास हैं। मलयालम में उपन्यास-साहित्य की ईर्ष्याजनक उन्नति अवश्य हो रही है, जिसकी प्रशंसा भारत की केन्द्र सरकार भी कर चुकी है। तकषी के 'चम्मीन' नामक मौलिक उपन्यास को सरकार पाँच हजार रुपये से पुरस्कृत भी कर चुकी है।

कहानी-साहित्य का भी अच्छा विकास मलयालम में हो रहा है। इधर सैकड़ों श्रेष्ठ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रायः सभी उपन्यास-लेखकों ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनके अलावा पोनकुन्नं वर्की, पोट्टक्काटु, मुहम्मद बशीर, कारूर, कोवूर, तकषी, सरस्वती अम्मा, ललिताम्बिका अन्तर्जनम्, केशवदेव, के० टी० मुहम्मद, पी० सी० कुट्टिकृष्णन् आदि सैकड़ों कहानी-लेखकों के नाम भी अवश्य उल्लेखनीय हैं।

नाटक और एकांकियों का साहित्य भी मलयालम में काफी उन्नति कर रहा है। ई० वी० कृष्ण पिल्लै ने नाटक-साहित्य के विकास में सराहनीय काम किया है। पुराने संस्कृत एवं तमिल नाटकों के अनुवाद के बाद स्वतन्त्र मौलिक नाटकों की रचना करने का क्षेत्र उन्हीं के कारण सुगम हो गया। 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्नि मित्रम्', 'चारुदत्तम्', 'उत्तररामचरितम्' जैसे पद्यमय अनूदित नाटकों के बाद ई० वी० कृष्ण पिल्लै के गद्य नाटकों ने विशेष लोक-प्रियता पाई। रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक अत्यधिक सफल हुए। 'सीता देवी', 'इरविकुट्टि पिल्लै', 'राजा केशवदास' बी० ए० मायावी 'पेण्णरशुनाटु' आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। पोनकुन्नं वर्की, कौनिक्करा कुमार पिल्लै और पद्मनाभ पिल्लै, सी० माधवन पिल्लै, टी० एन० गोपिनाथन नायर, एन० पी० चेल्लप्पन नायर, वी० टी० भट्टतिरि, के० रामकृष्ण पिल्लै, के० टी० मुहम्मद, एन० कृष्ण पिल्लै, कप्पन कृष्ण मेनन आदि कई सज्जन आधुनिक युग के प्रमुख नाटककार हैं। आर० सी० शर्मा जैसे कुछ लेखकों ने बँगला के डी० एल० राय, गिरीश घोष आदि के नाटकों का अनुवाद भी किया है।

गद्य-काव्य का भी अच्छा विकास मलयालम में हुआ है। कौनिक्करा कुमार पिल्लै और पद्मनाभ पिल्लै इस शाखा के प्रमुख लेखक माने जाते हैं। उनके अनुकरण पर बहुत-से गद्य-काव्य लेखक अपनी रचनाओं से साहित्य-भण्डार को भरपूर बना रहे हैं।

जीवनी, निबन्ध और आलोचना-साहित्य का भी भण्डार बराबर बढ़ता जा रहा है। केरल में चित्रकार और गायक भी कम नहीं है। विश्वविख्यात चित्रकार रविवर्मा केरल के थे, जिनके चित्रों का प्रचार सारी दुनिया में हो चुका है।

मलयालम में 'मातृभूमि', 'मलयाल मनोरमा', 'मलयालम् राज्यम्', 'परिषद मासिका',

'युव केरलम्' आदि पचासों मासिक-पत्र और साप्ताहिक-पत्र प्रकाशित होते हैं। मलयालम के दैनिक अखबारों की संख्या भी पचास के करीब है।

मलयालम की तरह संस्कृत और तमिल के भी कई कवि और विद्वान् केरल में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि यहाँ उनका भी संक्षिप्त परिचय देना बिलकुल सम्भव प्रतीत नहीं होता, तो भी केरल के शंकराचार्य, मेलप्पत्तूर नारायण भट्टतिरी, महाकवि भास, कुमार कवि आदि का स्मरण किये बिना रहना अनुचित होगा।

आखिर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य, कथा आदि की दृष्टि से केरल और मलयालम का स्थान निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

केरल में हिन्दी-प्रचार

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि बहुत पुराने जमाने से भी केरल में कहीं-कहीं अथवा हिन्दुस्तानी भाषा का थोड़ा-बहुत अध्ययन हो रहा था। यहाँ के प्राचीन एवं प्रसिद्ध देव-मन्दिरों के पास पहले 'गोसाईं-मठ' नामक खास प्रकार की सरायें अथवा मुसाफिरखाने बने हुए थे। उन मठों में 'द्विभाषी' नामक कर्मचारी नियुक्त होते थे, जिनका मुख्य काम उत्तर भारत से, समय-समय पर केरल आने वाले साधु-सन्तों तथा तीर्थ-यात्रियों का समुचित स्वागत-सत्कार करना था। 'द्विभाषी' अपने यहाँ आनेवाले अतिथियों को बड़े आदर-सम्मान के साथ ठहराते थे और उन्हें अपने यहाँ के प्रधान दर्शनीय स्थान आदि दिखाते थे। 'द्विभाषी' के पद पर नियुक्त होने के लिए हिन्दी या हिन्दुस्तानी का काम चलाऊ ज्ञान आवश्यक माना जाता था ; अतः उसके उम्मेदवार को, किसी न किसी प्रकार थोड़ी हिन्दी की जानकारी हासिल करनी पड़ती थी। इसके लिए वे लोग अपने सत्संग और साधु-सेवा के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले हिन्दी-ज्ञान को मलयालम लिपि में लिख लिया करते थे। उन पुस्तकों की सहायता से 'द्विभाषी' तथा उनके बन्धु-मित्र एक प्रकार की टूटी-फूटी हिन्दी सीख लेते थे। उनकी हिन्दी को पहले 'गोसाईं-भाषा' अथवा 'हिन्दुस्तानी' के नाम से लोग पुकारते थे। 'द्विभाषी' की नियुक्ति तत्कालीन राजाओं की सरकार की तरफ से होती थी; इसलिए साधारणतः राजाओं के आश्रम में रहनेवाले सेवक लोग ही ज्यादा-तर इस पद पर नियुक्त होते थे। सरकार की तरफ से उन साधु-सन्तों तथा मेहमानों को मुफ्त में बाँट देने के लिए गेहूँ, आटा, दाल, नमक, चावल, तरकारी, लकड़ी, बर्तन आदि चीजें दी जाती थीं। उनको समुचित रूप से तीर्थ-यात्रियों में बाँट देने का भार 'द्विभाषियों' का था। इस प्रकार के द्विभाषियों के वंशज कई लोग इस वक्त भी केरल के प्रसिद्ध तीर्थों के किनारे पाये जाते हैं। उनमें कुछ सज्जनों के पास 'हिन्दुस्तानी' भाषा सीखने के लिए उन दिनों मलयालम में लिखी हुई प्राचीन पुस्तकें भी मिलती हैं। उन हस्तलिखित पुस्तकों से यह प्रमाणित होता है कि केरल में बहुत प्राचीन काल से हिन्दी का अध्ययन हो रहा था। इसी प्रकार प्राचीन 'गोसाईं-मठों' के खण्डहर इस वक्त भी केरल में कहीं-कहीं नजर आते हैं ; लेकिन ऐसे 'गोसाईं-मठ' और 'द्विभाषी' ज्यादातर तिरुवितांकूर और कोचीन में ही पाये जाते हैं, क्योंकि वहाँ के राजाओं की सरकार बहुत दिनों तक कायम रही और वही द्विभाषियों की नियुक्ति भी जारी रही।

प्राचीन काल से तिरुवितांकूर राज्य के राजा लोग बड़े धर्मनिष्ठ, कला-कुशल, साहित्या-नुरागी एवं बहु-भाषा प्रेमी रहते थे ; अतः वे स्वयं अपने यहाँ आने वाले साधु-सन्तों का सत्संग

पाने के लिए बड़े उत्सुक रहा करते थे। वे अपने दरबारों में भी हिन्दी-विद्वानों तथा कवियों का विशेष रूप से स्वागत-सम्मान किया करते थे। अपने प्रयत्न में बहुत-से राजा लोगों को काफी सफलता मिली थी। उनमें एक राजा ऐसे थे, जिन्होंने केवल हिन्दी सीखी ही नहीं, बल्कि हिन्दी में अच्छी-अच्छी कविताएँ भी लिखी थीं। उनका नाम 'स्वाति नक्षत्रज राजवर्मा राजा' था। वे गर्भ-श्रीमान् और स्वाति तिरुनाल के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए थे। उनका जन्म १६ अप्रैल सन् १८१३ को हुआ था। वे संस्कृत, तमिल, हिन्दी, अंग्रेजी, मलयालम, कन्नड, तेलुगु आदि विविध भाषाएँ जानते थे। उन्होंने प्रायः उन सभी भाषाओं में अच्छे-अच्छे गीत, कीर्तन और पद भी रचे हैं। दक्षिण भारत के सुविख्यात संगीताचार्य त्यागराज के कीर्तनों और गीतों के समान महाराज 'स्वाति-तिरुनाल' की रचनाएँ भी संगीत-मर्मज्ञों के बीच में बहुत प्रसिद्ध मानी जाती हैं। 'गर्भ श्रीमान्' के हिन्दी-पद और गीत, भक्त कवि सूरदास, मीरा आदि के पदों के समान कर्ण-मधुर एवं भावपूर्ण हुए हैं।

'राजा गर्भ श्रीमान्' भी बड़े कृष्ण भक्त थे। उन्होंने हिन्दी में कुल चालीस के करीब पद और गीत रचे हैं। पहले वे गीत और पद मलयालम लिपि में ही लिखे गये थे। अभी तक नागरी अक्षरों में छपी एक पुस्तक के रूप में उनकी हिन्दी कविताएँ प्रकाशित नहीं हुई हैं। इन पंक्तियों के देखने से सन् १९३६ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में उन गीतों का एक संग्रह कवि की जीवनी के साथ प्रकाशित कराया था। उस प्रकाशन में 'गर्भ श्रीमान्' के जितने हिन्दी पद और कीर्तन तब तक उपलब्ध हुए थे, उन सब का संग्रह किया गया था।

महाराज 'गर्भ श्रीमान्' के हिन्दी पदों और कीर्तनों की भाषा में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। उनमें असीम श्रीकृष्ण भक्ति के सूक्ष्म तथा मार्मिक भावों का अभि-व्यंजन हुआ है। समुचित स्थानों पर सार्थक शब्द-रत्नों का सुन्दर चयन करके अपने पदों और गीतों की गति और योग्यता में कमनीयता और कर्ण-प्रियता पैदा करने की कला ही 'गर्भ श्रीमान्' की लेखनी की सबसे बड़ी विशेषता है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में रचे हुए उनके तमाम पदों और कीर्तनों में हम एक सच्चे भक्त के सम्पूर्ण आत्म-समर्पण और तल्लीनता की अनुभूति का अभिव्यंजन पा सकते हैं। वे एक महान् तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, विद्वान् अथवा महान् उपदेशक नहीं थे। वे मुख्यतः एक रसिक भावुक भक्त-कवि और सफल गायक मात्र थे। अपने इष्ट-देव तथा कुल-देव 'श्रीपद्मनाभ' के प्रति अपनी अपार एवं अकलंक भक्ति को अभिव्यक्त करना, उनके प्रेम में मस्त होकर अपने आपको भूल जाना, उनके प्रति होने वाली भक्ति के सामने समस्त संसार को तुच्छ मानना, 'श्री पद्मनाभ' को छोड़कर दूसरे देवों की गौणता दिखाना आदि कई बातें हम 'गर्भ श्रीमान्' की प्रत्येक कविता में पाते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम करने के लिए मद्रास में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' नामक संस्था की स्थापना करके वास्तव में एक बड़ा भारी राष्ट्रनिर्माण का कार्य पूरा किया है। अब इस बड़ी संस्था की चार प्रान्तीय शाखाएँ अथवा सभाएँ स्थापित हो चुकी हैं। इन्हीं प्रान्तीय सभाओं की तरफ से प्रत्येक प्रान्त में गत चालीस सालों से हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़ी सफलता से के साथ किया जा रहा है। सब से पहले सन् १९२२ में मद्रास की 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ने एक केरलीय हिन्दी विद्वान् श्री एम० दामोदरन

उण्णि को उत्तर भारत से बुलाकर केरल में हिन्दी-प्रचार का कार्य करने तथा उसके लिए आवश्यक संगठन आदि की व्यवस्था करने का आदेश दिया। श्रीमान् दामोदरन उण्णि, केरल के एट्टुमानूर नामक गाँव के निवासी थे। उत्तर भारत में संस्कृत भाषा का विशेष अध्ययन करने के लिए गये हुए थे। वहाँ कई सालों तक आर्यसमाजी गुरुकुलों में अध्ययन और अध्यापन का कार्य करते हुए उन्होंने संस्कृत और हिन्दी का अच्छा पाण्डित्य प्राप्त किया था ; इसलिए उन्होंने हिन्दी-प्रचार सभा का आदेश सहर्ष स्वीकार किया और केरल में आकर राष्ट्रभाषा का प्रचार करने लगे। श्री दामोदरन उण्णि ने केरल के कई प्रधान केन्द्रों में भ्रमण करके यहां लोगों को हिन्दी सीखने की जरूरत समझाई। वे स्वयं प्रत्येक केन्द्र में पाँच-छह महीनों तक रहकर वहां के उत्साही स्त्री-पुरुषों को पढ़ाने लगे। उनके हिन्दी-वर्ग के किसी होनहार विद्यार्थी को वे हिन्दी वर्ग चलाने का कार्य भी सौंप देते थे। उनकी सलाह और सहायता से प्रोत्साहित होकर कई नये हिन्दी-प्रचारक इस क्षेत्र में काम करने लगे ; इसलिए जब कभी वे अपने किसी एक केन्द्र का काम बीच में छोड़ कर अन्यत्र चले जाते थे, तब वहाँ का काम पूर्ववत् जारी रखने की जिम्मेदारी उन विद्यार्थियों पर छोड़ देने में कामयाब होते थे। उनके द्वारा संगठित हिन्दी-केन्द्रों में कभी कार्यकर्ताओं का अभाव नहीं रहा है। उनकी इस सफल नीति के कारण नये-नये हिन्दी-प्रचारक अलग-अलग केन्द्रों में जाकर स्वतन्त्र रूप से हिन्दी का प्रचार करने लगते। इस तरह श्री दामोदरन उण्णि ने अकेले ही बहुत-से हिन्दी-केन्द्रों का संगठन मात्र नहीं किया, बल्कि संचालन भी खूब किया। वे संस्कृत, हिन्दी और मलयालम के प्रकाण्ड विद्वान् थे ; अच्छे वक्ता, सफल संगठक और सरस अध्यापक थे। इसलिए, उनके व्यक्तित्व और प्रवचनों से प्रभावित होकर बहुत-से लोग हिन्दी पढ़ने और पढ़ाने में बड़ी दिलचस्पी दिखाते थे। उनकी मजेदार बातें सुनने के लिए कई प्रतिष्ठित सज्जन उनके वर्गों में शामिल हुआ करते थे। वे वास्तव में एक आदर्श हिन्दी-प्रचारक थे। केरल के हजारों आधुनिक हिन्दी-प्रचारकों में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो या तो श्री दामोदरन उण्णि के शिष्यों में से हैं अथवा उनके शिष्यों की परम्परा के विद्यार्थी हैं। इन पंक्तियों का लेखक भी उनके शिष्यों में से एक है। स्वर्गीय श्री दामोदरन उण्णिजी ही केरल के प्रथम 'हिन्दी-प्रचारक' माने जाते हैं।

सन् १९२५ से मद्रास की हिन्दी-प्रचार-सभा की तरफ से केरल में श्री दामोदरन उण्णि के अलावा श्री के० केशवन नायर, श्री के० आर० शंकरानन्द जैसे दो-चार नये हिन्दी-प्रचारक भी नियुक्त हुए। उन प्रथम प्रचारकों के अथक परिश्रम से केरल के कतिपय केन्द्रों में संगठित रूप से हिन्दी-प्रचार का काम बढ़ने लगा। कितने ही नये हिन्दी-वर्गों का संगठन हुआ। हिन्दी-प्रचार सभा की परीक्षाओं के लिए नये-नये केन्द्र खोले गये। जगह-जगह हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता और महत्त्व को समझाने के लिए प्रचारक-सम्मेलन होने लगे। केरल के उत्साही युवकों को हिन्दी-प्रचार-सभा की तरफ से संचालित प्रचारक विद्यालयों में शामिल होकर पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति देकर बुलाया गया। उन विद्यालयों में बीसों युवक पढ़ने के लिए गये और अपनी शिक्षा पूरी करके वापस आने पर केरल के किसी न किसी केन्द्र में हिन्दी-प्रचार का कार्य करने में लीन हो गये। इस प्रकार ज्यों-ज्यों केरल के हिन्दी केन्द्रों की संख्या बढ़ने लगी, त्यों-त्यों नये-नये उत्साही एवं निःस्वार्थ हिन्दी-प्रचारक भी इस महान् आन्दोलन में स्वेच्छा से भाग लेने लगे।

सन् १९२२ से सन् १९३२ तक केरल में हिन्दी-प्रचार का जो कार्य हुआ, उसका पूरा उत्तरदायित्व सीध 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' का ही रहा था। इस बीच, सन् १९२८

में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के प्रचार-मन्त्री के पद पर कोचिन निवासी डब्ल्यू० पी० इग्नेशियस की नियुक्ति हुई। उन्होंने केरल के हिन्दी-प्रचार कार्य को पूर्वाधिक संगठित एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करने में सफलता पायी। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १९२८ में कोचिन राज्य की विधान सभा में हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसका आशय यह था कि कोचिन रियासत के तमाम हाईस्कूलों में अनिवार्य रूप से राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ाई जाय। उन्हीं दिनों में कोचिन के महाराज के परिवार के स्त्री-पुरुष भी हिन्दी पढ़ने लगे थे। अतः महाराजा ने भी उपयुक्त प्रस्ताव का विरोध नहीं किया। उस समय के शिक्षा-निर्देशक (डी० पी० आय०), श्री सी० मत्ताई ने उस प्रस्ताव से प्रेरित होकर कोचिन राज्य के कुछ प्रमुख हाई स्कूलों में ऐच्छिक रूप से हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था की। उन स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने के लिए आवश्यक अध्यापकों को सभा ने ही प्रदान किया था, जिनमें सभा के सवैतनिक एवं सहायक प्रचारक श्री प० के० केशवन नायर, श्री पी० के० नारायण नायर, श्री के० आर० शंकरानन्द, श्री के० केशवन नायर, श्री के० वी० नायर, श्री जी० नीलकण्ठन नायर, श्री कृष्णदेव, श्री० एम० नारायण मेनन, श्री राघवन इलयिटम, श्री के० माधव कैमल, के० जी० पणिक्कर आदि पुराने हिन्दी सेवी महाशय भी शामिल थे। इस तरह दक्षिण भारत में सबसे पहले हाई स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था करने का श्रेय कोचिन के महाराजा की ही सरकार को प्राप्त हुआ।

धीरे-धीरे केरल में हिन्दी का प्रचार पूर्वाधिक बढ़ने लगा, तो सन् १९३२ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने, यहाँ का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए अपनी एक प्रादेशिक शाखा एरणाकुलम् शहर में स्थापित की। उस शाखा के मन्त्री के पद पर श्री ए० चन्द्राहासन नियुक्त हुए। उनके नेतृत्व में हिन्दी-प्रचार में बड़ी प्रगति होने लगी। थोड़े ही दिनों में बाद तिरुवितांकूर रियासत में हिन्दी-प्रचार कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए सभा की एक नवीन शाखा तिरुवनन्तपुरम शहर में भी खोलनी पड़ी। उस शाखा के मन्त्री पण्डित देवदूत विद्यार्थी बनाये गये थे। एरणाकुलम् में स्थापित शाखा की देख-रेख में कोचिन राज्य और मलबार के हिन्दी प्रचार कार्य सम्पन्न होने लगे और तिरुवितांकूर रियासत मात्र का काम तिरुवनन्तपुरम की शाखा की तरफ से संचालित एवं संगठित होने लगा। इन दोनों नवीन शाखाओं के निरन्तर प्रयत्न के कारण केरल के कोने-कोने में नये-नये हिन्दी-केन्द्रों का संगठन बहुत शीघ्र हो गया। हिन्दी-प्रचारकों और हिन्दी-वर्गों की संख्या भी बेहद बढ़ गयी। विभिन्न परीक्षाओं में हजारों की तादाद में परीक्षार्थी शामिल होने लगे। सभा के इने-गिने सवैतनिक प्रचारकों के अलावा कई उत्साही स्वतन्त्र प्रचारक भी निःस्वार्थ भाव से हिन्दी-प्रचार का कार्य करने में तन-मन-से लग गये। इस प्रकार सन् १९३२ से १९३६ तक केरल के हिन्दी-प्रचार कार्य में जो प्रशंसनीय प्रगति हुई, उसका पूरा श्रेय सभा की इन दोनों शाखाओं को दिया जा सकता है।

सन् १९३६ के बाद दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के आदेशानुसार उसी के तत्त्वावधान में आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक की प्रान्तीय भाषाओं के आधार पर उन चारों, भाषावार प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का काम स्वतन्त्र रूप से चलाने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से अलग-अलग चार प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभाएँ स्थापित हो गईं। उनमें केरल की प्रान्तीय सभा का संविधान सन् १९३६ के जुलाई मास में सभा के सदस्यों का जो विराट् सम्मेलन एरणाकुलम् में बुलाया गया था, उसमें सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। उसी सम्मेलन में सभा के तत्कालीन पदाधिकारियों

का चुनाव भी किया गया। कोचिन राज्य के अवकाश प्राप्त शिक्षा-निर्देशक स्वर्गीय श्री सी० मत्ताई ही सर्वसम्मति से सभा के प्रथम अध्यक्ष चुने गये। देश के कुछ प्रमुख नेताओं की एक कार्यकारिणी समिति भी उसी दिन बनायी गयी। दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा ने अपने सुयोग्य एवं महान् कार्यकर्ता पण्डित देवदूत विद्यार्थी को केरल की नवीन प्रान्तीय सभा के मन्त्री के पद पर नियुक्त किया। इस तरह सन् १९३६ में जिस प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा का जन्म केरल में हुआ था, वही अब तक वहाँ का हिन्दी-प्रचार-कार्य बड़ी दक्षता और सफलता के साथ करती आ रही है।

मद्रास की 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के मार्गदर्शन के अनुसार उपर्युक्त प्रान्तीय सभा अपने प्रजातन्त्रात्मक संविधान के आधार पर हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी बहुमुखी कार्य-कलाप करती है। हिन्दी-प्रचार के महान् कार्य में सहयोग और सहायता देने की इच्छा रखने वाले सभी बालक, स्त्री-पुरुष नियत चन्दा देकर इस संस्था के सदस्य बन सकते हैं। सदस्यों के विराट् सम्मेलन में सभा की व्यवस्थापिका समिति के सदस्य चुने जाते हैं। उसके बाद व्यवस्थापिका समिति अपनी एक कार्यकारिणी समिति का चुनाव करती है। सभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, कार्यकारिणी समिति के सदस्य आदि पदाधिकारी भी नियमानुसार चुने अथवा मनोनीत हो जाते हैं; लेकिन प्रान्तीय सभा के मन्त्री की नियुक्ति दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा स्वयं करती है। इस प्रकार इस प्रान्तीय सभा की जो कार्यकारिणी समिति बनती है, वही व्यवस्थापिका समिति के निदेशानुसार इस संस्था को सुचारु रूप से चलाने का काम सम्हालती है। यद्यपि प्रत्येक प्रान्तीय सभा अपने बहुमुखी कार्यों के लिए अपने प्रान्त के लोगों से समय-समय पर चन्दा, दान आदि वसूल करती है, तो भी इनकी मातृसंस्था दक्षिण भारत की हिन्दी प्रचार सभा ही आवश्यकतानुसार अनुदान आदि देकर उसको अपना आर्थिक उत्तरदायित्व पूरा करने का मौका देती है; इसलिए प्रत्येक प्रान्तीय सभा का अभेद सम्बन्ध 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' से अवश्य बना रहता है।

'केरल प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा' अपने प्रान्त के हिन्दी प्रचार कार्य को बढ़ाने के लिए बीसों सवैतनिक एवं सैकड़ों सहायक हिन्दी-प्रचारकों को नियुक्ति करती है। अपने सुयोग्य एवं अनुभवी संगठकों के द्वारा नये-नये हिन्दी-केन्द्रों का संगठन करके, हिन्दी-प्रचार-मण्डल और शाखा समितियाँ कायम करना भी सभा के कार्यक्रम में प्रधान माना जाता है। हिन्दी की प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए विभिन्न केन्द्रों में प्रारम्भिक हिन्दी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों का संचालन भी सभा करती है। प्रमुख केन्द्रों में हिन्दी-पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना करके हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की जानकारी बढ़ाने की व्यवस्था भी यही संस्था करती है। इसी प्रकार समय-समय पर हिन्दी सप्ताह, हिन्दी मेला, हिन्दी शिविर, हिन्दी स्पर्धाएँ, हिन्दी प्रचारक सम्मेलन, सार्वजनिक हिन्दी-प्रचार सम्मेलन, हिन्दी नाटक-प्रदर्शन, हिन्दी-पत्रिका प्रकाशन आदि विविध कार्य-कलापों के जरिए, केरल की जनता में हिन्दी सीखने की अभिरुचि बढ़ाने में यह प्रान्तीय सभा काफी सफल हो रही है। विविध हिन्दी-परीक्षाओं के द्वारा केरल के लोगों में हिन्दी की जानकारी को सुदृढ़ एवं विकासोन्मुख बनाये रखने का प्रयत्न करना सभा का सब से प्रधान कार्य माना जाता है। केरल के स्कूलों और कालेजों में हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध करने में भी प्रान्तीय सभा को बड़ी सफलता प्राप्त हो गई है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आज दक्षिण भारत में केरल ही एक ऐसा अहिन्दी प्रदेश है, जहाँ के सभी स्कूलों और कालेजों में हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है।

केरल में सभा की 'प्राथमिक' से लेकर 'प्रवीण' तक की तमाम हिन्दी-परीक्षाएँ इतनी लोक-प्रिय बन चुकी हैं कि प्रत्येक बार इन परीक्षाओं में हजारों की तादाद में परीक्षार्थी बैठते हैं और उत्तीर्ण होने पर अपनी हिन्दी पढ़ाई जारी रखने का प्रयत्न बराबर करते रहते हैं। हिन्दी अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए सभा जो 'प्रचारक' परीक्षा चलाती है, उसमें भी कई लोग हर बार बैठते हैं और उत्तीर्ण होने के बाद स्वयं हिन्दी पढ़ाने के कार्य में ही लग जाते हैं। ऐसे हिन्दी प्रचारकों और हिन्दी-सेवकों की संख्या केरल में प्रतिवर्ष बढ़ती ही रहती है। आज केरल का कोई गाँव या कस्बा ऐसा नहीं होगा, जहाँ पर कोई न कोई हिन्दी-प्रचारक अपना हिन्दी-विद्यालय अथवा हिन्दी-वर्ग नहीं चलाता हो।

यद्यपि केरल की प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा का पुराना नाम 'केरल हिन्दी प्रचार सभा' था, तो भी आज उसको दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (केरल) का नया नाम दिया गया है। इस संस्था का सदर मुकाम एरणाकुलम् में है। इसमें अपना निजी मकान, व्याख्यान भवन, पुस्तक बिक्री विभाग, महाविद्यालय आदि भी है। इस संस्था के तीन जिला-कार्यालय, बीसों शाखा-कार्यालय पचासों हिन्दी-प्रचार मण्डल, सैकड़ों विद्यालय तथा अनेक हिन्दी-पुस्तकालय इस समय केरल में स्थापित हो चुके हैं। सन् १९४५ में इस संस्था के सर्वप्रथम मन्त्री पण्डित देवदूत विद्यार्थी के उत्तर भारत चले जाने के बाद समय-समय पर सर्वश्री ए० चन्द्रहासन, पी० के० नारायण नायर, एन० सुन्दर अय्यर, पी० के० केशवन नायर, एस० महालिंगम्, के० आर० विश्वनाथन्, जी० सुब्रह्मण्यम्, नारायण देव तथा इन पंक्तियों के लेखक ने इसके मन्त्री के पद पर काम किया है। सन् १९४७ से लेकर सन् १९५९ तक बारह साल इन पंक्तियों के लेखक को अपने केरल की इस प्रियतम हिन्दी संस्था के मन्त्री के पद पर जो सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उससे वह अपने को अवश्य अत्यन्त धन्य मानता है, और उन दिनों की कठोर एवं मधुर स्मृतियाँ वह अपने जीवन में कदापि नहीं भूल सकता। समय-समय पर केरल की सभा के अध्यक्ष चुने जाने का सौभाग्य जिनको प्राप्त हुआ, उनमें सर्वश्री स्वर्गीय सी० मत्ताई, स्वर्गीय डा० ए० आर० मेनन, एम० अच्युतन् वैद्यर, एन० सुन्दर अय्यर, आर० कृष्ण अय्यर, के० पी० माधवन् नायर, पी० के० केशवन् नायर आदि महाशयों के नाम अवश्य स्मरणीय है। सभा के संगठकों के पद पर समय-समय पर नियुक्त हुए सर्वश्री ए० वेदायुधम, कृष्ण पिल्लै, परमेश्वर पणिक्कर, सी० जी० गोपालकृष्णन्, श्री आर० नाणप्पा, ए० वासु मेनन, एन० सदाशिवन, एम० पी० माधव कुरुप, नारायण दत्त, नारायण देव आदि सफल कार्यकर्ताओं ने जो प्रशंसनीय सेवा की है, उसका संक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ पर सम्भव नहीं है। केरल के प्रशिक्षण विद्यालय में प्रधान अध्यापक तथा प्राध्यापक के पद पर काम करके अच्छे सुयोग्य प्रचारकों को तैयार करके प्रदान करने की सराहनीय सेवा जिन महाशयों ने की है, उनमें सर्वश्री का० म० शिवराम शर्मा, सोमनाथ, पी० नारायण, पन्नालाल त्रिपाठी, टी० पी० वीरराघवन्, सुमतीन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आखिर इस वक्त कुछ खास परिस्थितियों के कारण मद्रास की मातृसंस्था दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा की तरफ से केरल के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त हुए हैं; अतः कुछ दिनों से श्री आंजनेय शर्माजी विशेष अधिकारी की हैसियत से इस संस्था का कार्य भार सम्हाल रहे हैं। इस समय संस्था की देख-रेख में हिन्दी-प्रचार के महान् कार्य में लगे हुए तीन हजार से अधिक हिन्दी-प्रचारक हैं, जिनमें ज्यादा लोग यद्यपि सरकारी तथा गैर सरकारी स्कूलों और कालेजों में काम कर रहे हैं, तो भी वे सब के सब सभा की सेवा भी यथावकाश भरसक

अवश्य करते ही रहते हैं और अपने को सभा के प्रचारक घोषित करने में बड़े गौरव और आनन्द का अनुभव भी करते हैं। इनके अलावा सभा के कुछ सवैतनिक एवं सहायक प्रचारक अपना पूरा समय सभा के कार्यों में ही लगाते हैं। ऐसे प्रचारकों की अपेक्षा उपर्युक्त स्वतन्त्र प्रचारकों की संख्या ही वास्तव में ज्यादा है और उनकी निःस्वार्थ सेवाओं के कारण ही सभा की प्रतिष्ठा प्रतिदिन बढ़ती रहती है।

हिन्दी-प्रचार-सभा के अलावा केरल की सरकार और केरल के विश्वविद्यालय की तरफ से भी हिन्दी-प्रचार का कार्य जोरों से चल रहा है। विश्वविद्यालय की तरफ से 'हिन्दी विद्वान्' नामक एक उच्च परीक्षा चलाई जाती है। विश्वविद्यालय की प्रेरणा से केरल के प्रायः सभी कालेजों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था हो चुकी है ; अतः कालेजों में हिन्दी पढ़नेवालों और पढ़ाने वालों की संख्या बहुत बढ़ रही है। विश्वविद्यालय ने अपने कुछ प्रमुख कालेजों में हिन्दी में एम० ए० तक की पढ़ाई का समुचित प्रबन्ध भी किया है ; अतः केरल के कई पुराने हिन्दी-प्रचारक और वर्तमान हिन्दी अध्यापक इस समय 'एम० ए०' बनने की कोशिश में लगे हुए हैं। उनमें सैकड़ों अध्यापक उत्तर भारतीय विश्वविद्यालयों में जाकर स्वयं अध्ययन करके 'एम० ए०' की डिग्री पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। यहाँ के कालेजों में काम करने वाले चार-पांच प्राध्यापक उत्तर भारतीय विश्वविद्यालयों से पी० एच० डी० की पदवी हासिल करने में भी कामयाब हुए हैं।

इस समय केरल की सरकार की तरफ से, राज्य के हिन्दी-प्रचार-कार्य में यथाशीघ्र प्रगति लाने के लिए एक 'विशेष अधिकारी' भी नियुक्त हुए हैं। हिन्दी अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण शिविर, ट्रेनिंग विद्यालय आदि भी केरल सरकार चलाती है। अपनी सेवा में रहने वाले योग्य हिन्दी अध्यापकों को समय-समय पर छात्रवृत्ति और मार्ग व्यय देकर हिन्दी की उच्च शिक्षा पाने के लिए उत्तर भारत भेजने का कार्य भी सरकार करती है। हिन्दी-प्रचारक के लिए एक प्रदर्शनी-वैन (गाड़ी) भी सरकार ने खरीदी है। केरल की प्रमुख हिन्दी-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर यथासम्भव प्रोत्साहित करने की नीति का पालन भी सरकार करती है। इसके अलावा अपनी विविध योजनाओं के द्वारा केन्द्र सरकार से यथा समय हिन्दी-प्रचार के लिए भरसक अनुदान पाने का प्रयत्न भी अवश्य करती है।

केरल में जो साम्यवादी सरकार श्री ई० एम० एस० नम्पूतिरिपाट के मुख्य मन्त्रित्व में पिछली बार करीब तीन साल तक शासन कर रही थी, उसने भी यहाँ के हिन्दी-प्रचारकों को पूर्ण रूप से प्रोत्साहित करने में काम बात उठा नहीं रखी थी। श्री नम्पूतिरिपाट की साम्यवादी सरकार ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (केरल) को भवन निर्माण के लिए दस हजार रुपये विशेष अनुदान के रूप में दिये और पहले प्रान्तीय पुरानी काँग्रेस सरकार की तरफ से सिर्फ एक सौ रुपये मात्र का जो मासिक अनुदान दिया जाता था, उसको बढ़ा कर दो सौ पचास किया गया। इस प्रकार के कई कारणों से हमको यह बात सहर्ष स्वीकार करनी पड़ती है, कि केरल राज्य की विविध सरकारें हमेशा हिन्दी-प्रचार के कार्य में अवश्य सहयोग और सहायता प्रदान करती ही रहती हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा (केरल), केरल सरकार और विश्वविद्यालय, इन तीनों के अलावा तिरुवनन्तपुरम शहर में एक स्वतन्त्र हिन्दी प्रचार सभा भी कई वर्षों से हिन्दी-प्रचार कर रही है। उस सभा के मन्त्री केरल के एक पुराने प्रचारक श्री के० वासुदेवन् पिल्लै हैं। वह संस्था अपनी अलग हिन्दी-परीक्षा को चलाती है। और उनमें उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पुरस्कार,

प्रमाणपत्र आदि बाँट देती है। हाल ही में उस संस्था की कुछ परीक्षाओं को केरल सरकार ने मान्यता प्रदान की है; अतः उनमें उत्तीर्ण लोग भी आज कल केरल के कुछ स्कूलों में हिन्दी अध्यापक के पद पर नियुक्त होते हैं।

केरल के हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन में शुरू से पुरुषों के बराबर महिलाएँ भी बड़ी दिलचस्पी दिखाती आ रही हैं। प्रायः यहाँ के परीक्षार्थियों में ज्यादा महिलाएँ शामिल होती हैं। हिन्दी-वर्गों में भी अक्सर स्त्रियों की संख्या ज्यादा पायी जाती है। हिन्दी-प्रचार करने वाले प्रचारकों में भी महिलाओं की संख्या पुरुषों से कम नहीं है। इस समय केरल के बाहर अन्य प्रान्तों तथा राज्यों में जाकर यहाँ की कई सुशिक्षित महिलाएँ हिन्दी-प्रचार-कार्य करती हैं ; अतः केरल में इस महत्त्व-पूर्ण राष्ट्र-निर्माणात्मक भाषा-प्रचार के कार्य की इतनी उन्नति, सफलता और प्रगति यहाँ की महिलाओं के अथक परिश्रम और अनुकरणीय प्रेरणा के कारण ही हो रही है, ऐसा कहना बिलकुल अनुचित नहीं होगा।

केरल के प्रायः सभी हिन्दी-केन्द्रों में हस्तलिखित हिन्दी-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने का कार्यक्रम बराबर चलता रहता है। ऐसी अनेकों पत्रिकाएँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनमें उच्च कोटि के हिन्दी लेख, कहानियाँ और कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं। लेकिन, इसमें उन सबका परिचय देना कठिन है। केरल से छप कर प्रकाशित होने वाली हिन्दी-पत्रिकाओं में 'युग प्रभात' एक पाक्षिक पत्रिका है, जो मातृभूमि, नामक मलयालम के प्रसिद्ध दैनिक और साप्ताहिक पत्रों के प्रकाशकों की तरफ से प्रकाशित हो रही है। उसके सम्पादक मलयालम के एक प्रसिद्ध कवि, समालोचक और पत्रकार श्री एन० वी० कृष्ण वारियर हैं और सह सम्पादक हैं श्री रविवर्मा। 'युग प्रभात' उच्च कोटि की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सचित्र पत्रिका है। वर्तमान हिन्दी-संसार ने कई बार इस पत्रिका की बड़ी प्रशंसा की है। 'केरल भारती' प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार-सभा की मुख-पत्रिका है। अन्य पत्रिकाओं में 'हिन्दी मित्र', 'विश्वभारती', 'राष्ट्रवाणी', 'प्रताप', 'ललकार' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें कुछ पत्रिकाओं का प्रकाशन इस समय बन्द हो गया है, तो भी उनमें प्रकाशित पाठ्य सामग्री अवश्य संचय कर रखने योग्य है।

हिन्दी-प्रचार आन्दोलन के फलस्वरूप केरल में कई सुयोग्य हिन्दी कवि, लेखक, लेखिकाएँ, समालोचक, विद्वान् आदि तैयार हो चुके हैं और हो रहे हैं। उन सबके नाम की लम्बी सूची यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार हिन्दी से मलयालम में और मलयालम से हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं का सुन्दर अनुवाद करने वाले अच्छे-अच्छे अनुवादक भी केरल में कम नहीं हैं।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि केरल में हिन्दी-प्रचार का राष्ट्र-निर्माणात्मक कार्य बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहा है। हिन्दी-परीक्षार्थियों की संख्या, हिन्दी-प्रचारकों तथा अध्यापकों की संख्या, हिन्दी-केन्द्रों की संख्या, हिन्दी-लेखक व लेखिकाओं की संख्या, हिन्दी-पत्रिकाओं की संख्या आदि सब बातों में यहाँ दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती रहती है। केरल के लोगों ने कभी कहीं हिन्दी का विरोध नहीं किया है। उन्होंने हमेशा हिन्दी-आन्दोलन को पूर्ण रूप से अपनाया है, और हिन्दी भाषा का अध्ययन और प्रचार करना अपना एक परम श्रेष्ठ 'राष्ट्र धर्म' माना है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केरल में हिन्दी का भविष्य अवश्य उज्ज्वल होगा।

●

प्रो० ना० नागप्पा

कर्नाटक की हिन्दी को देन

कर्नाटक की प्राचीनता

"कन्नड" (कर+नाड<कार नाडु=काली मिट्टी-प्रधान भूमि) शब्द काफी प्राचीन है। वैसे ही कन्नड़ देश या कर्नाटक या कर्णाटक देश का प्रयोग भी काफी प्राचीन है। कर्णाटक शब्द महाभारत में प्राप्त होता है। प्राचीन काल में संस्कृत-काव्यों के पाठन की शैलियों का वर्णन करते हुए किसी प्राचीन संस्कृत कवि ने कहा है कि कर्णाटकी लोग टंकार के साथ संस्कृत-श्लोकों का उच्चारण करते हैं। इन दिनों भी संस्कृत-पण्डित कर्नाटक में संस्कृत श्लोक टंकार के साथ ही पढ़ते हैं। उडुपिसे लगे हुए माल्पे बन्दरगाह में परशुराम द्वारा स्थापित एक ईश्वर मन्दिर है। इसके बारे में कहा जाता है कि सारी पृथ्वी कश्यप ऋषि को दान में दे डालने के बाद परशुराम ने समुद्र को सुखा कर अपने लिए थोड़ी-सी जगह बना ली थी, जहाँ वे तपस्या करते रहे। रामायण में वर्णित किष्किन्धा हम्पै के पास कर्नाटक में ही है। ऋष्यमूक पर्वत भी यहीं है। कहते हैं कि कावेरी (मैसूर नगर से उत्तर की ओर ३७ मील की दूरी पर चुंचनकट्टे) में सीता ने स्नान किया था, बीजापुर जिले में स्थित महाकूट में अगस्त्य ने तपस्या की थी। और इधर ऐतिहासिक काल तक पहुँचते-पहुँचते हम यह पाते हैं कि चन्द्रगुप्त (ई० पू० २९७) मौर्य श्रवण बेलगोल के पहाड़ पर अपने धर्म गुरु से जैन धर्म ग्रहण कर के भद्रबाहु की गुफा में तपस्या करते रहे और वहीं उनका देहावसान भी हुआ था। अशोक के (ई० पू० २८२-२७७) तीन शिला-लेख चित्र दुर्ग जिले में विद्यमान हैं। कहते हैं कि जैन और बौद्ध धर्मों का कर्नाटक देश में प्रचार था।

कन्नड़ भाषा का इतिहास

भारत की वर्तमान भाषाएँ मुख्यतः भारतीय आर्य भाषा परिवार, आस्ट्रिक परिवार (या मुंडा परिवार), द्राविड़ी परिवार तथा तिब्बती-बर्मी परिवार के अन्तर्गत आ जाती है। द्राविड़ भाषाएँ न केवल दक्षिण भारत में ही (आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, मैसूर तथा केरल राज्यों में) बोली जाती हैं, बल्कि उत्तर भारत में भी गोंडावन के प्रदेश में कहीं-कहीं और बलूचिस्तान में ब्रहुई नामक बोली के रूप में प्रचलित हैं। गोंडावन के आस-पास गोंडी, बंगाल के पश्चिम भाग में कुरुख, सन्थाल परगना जिले में माल्तो (राजमहल की पहाड़ियों पर बोली जाने वाली राजमहली) उड़ीसा की पहाड़ियों पर खोण्ड (या कूई) पूर्व बरार में कोलामी, पुसद तालुका में चलने वाली भीली और चाँदा के आस-पास रहने वाले गोंडों की बोली नायकी, प्रधानतया उत्तर भारत की द्राविड़ भाषाओं के अन्तर्गत मानी जाती है। वे बोलियाँ आस-पास की आर्य भाषाओं से इतनी प्रभावित हैं कि इन्हें पहचानना भी भाषा-विज्ञानियों के अध्ययन का फल है। इधर डा० सिद्धेश्वर

वर्मा का निष्कर्ष है कि कश्मीर में कुछ व्यापारी लोग वाणिज्य-जगत् में परस्पर एक द्राविड़ बोली काम में लाते हैं। यह कुछ इसी प्रकार होगा जैसा कि पुणे के आस-पास के महाराष्ट्र के बच्चे गुल्ली-डण्डा, या गोली खेलते समय कन्नड़ के आँकड़ों का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि द्राविड़ भाषाएँ दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं हैं। भारत--भारत के बाहर भी--अन्यत्र भी यत्र-तत्र प्रचलित है। देश के अन्य सब प्रदेशों में आर्य भाषाएँ चलती हैं। केवल मुंडा के रूप में आस्ट्रिक भाषा का चिह्न देश में शेष रह गया है। असम एवं बर्मा की सरहद पर तिब्बती बर्मी भाषाएँ बोली जाती हैं।

क्षेत्रफल और बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से द्राविड़ भाषाओं का काफी महत्त्व है। नीचे दी गई तालिका से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है--

राज्य	क्षेत्रफल (वर्गमील)	प्रचलित भाषा का नाम	जनसंख्या
आन्ध्र प्रदेश	१,०५,९६२	तेलुगु	३,५९,७७,९९९
मद्रास (तमिलनाड)	५०,११०	तमिल	३,३६,५०,९१७
मैसूर (कर्नाटक)	७४,३४७	कन्नड़	२,३५,४७,०८१
केरल	१५,०३५	मलयालम्	१,६८,७५,१९९
			....
			योग--११,००,५१,१९६

भारत की आबादी की करीब एक चतुर्थांश जनता द्राविड़ भाषा-भाषी है।

भारतीय आर्य भाषाएँ सदियों से द्राविड़ भाषाओं के द्वारा प्रभावित हैं। आज भी ईरानी भाषा में वर्त्स्य ध्वनियों का नितान्त अभाव है; किन्तु भारतीय आर्य भाषाओं में (जो इन्डो ईरानी कुल से सम्बद्ध हैं।) अत्यन्त प्राचीन काल से ही--यहाँ तक कि ऋग्वेद की भाषा में भी--वर्त्स्य ध्वनियों का प्रयोग मिलता है। सिन्ध के आस-पास ब्रहुई भाषा (द्राविड़ी) का बोला जाना इस बात की तरफ संकेत करता है कि वह भाषा मोहनजोदड़ो के आस-पास की किसी जमाने में प्रचलित द्राविड़ भाषाओं का अवशेष है। मोहनजोदड़ो की सभ्यता आर्य-सभ्यता से कहीं प्राचीन है, यह बात निर्विवाद है। फलतः निष्कर्ष यह निकलता है कि द्राविड़ लोग यहाँ आर्यों के भारत में बाहर से आने के पहले (यदि आर्य बाहर से आए हों तो) या यहाँ व्यापक प्रदेश में बस जाने के पहले से रहे और उनकी अपनी सभ्यता थी। तात्पर्य यह है कि एकदम प्रारम्भिक काल से ही वर्त्स्य-ध्वनि-बहुला द्राविड़ भाषाओं का आर्य भाषाओं पर प्रभाव पड़े बिना देश में न रहा। केवल भाषा की ही बात नहीं है। शिव, पशुपति या रुद्र की कल्पना भी द्राविड़ी मानी जाती है। यह सारा प्रभाव ग्रहण सदियों में जा कर कुछ इस प्रकार से हुआ कि जनता को पता ही न चला कि ये परिवर्तन हो रहे हैं।

कन्नड़-साहित्य का इतिहास

९ वीं सदी के 'नृपतुंग' कन्नड़ भाषा के प्रथम कवि माने जाते हैं। उनका काव्य 'कवि राजमार्ग' पुरानी कन्नड़ का एक लक्षण-ग्रन्थ है। उनके बाद कई जैन कवि हुए, जिनमें पंप, पोन्न, रन्न प्रसिद्ध हैं। यह कन्नड़-साहित्य के इतिहास का प्रथम चरण या जैन-काल माना जाता है।

प्रसिद्ध पोन्न कवि (९४५-९५०) राष्ट्रकूट-सम्राट् कृष्ण (९३९-९६८) का 'आस्थान कवि' था। उसका "शान्ति पुराण" अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य है। इसमें १२ आश्वास हैं। शान्तिनाथ के बारहों जन्मों की कथा इसमें वर्णित है।

तीसरा प्रसिद्ध कवि रत्न है। उनका 'गदायुद्ध-काव्य' प्रसिद्ध है।

कलचुरी और होसल राजाओं ने (११००-१३५०) कितने ही कवियों को आश्रय दिया था। पम्पा-सरोवर के किनारे हम्पे नामक स्थान में स्थित विजयनगर के भग्नावशेष पुकार-पुकार कर कहते हैं कि बहमनी राज्यों के सुलतानों के विरुद्ध हक्क-बुक्क नाम के दो वीरों की सहायता से किस तरह विद्यारण्य स्वामी ने विजयनगर-साम्राज्य (हिन्दू राज्य) की स्थापना की थी। यह साम्राज्य राजा कृष्णदेवराय के जमाने में अपनी कीर्ति की चोटी को पहुँचा हुआ था। १५२६ के तलिकोटे युद्ध तक इस महान् साम्राज्य की श्रीवृद्धि होती रही। आपसी फूट और पीछे के राजाओं की अदूरदर्शिता के कारण यह राज्य मुसलमानों के द्वारा विजित हो गया, अन्यथा इस साम्राज्य के सामने सारे दक्षिण भारत में उस समय खड़ा होने वाला कोई सम्राट् या बादशाह न था।

विजयनगर के राजा कन्नड़, आन्ध्र और संस्कृत के कवियों को बराबर आश्रय देते रहे। उनके जमाने में राजा लोग कवियों का उत्सव कराते, उनका यश-गान कराते और खास विद्वत्सभा या दरबार में उनका सम्मान करते थे। 'सनत्कुमार' चरित्र-लेखक बांम्मरस कवि (१४८५ ई०) 'षट्पदि-भारत' के रचयिता साल्व (१९५० ई०) भरतेशवैभव के रत्नाकर (१९५७ ई०) कवि विजयनगर-साम्राज्य में पनपे थे।

मैसूर के यादव राजवंश (१५६५-१९४७ ई०) ने जितना प्रजा-हितैषी कार्य किया, उतना कर्नाटक में किसी भी राजवंश ने नहीं किया। मुसलमानों के समय में बीच में हैदरअली और टीपू के चंगुल में फँस कर मुक्त होने की कोशिश करते हुए भी इन हिन्दू राजाओं ने अपने आश्रित लोगों के हितों का बराबर ख्याल रखा। इनमें से कुछ राजा स्वयं प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। चिक्कदेवराज ओड़ेयर 'कृष्ण-काव्य' के प्रसिद्ध लेखक हैं। पद्मरस कवि (१९९९ ई०) 'भुजबलि चरित' के रचयिता पंचबाण (१६१४ ई०) बिज्जलराय-चरित के कर्त्ता कवि धरणि पंडित (१६५० ई०) मैसूर के हिन्दू राजाओं के आश्रय में पले थे।

भक्ति का प्रादुर्भाव और उसका साहित्य पर प्रभाव

बारहवीं सदी में शैव भक्ति और वैष्णव भक्ति की ऐसी धारा कर्नाटक में बही कि जनता उससे अछूती न रही। इससे चार सौ वर्ष पहले ही आठवीं सदी में श्री आदि शंकराचार्य (७८८ ई० जन्मकाल) ने शिवमोग्गा जिले में तुंगा नदी के किनारे शृंगेरी नामक स्थान में शंकर मठ की स्थापना की थी। आप अद्वैतमत प्रतिष्ठापनाचार्य हुए। नागार्जुन इनके पहले हुए थे। वे शून्यवादी थे। इन्होंने माना था कि जगत सत्य नहीं है। वसुबन्धु (शंकराचार्यजी के गुरु) ने भी यही माना था। इसी तत्त्व को शंकर ने पल्लवित किया और उपनिषदों की नई व्याख्या की। वास्तव में शंकराचार्यजी के द्वारा (जिनका जन्म केरल में हुआ था) भारत में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ।

१२ वीं सदी में शंकर के शुष्क ज्ञानवाद के प्रत्यावर्त्तन के रूप में रामानुजाचार्य का भक्ति-

मार्ग निकला। आपने 'प्रपत्ति' मार्ग चला कर शूद्रों को (यहाँ तक कि 'अस्पृश्य' कहलाने वालों को) भी प्रपत्ति-मार्ग में दीक्षित कर दिया। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आल्वार लोगों के भक्ति-पथ को आगे बढ़ाया और जनता में चलाया। श्री रामानुजाचार्यजी मैसूर राज्य के मेलकोटे नामक स्थान में रहकर उपदेश दिए। प्रसिद्ध बेलूर-मन्दिर का निर्माता विष्णुवर्द्धन वैष्णव (रामानुजीय) था।

वीरशैव-साहित्य

शैवों की विचार-धारा से भी कर्नाटक अछूता न रहा। यों तो हरिहर का हरिहरेश्वर-मन्दिर, पम्पा-क्षेत्र का पम्पापति-मन्दिर और कूड़लिका संगमेश्वर-मन्दिर, हलेबीड़ का ईश्वरालय इस बात के प्रतीक हैं कि कर्नाटक में शैव लोग भी काफी संख्या में थे। १२ वीं सदी में श्री बसवेश्वर (कलिचुरी-वंश के बिज्जल राजा के मन्त्री) ने वीरशैव मत का प्रवर्त्तन किया। अल्लम प्रभु ईश्वर या पर-शिव का अवतार (अनुभवी) माना जाता है। यह भी बसवेश्वर का सम-सामयिक था। अल्लम प्रभु की 'प्रभुलिंग लीला' में इस बात का उल्लेख है कि वह गोरखनाथ से मिला था। इसमें तथ्य कितना है, वह अनुसन्धान-योग्य है। अल्लम प्रभु के अलावा सर्वज्ञ, षडक्षरि-जैसे कितने ही वीरशैव कवि हुए हैं। इनके 'वचन' कबीर-जैसे निर्गुणी सन्तों की बानी जैसे ही हैं।

कर्नाटक के वीरशैव सन्त या शरण और हिन्दी के निर्गुणी सन्त दोनों एक ईश्वर को मानने वाले हैं। वे रहस्यवादी साधक और 'ज्ञान' पर जोर देने वाले और परमात्मा के प्रति माधुर्य्य-प्रेम को लेकर चलने वाले सन्त कवि हुए हैं। दोनों में 'शून्य' पर प्रतीति, वैदिक धर्म के प्रति अन्धे रूढ़िगत विश्वास की कमी और आभ्यन्तर पवित्रता (बाह्याडम्बर के प्रति उपेक्षा) की बातें पायी जाती हैं। "वीरशैव लोग परात्पर शिव के साथ आनन्दमय मिलन के अभिलाषी होते हैं।" (दे०—संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, पृ० २९०)। उनका अन्तिम लक्ष्य समरसैक्य की प्राप्ति है। कूडल-संगमेश्वर का जप इनके यहाँ विधेय है। इनका मत शक्ति-विशिष्टाद्वैत कहलाता है। यह मत कन्नड़ के वचन-साहित्य द्वारा कर्नाटक में अभिव्यक्त हुआ है।

ब्राह्मण-साहित्य

करीब-करीब इसी समय द्वैतमत-प्रतिष्ठापनाचार्य मध्वाचार्य (जन्म ११९७ ई०) का उडुपि में प्रादुर्भाव हुआ। आप वल्लभाचार्यजी के समान कृष्ण-भक्त कवि थे। आप वेद, उपनिषद् और गीता के मानने वाले थे। वेदों का अधिकार सब को—स्त्रियों को या शूद्रों को—नहीं था। प्रस्थानत्रयी की सारी बातें आल्वार लोग तमिलनाड में पदों के द्वारा कह गए। नायन्मारों ने (शैव कवि) शैव-प्रबन्धों के द्वारा तमिलनाड को ये ही बातें पहुँचाईं। वैसे ही कृष्ण भक्ति की धारा देशी भाषा (कन्नड़) में गीत या भजन या पदों के द्वारा मध्वाचार्यजी के अनुयायी पुरन्दरदास, कनकदास, श्रीपादराय जैसे कवियों ने वैष्णव भक्ति धारा को कर्नाटक में बहाकर वीर शैव-भक्ति के समान सरसता और सहृदयता से परिपूर्ण कृष्ण-भक्ति का प्रसार कर दिया। इनमें भी दासकूट (अष्टछाप जैसे) के कवि हुए हैं। इन कवियों ने मधुर भक्ति भाव में अपने को खोकर और परवश होकर श्रीकृष्ण भगवान् की बाल-लीला और यौवन-लीला का वर्णन किया है।

इस तरह जैनों के अतिरिक्त कर्नाटक में श्रीशंकराचार्यजी का अद्वैतमूलक एकेश्वरवाद, श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतमूलक प्रपत्तिवाद, श्रीबसवेश्वर का शक्ति-विशिष्टाद्वैत-मूलक एकेश्वरवाद और श्रीमध्वाचार्यजी के द्वारा प्रवर्तित और पुरन्दरदास-जैसे कवियों के द्वारा प्रवर्द्धित द्वैतमूलक भक्तिवाद की धाराएँ बहीं, पनपीं और समन्वित हुईं। इस समन्वय का जन-जीवन पर काफी असर पड़ा।

नव्य कन्नड़ साहित्य (आधुनिक काल) की शैली

कन्नड़ आधुनिक या नव्य कब बनी ? पम्प के जमाने में तत्कालीन कन्नड़ आधुनिक ही तो थी। अब हमारी कन्नड़ भाषा आधुनिक है। धारवाड़ की शैली अलग, दक्षिण कन्नड़ की शैली अलग और मैसूर-कन्नड़ की शैली अलग जरूर है ; पर इधर कर्नाटक (१९५६ ई०) की पुनः स्थापना के बाद इन शैलियों की एकता का प्रयत्न हो रहा है। सारे कर्नाटक में वृत्तपत्र, कहानी कादम्बरी (उपन्यास) तथा अन्य प्रकार के गद्य-पद्यों के द्वारा आधुनिक गद्य-पद्य-साहित्य की एक भाषा, एक शैली, एक-सी शब्दावली और एक ही लिपि का प्रसार हो रहा है—और हमारी अपनी आँखों के सामने ही हो रहा है। आज कन्नड़ में टाईप-राईटर-यन्त्र भी उपलब्ध है।

●

डा० आय० पाण्डुरंग

आन्ध्र प्रदेश का हिन्दी के साथ सम्बन्ध

भारत की बाह्य विभिन्नता में आन्तरिक एकता को प्रतिष्ठित करनेवाली मूल शक्तियों में भाषा और साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं का साहित्य एक ही प्रकार की सांस्कृतिक विचारधारा से अनुप्राणित है। इसका प्रधान कारण है, यहाँ की विविध भाषाओं के बीच में निरन्तर चलनेवाला पारस्परिक आदान-प्रदान। विदेशी शासन के पहले आदान-प्रदान का यह सांस्कृतिक कार्य सूर-भारती संस्कृत के माध्यम से सम्पन्न हुआ करता था। बाद में पालि, प्राकृत जैसी भाषाओं के द्वारा भी यह कार्य बहुत हद तक सम्पन्न हुआ करता था। बाद में अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा भारत के मस्तिष्क मात्र का पोषण करने में समर्थ रही ; अतः उसके हृदय की अवहेलना-सी हो गई और फलतः भारत की सांस्कृतिक एकता तनिक शिथिल होने लगी। पर इधर खड़ी बोली (हिन्दी) ने अपना सिर उठाया है और अब इसी के माध्यम से भारतीय साहित्य की एकरूपता का पुनरुत्थान सम्भव हो रहा है।

आदान-प्रदान के इस महान् कार्य में आन्ध्र का पहले से ही महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। आपस्तम्ब हाल, वल्लभाचार्य, पण्डितराज जगन्नाथ आदि महर्षियों, मनीषियों तथा मनस्वियों की दूरदर्शिता ने आन्ध्र को समग्र भारत के साथ मिला दिया है। हाल की 'गाथा सप्तशती' ने हिन्दी में 'सतसई' की सरस परम्परा को प्रचलित किया था। हिन्दी-साहित्य को स्वर्णिम शोभा प्रदान करनेवाली 'कृष्णभक्तिशाखा' को उर्जस्वित करने का श्रेय श्रीवल्लभाचार्य की 'नखचन्द्र छटा' को ही है, जिसके बिना कविवर सूरदास को 'सब जग माँझ अँधरो' ही दिखाई पड़ा था। सूरदास ने हिन्दी-साहित्य को हृदय दिया था, तो श्री वल्लभाचार्य ने पवित्र गोदावरी से अभिमिश्रित स्निग्ध एवं स्फीत बुद्धि प्रदान करके ब्रज को सर्वथा परिशुद्ध किया था। इसके पश्चात् अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में तैलंग ब्राह्मण 'पद्माकर' भी इसी परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में अपना नाम अमर कर गये हैं।

उपर्युक्त महानुभावों ने जिस कार्य को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सम्पन्न किया था, उसी को सन् १९१८ में महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय रूप प्रदान किया और भारत की पतनोन्मुख सांस्कृतिक चेतना को भाषा के सहारे खड़ा कर दिया था। सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में हुआ था। गान्धीजी ने इस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी को अखिल भारतीय रूप प्रदान करके उसका राष्ट्रीय महत्त्व समझाया था। उस समय तक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का दृष्टिकोण हिन्दी भाषी प्रान्तों तक ही सीमित था। आगे चलकर दक्षिण में भी हिन्दी का प्रचार आरम्भ हो गया और मई सन् १९१८ में साहित्य सम्मेलन का कार्यालय मद्रास में स्थापित हो गया। महात्मा गान्धीजी के पुत्र देवदास के द्वारा ही

राष्ट्रवाणी की आराधना दक्षिण में शुरू हुई थी। इसी समय से राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ आन्ध्र ने भी अपना यथाधिक सम्पर्क स्थापित कर लिया है। देवदास गान्धी, रामभरोसे, रामानन्द शर्मा आदि के साथ-साथ हृषीकेश शर्मा, मोटूरि सत्यनारायण जैसे उत्साही आन्ध्र युवकों ने भी राष्ट्र के इस स्पृहणीय कार्य में स्तुत्य योग दिया था।

इस राष्ट्रीय धारा के साथ-साथ सांस्कृतिक चेतना से प्रेरित साहित्यिक साधना भी जाग उठी। सर्वश्री जन्ध्याल शिवन्न शास्त्री, ओरुगंटि वेंकटेश्वर शर्मा आदि उदीयमान लेखकों ने राष्ट्रवाणी में लिखने का प्रशंसनीय प्रयास किया था। इस समय को 'जागरण काल' अथवा 'प्रबोध युग' माना जा सकता है। सन् १९१८ से १९३५ तक यह प्रबोध आन्ध्र के हिन्दी-आन्दोलन में दृष्टिगोचर होता है। सांस्कृतिक समरसता को भारत में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए आन्ध्र ने एक सामान्य भाषा की आवश्यकता महसूस की और यहाँ के प्रतिभाशाली लेखकों ने तुरन्त उस कार्य में सक्रिय तथा रचनात्मक योगदान देना आरम्भ किया था।

सन् १९३६ तक हिन्दी का प्रचार आन्ध्र की शिक्षित जनता में किया गया और इसके फलस्वरूप सरकार ने भी इनको मान्यता प्रदान कर विद्यालयों में भी हिन्दी का प्रवेश कराया। इस प्रकार सन् १९३७ से हिन्दी अध्ययन-अध्यापन का भी विषय बन गयी है। अब प्रचारकों, शिक्षकों तथा लेखकों को संख्या बढ़ने लगी है। सन् १९३७ से सन् १९४९ तक प्रचार की लहर आन्ध्र के कोने-कोने में फैल गई, जिसने हजारों युवकों को हिन्दी पढ़ने और हिन्दी में लिखने की ओर प्रेरित किया है। तेईस साल की इस अवधि को 'प्रचार-युग' अथवा 'साधना-युग' माना जा सकता है। इसी छोटी अवधि में सर्वश्री राममूर्ति 'रेणु' आरिगपूडि' रमेश चौधरी, हनुमच्छास्त्री अयाचित, नरसिंहमूर्ति राचरोंड, सूर्यनारायण चावलि आदि कई उदीयमान लेखक आन्ध्र में तैयार हो गए। इनकी साधना ने आन्ध्र का मुख उज्ज्वल किया है और सिद्ध किया कि हिन्दी केवल उत्तर भारत की एक साधारण प्रान्तीय भाषा नहीं है; बल्कि वह सारे राष्ट्र की सम्पत्ति है।

सन् १९५० में हिन्दी ने भारत के संविधान में आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया है और तब से उसका विकास पहले से कई गुना अधिक होने लगा है। गद्य-लेखक, समालोचक, कवि, नाटककार, कहानीकार और पत्रकार अधिकाधिक संख्या में अपनी प्रतिभा के बल पर राष्ट्रवाणी को समृद्ध करने लगे हैं ; अतः सन् १९५० से अब तक का यह दशक 'विकास युग' माना जा सकता है।

इस प्रकार आन्ध्र प्रदेश में हिन्दी-साहित्य की व्याप्ति को चार युगों में विभाजित किया जा सकता है——

प्राचीन युग——सन् १९१८ से पहले।
प्रबोध युग——सन् १९१८ से सन् १९३५ तक।
साधना युग——सन् १९३७ से सन १९४९ तक।
विकास युग——सन् १९५० से सन् १९६० तक।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक युग के लेखक अलग-अलग हैं और उनकी प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। केवल विकास की दृष्टि से यह विभाजन किया गया है। वास्तव में 'प्रबोध युग' की ही प्रवृत्तियाँ 'साधना युग' में और इसी प्रकार 'साधना युग की' प्रवृत्तियाँ '**विकास युग**' में परिवर्त्तित एवं परिष्कृत हुई। प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्ती युग का पूरक तथा

परवर्ती युग का पोषक होता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि एक ही लेखक 'प्रबोध युग' में अपनी साधना का आरम्भ करके 'साधना युग' और 'विकास युगों' में अपनी रचना का कार्य जारी रखता है; अतः यह विभाजन तत्कालीन प्रवृत्तियों पर अधिक आधारित है, लेखकों पर नहीं।

प्रबोध-युग (१९१८-१९३५)

अब आगे चलकर प्रत्येक युग के प्रमुख लेखकों की साहित्यिक सेवा का परिचय दिया जायगा। यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्क है कि इसमें केवल उन्हीं लेखकों के नाम दिये जा रहे हैं, जो आन्ध्र प्रदेश के निवासी अथवा तेलुगु भाषी होकर हिन्दी में लिखते हैं। आन्ध्र में कई अन्य भाषा-भाषी हैं, जो विविध प्रान्तों से यहाँ आकर बसे हुए हैं और जो राष्ट्रवाणी में साहित्य-सर्जन कर रहे हैं। विस्तार के भय से इनका उल्लेख इस निबन्ध में नहीं किया जा रहा है, यद्यपि इन सहृदय लेखकों की सेवा अत्यन्त स्तुत्य है।

सन् १९१८ के मार्च महीने में गान्धीजी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा का रूप मौखिक रूप से था और दो ही तीन महीनों में दक्षिण में इसका प्रचार शुरू कर दिया था। बापू की इस आत्मीय प्रेरणा ने कई प्रतिभाशाली आन्ध्र युवकों का मन हिन्दी पढ़ने और हिन्दी में लिखने की ओर आकृष्ट किया। आन्ध्र से सर्वश्री जन्ध्याल शिवन्न शास्त्री, पीसपाटि वेंकट सुब्बाराव, रामकृष्ण शास्त्री आदि उत्तर भारत जाकर हिन्दी का अध्ययन करके वापस आए। इनमें से श्री जन्ध्याल शिवन्न शास्त्री का व्यक्तित्व बड़ा जबरदस्त था। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से श्री मोटूरि सत्यनारायण ने हिन्दी प्रचार के बीज जिस प्रकार बोये, उसी प्रकार शास्त्रीजी आन्ध्र में हिन्दी-साहित्य के सर्जन की संजीवनी प्रेरणा संचरित कर गये थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि सन् १९१८ के पहले आन्ध्रों का ध्यान हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ था। पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर दिया गया है कि आन्ध्र का हिन्दी भाषा और साहित्य के साथ दो प्रकार का सम्बन्ध रहा है—राष्ट्रीय और सांस्कृतिक। राष्ट्रीय सम्बन्ध सन् १९१८ के बाद ही दृष्टिगोचर होता है। उसके पहले सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आन्ध्र ने हिन्दी को भलीभाँति अपनाया था और उसका उज्ज्वल प्रमाण है पद्माकर की प्राभातिक काव्य-माधुरी। इसी परम्परा में श्री कृष्णमूर्ति शिष्टु, पुरुषोत्तम नादेल्ल आदि महानुभावों ने अपनी सांस्कृतिक तथा साहित्य प्रवण प्रकृति का परिचय दिया था। श्री कृष्णमूर्ति शिष्टु ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का पद्यानुवाद तेलुगु में किया है। अब तक प्राप्त अनुवादों में यही 'मानस' का पहला आन्ध्रानुवाद है। दोहे चौपाई छन्दों में यह अनुवाद किया गया है और इस दृष्टि से यह तेलुगु के छन्दोवैभव को भी बढ़ानेवाला सिद्ध हुआ है। यद्यपि इन छन्दों का प्रयोग बाद के आन्ध्र के लेखकों ने नहीं किया है। कृष्णमूर्ति ने इसका अनुवाद अरण्यकाण्ड में 'मारीच वध' तक किया था। शेषांश का अनुवाद मंडनहरि नाम के सज्जन ने पूरा किया। इसका रचना-काल सन् १८८० के लगभग है, जब कि उत्तर भारत में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना तक नहीं हुई थी। इसी प्रकार श्रीनिवासराव पसुमर्ती का गद्यानुवाद और नरसिंह शर्मा, भागवतुल का पद्यानुवाद भी उल्लेखनीय है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आन्ध्र के कवियों की दृष्टि सबसे पहले 'मानस' की ओर गई और आज भी कई ऐसे तेलुगु भाषी हैं, जो केवल 'मानस'

का अध्ययन करने के लिए हिन्दी सीखना चाहते हैं। 'मानस' के मधुर वाचक नामुल अप्पाराव इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

'मानस' के अनुवाद की ओर आन्ध्र के लेखकों का ध्यान जिस समय आकृष्ट हुआ था, उसी समय के लगभग हिन्दी नाटकों का भी प्रदर्शन आन्ध्र में होने लगा, जिसकी ओर कई कला-प्रिय युवकों का मन आकृष्ट हुआ। इनमें नादेल्ल पुरुषोत्तम नाम के नाटककार का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने सन् १८८४ और १८८६ के बीच हिन्दी में कई नाटक लिखकर रंगमंच पर उनका प्रयोग कराया था। आपके द्वारा रचित तेरह हिन्दी नाटक आज मिलते हैं। उन नाटकों की पाण्डुलिपियाँ इस समय उस्मानिया विश्वविद्यालय के तरुण शोधकर्त्ता तथा वरंगल आर्ट्स कालेज के प्राध्यापक श्री भीमसेन 'निर्मल' के पास है, जो इनका अनुशीलन कर रहे हैं। कहा जाता है कि आपने कुल मिलाकर ३२ नाटक लिखे। अगर सब प्रकाशित हो जायें, तो अतीत का बहुत-सा अन्धकार आलोकित हो सकता है।

यह सारा कार्य प्रबोध-काल के (अर्थात् सन् १९१८) पूर्व हुआ था। इसी आधार पर आलोच्य काल की साहित्यिक रचना आगे बढ़ी। आपस्तम्ब के समय से चली आती हुई इस सांस्कृतिक भागीरथी ने बीच में प्राप्त राष्ट्रीय यमुना को अपने में मिला लिया और अब वह इस समय भारत को पावन कर रही है।

शोध-कार्य

जब से आन्ध्र के उत्साही विद्यार्थियों की दृष्टि हिन्दी के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुई, तब से हिन्दी में शोध-कार्य का भी आरम्भ हुआ। आन्ध्र-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रथम आचार्य श्री ओरुगंटि वेंकटेश्वर शर्मा ने पहली बार तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्व तेलगु भाषी विद्वानों के सामने स्पष्ट कर दिया था और इसी बीज का पल्लवित रूप हमें 'रेणु' जी जैसे दूरदर्शी लेखकों की रचनाओं में मिला है। इन दोनों की साहित्यिक साधना ने हिन्दी और तेलुगु की तुलना तथा हिन्दी में शोध-कार्य की ओर कई युवकों को प्रेरित किया है। फलतः हनुमच्छास्त्री अयाचित्. पांडुरंगराव, इलयापुलूरि, नरसिंहाचार्य, एस. टी. राजन राजू, वेंकट रमण, भीमसेन निर्मल, सूर्यनारायण 'धवल' आदि ने अपनी रुचि अनुकूल विषय चुनकर हिन्दी में शोध-कार्य करना शुरू कर दिया है। राष्ट्रवाणी के विकास में आन्ध्र के युवकों के द्वारा प्रवर्त्तित शोध-कार्य तथा तुलनात्मक अध्ययन की इस परम्परा ने बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उपर्युक्त शोधकर्त्ताओं में पांडुरंगराव 'मुरली' ने सन् १९५७ में तेलगु और हिन्दी के नाटक-साहित्य की तुलना करके नागपुर विश्वविद्यालय से पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त की है।

शेष शोधकर्त्ताओं में से नरसिंहाचार्य और वेंकटरमण क्रमशः 'साहित्य और अनुभूति' तथा 'भक्ति साहित्य का सामाजिक मूल्यांकन' पर अपने शोध प्रबन्ध तैयार कर चुके हैं।

राजन राजू हिन्दी और तेलुगु के आधुनिक काव्य-साहित्य की तुलना कर रहे हैं और सूर्यनारायण 'धवल' दोनों भाषाओं के प्रबन्धों के काव्य-शिल्प की तुलना कर रहे हैं। भीमसेन 'निर्मल' नादेल्ल पुरुषोत्तम द्वारा लिखित हिन्दी नाटकों का अनुशीलन कर रहे हैं। हनुमच्छास्त्री हिन्दी और तेलुगु के भक्ति-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य की अनेक रूपात्मक साधना आज जो आन्ध्र में दिखाई दे रही

है, उसका भविष्य आशा से आप्लावित है। इस विवेचन में आन्ध्र के उन सभी लेखकों का उल्लेख नहीं हो पाया है, जिनकी मातृभाषा तेलुगु नहीं है। वास्तव में हृषीकेश शर्मा, रामानन्द शर्मा, ब्रजनन्दन, रामभरोसे, डा० तेजनारायणलाल, श्रीराम शर्मा, वंशीधर विद्यालंकार, गयाप्रसाद शास्त्री, डा० रामनिरंजन पाण्डेय, डा० राजकिशोर पाण्डेय आदि कई ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने आन्ध्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में चिरस्मरणीय योग दिया है। आन्ध्र के हिन्दी-लेखकों का परिचय देना ही प्रस्तुत निबन्ध का आशय रहा, अतः इनकी सेवा का यहाँ पर उल्लेख करना सम्भव नहीं हो सका है, पर इनकी सेवा सदैव स्मरणीय रहेगी।

इधर आधुनिक कवियों की कई काव्य-प्रतिभाएँ भी आन्ध्र में सुन्दर काव्य-साहित्य का सर्जन कर रही हैं। करीब ४३ कवियों की, उनके परिचय सहित रचनाएँ, 'आन्ध्र के हिन्दी कवि' नामक पुस्तक में संगृहीत की गई हैं। यह पुस्तक भी मगनचन्द वेदी,'सहकारी जन-साहित्य-प्रकाशन समिति, हैदराबाद' की ओर से प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक में श्री आर्येन्द्र शर्मा, गयाप्रसाद शास्त्री, रामजीवनलाल, भीष्मदेव शास्त्री, मधुसूदन चतुर्वेदी आदि के अलावा बी० बी० सुब्बाराव तथा श्री चक्रवर्ती की भी कविताएँ हैं।

सात्यकि

संसद् में हिन्दी

संसद् के १९६४ बजट-अधिवेशन का उद्घाटन राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उपराष्ट्रपति ने, पहले हिंदी में भाषण कर के किया, जिसके बाद अंग्रेज़ी में भाषण हुआ। राष्ट्र-पति की अनुपस्थिति का कारण उनकी आँख का ऑपरेशन बताया गया ; पर इसकी एक छोटी-सी अंतर्कथा भी है। सुनते हैं कि बजट-अधिवेशन आरंभ होने से कुछ समय पूर्व लोकसभा के अध्यक्ष ने समाजवादी तथा अन्यान्य विरोधी दलीय सदस्यों से यह कहा कि गत वर्ष संसद् के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन के समय, राष्ट्रपति का भाषण अंग्रेज़ी में पहले होने के विरोध-स्वरूप कतिपय सदस्यों ने जो सदन-त्याग किया था, वह एक तरह से राष्ट्रपति का अपमान-सा था ; अतएव इस बार उसकी पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए। इस पर कुछ सदस्यों ने कहा कि संविधान के अनु-सार पहले राष्ट्रपति का भाषण राष्ट्रभाषा (हिंदी) में होना चाहिए और फिर 'सखी' भाषा (अंग्रेज़ी में)। पिछले १५ वर्षों से ऐसा ही होता भी रहा था। यदि राष्ट्रपति स्वयं हिंदी में नहीं बोल सकते और पहले उपराष्ट्रपति का भाषण हिंदी में होना नियमानुकूल नहीं है, तो वे भले ही अपनी मातृभाषा में बोलें और फिर अंग्रेज़ी में। इस संबंध में विधि-मंत्रालय की भी राय ली गयी। अंत में कोई संतोषजनक हल न खोज सकने की स्थिति से उबरने के लिए राष्ट्रपति की अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त कारण की खोज हुई और उनकी आँख के ऑपरेशन की—जो काफ़ी पहले भी हो सकता था या बजट अधिवेशन के उद्घाटन के बाद भी—शरण लेना ही समीचीन समझा गया। फलस्वरूप पहले उपराष्ट्रपति का भाषण हिंदी में हुआ, फिर अंग्रेज़ी में। यदि हमारे देश के शासकों का रुख राजनीतिक ईमानदारी, वैधानिक वफ़ादारी और जन-हित का होता, तो उन्हें व्यर्थ इतना द्राविड़-प्राणायाम न करना पड़ता; पर यह सब करके भी उन्होंने जिसको सुख-संतोष दिया और जिसकी आँखों में धूल झोंकी, यह स्वयं उनके और देश के समझदार लोगों के लिए विचारणीय है।

सरकार का नया रुख

एक बात विचारणीय है कि क्या आज 'भाषा' के सवाल पर फिर से विचार होना समी-चीन होगा? हिंदी-विरोधियों, अंग्रेज़ी-समर्थकों, अफ़सरों तथा अंग्रेज़ी-भाषी राष्ट्रों के प्रत्यक्ष-परोक्ष दलालों ने पिछले १४-१५ वर्षों में हिंदी की अक्षमता का विज्ञापन कर अंग्रेजी को बनाये रखने की 'अनिवार्यता' के संबंध में एक ऐसा दूषित वातावरण तैयार कर दिया है कि सरकार इसी को 'लोकमत' मान कर किसी तरह संसद् द्वारा स्वीकृत और संविधान में अंतर्युक्त राष्ट्र-भाषा के निर्णय से मुकरने का मौक़ा ढूँढ़ रही है। इस संबंध में उसके नये रुख पर 'स्टेट्स्मैन' के

राजनीतिक संवाददाता ने २५ फरवरी के अंक में लिखा है—"श्री गुलज़ारीलाल नंदा ने सभी राज्यों के मुख्य मंत्रियों को १२ मार्च को दिल्ली में इस पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया है कि गत वर्ष संसद् द्वारा पारित विवादास्पद क़ानून में उल्लिखित सरकारी भाषा-संबंधी नीति को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय। इस क़ानून के अनुसार आगामी २६ जनवरी से हिंदी को सरकारी भाषा होना चाहिए, जिसका कि संविधान में आदेश है; किंतु पहले, संविधान के अनुसार, जहाँ अंग्रेज़ी का उपयोग केवल जनवरी, १९६५ तक हो सकता था, अब हिंदी के साथ-साथ अनिश्चित काल तक हो सकेगा।.....अधिकृत सूत्रों के अनुसार केंद्रीय स्वराष्ट्र मंत्री इस बात के लिए उत्सुक हैं कि कहाँ तक अंग्रेज़ी का प्रयोग हो और कहाँ तक हिंदी का, इस बारे में मुख्य-मंत्रियों का सर्वसम्मत निदेश प्राप्त हो, ताकि हिंदी-भाषी और अहिंदी-भाषी क्षेत्रों के लोगों में कोई संघर्ष न हो।" आगे चल कर संवाददाता ने कहा है कि हर राज्य को यह क़ानून पास करना होगा कि जनवरी १९६५ के बाद अंग्रेज़ी चलती रहे, अन्यथा वैधानिक संकट उपस्थित हो सकता है (संविधान की धारा २१० में कहा गया है कि २६ जनवरी, १९६५ के बाद किसी भी राज्य में अंग्रेज़ी का प्रयोग तब तक नहीं जारी रह सकता, जब तक कि उसके द्वारा क़ानून पास कर ऐसा तय न किया गया हो।) इस स्पष्ट संकेत का असंदिग्ध अर्थ यही है कि केंद्र की तरह ही राज्य-सरकारें भी विशेष क़ानून पास कर अंग्रेज़ी को जारी रखें। इस संबंध में केंद्रीय सरकार के धनीधोरियों और कांग्रेस के नेताओं का जो रुख है, 'सर्वसम्मत' निर्णय के नाम पर जो वे देश की एकता बनाये रखने के बहाने हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के निर्णय को झुठलाने की चाल चल रहे हैं, उसे देखते हुए इस संबंध में रत्ती भर भी संदेह की गुंजाइश नहीं कि २६ जनवरी, १९६५ के बाद केंद्र और राज्यों में संविधान-द्वारा स्वीकृत राष्ट्रभाषा हिंदी का स्थान लेगी उसकी 'सखी' (सौत ?) भाषा अंग्रेज़ी—और वह भी सर्वसम्मति से !

राज्यों में हिंदी

पिछले १५ वर्षों में राज्यों में १९६५ में राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण करनेवाली हिंदी के प्रचार के जो प्रयत्न हुए अथवा हो रहे हैं, उनके संबंध में पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में गत १९ फ़रवरी को संसद् में केंद्रीय शिक्षा-उपमंत्री ने कहा कि सभी राजकीय स्कूलों में विविध स्तरों पर हिंदी अनिवार्य रूप से पढ़ायी जाती है—सिवा मद्रास के, जहाँ यह वैकल्पिक विषय है। इसका कारण बताते हुए कहा गया कि कुछ विशेष कारणों से मद्रास में हिंदी को अनिवार्य नहीं किया गया। अच्छा होता यदि उपमंत्री महोदय उन 'विशेष कारणों' का भी उल्लेख कर देते, जिनकी वजह से मद्रास में हिंदी अनिवार्य नहीं की गयी या की जा सकी। जहाँ तक विकल्प का प्रश्न है, इसका अर्थ यही है कि अपवादों को छोड़ कर और कौन हिंदी पढ़ेगा ? यदि द्राविड़ मुन्नेत्तर कड़घम के डर से या उन्हें शांत और संतुष्ट करने की आशा से ऐसा किया गया है, तो इसका परिणाम देश की एकता के लिए अच्छा नहीं हो सकता। यहाँ एक बात और भी है और वह यह कि सरकार के कुछ प्रमुख अधिकारियों के हिंदी-विरोधी रुख़ ने हिंदी के प्रचार-प्रसार को काफ़ी रोका और शिथिल किया है और आज जहाँ हिंदी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ायी जाती रही है, वहाँ भी जाँच करने पर उसकी पढ़ाई की स्थिति संतोषजनक नहीं मिलेगी। उदाहरण के लिए पश्चिम-बंगाल, असम, आंध्र आदि में हिंदी-शिक्षण के अनुदान को ही शिक्षण का प्रमाण माना

जा रहा है, जब कि कार्यतः यह शिक्षण एकदम उपेक्षित और शिथिल ही है। इसका कारण खोजने की जरूरत नहीं है।

२६ करोड़ की भाषा, लेकिन ?

हिंदी के संबंध में सरकार के रुख का एक दूसरा पक्ष गृह-मंत्रालय के राज्यमंत्री श्री रामचंद्र मार्त्तण्ड हाज़रनवीस ने २९ जनवरी, १९६४ के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपने लेख में प्रस्तुत किया है। लेख का शीर्षक है 'हिंदी के संबंध में कुछ सवाल और कुछ जवाब'। पहले हम इनके द्वारा उठाये हुए सवालों को लें। भूमिका-स्वरूप आपने कहा है—"राष्ट्रभाषा के संबंध में आज हमारे सामने जो बहुत से सवाल हैं, उनमें से अधिकांश शासन-विषयक हैं। गृह-मंत्रालय में राज्यमंत्री होने के नाते इस काम का राजकीय (शासकीय) अधिकार मेरे पास है। हिंदी के प्रचार की प्रगति की ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर है। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस संबंध में जो प्रगति हुई है, वह संतोषजनक नहीं है।" यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हिंदी की यह प्रगति क्यों संतोषजनक नहीं है, और क्या इसके लिए अकेले श्री हाज़रनवीस ही ज़िम्मेदार हैं ? पर सच तो यह है कि जिस शासन ने १५ वर्षों की अवधि में हिंदी को अंग्रेज़ी की जगह लेने का निर्णय किया था, उसके द्वारा इस महत्त्वपूर्ण निर्णय को कार्यान्वित करने की ज़िम्मेदारी एक 'राज्य' मंत्री पर छोड़ना, क्या उसकी नीयत का परिचायक नहीं ? कदाचित् इसीलिए गृह-मंत्रालय द्वारा हिंदी के प्रयोग के संबंध में समय-समय पर जो परिपत्र जारी किये गये, उन पर कोई या पूरा अमल नहीं किया गया और राज्यमंत्री महोदय इस संबंध में कुछ भी नहीं कर सके। सचाई यह है कि उनकी 'ज़िम्मेदारी' को देखते हुए उनके 'अधिकार' लगभग नगण्य थे।

अब अपना काम और ज़िम्मेदारी संतोषजनक ढंग से न निभा सकने वाले राजमंत्रीजी का दूसरा सवाल देखिए :—"पूछा जाता है कि अंतर्प्रांतीय व्यवहार में हिंदी क्यों नहीं लायी गयी ? मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं।.....मेरी समझ में यह नहीं आता कि जिन प्रदेशों की मातृभाषा हिंदी है, वहाँ पर हिंदी में काम क्यों नहीं होता है ? उत्तर-प्रदेश से कोई चिट्ठी बिहार को जाती है, तो वह अंग्रेज़ी में क्यों जाती ? ....पुराने मध्य-प्रदेश में स्व० रविशंकर ने बहुत अच्छा काम प्रारंभ किया था। उन्होंने कहा था—मध्य-प्रदेश की भाषा दोनों रहेंगी—हिंदी और मराठी।.... लेकिन ज्यों ही प्रांत का विभाजन हुआ, यह द्विभाषी व्यवस्था समाप्त हुई। अंग्रेज़ी में काम होने लगा। ऐसा क्यों हुआ ? मुझे मध्य-प्रदेश के एक अधिकारी ने बताया कि अब अंग्रेज़ी में ही काम करने का निश्चय किया गया है ; पर क्यों ?" हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि राज्यमंत्री महोदय स्वयं ही हिंदी के न चल पाने का एक कारण होते हुए भी दूसरों से ऐसे सवाल पूछते हैं। इस समय देश में जनतंत्र या प्रजातंत्र के नाम पर एक व्यक्ति का शासन है। लोकप्रियता के कारण उसके पूजक और भक्त लोग उसके मत को संविधान से भी बड़ा मानते हैं। ऐसी दशा में सबकी आँखें दिल्ली की ओर लगी रहती हैं। जो कुछ यहाँ होता है, आँख मूँद कर उसी का अनुसरण सारे राज्य, उनकी सरकारें और उनके नेता करते हैं। फिर केंद्र से सारे राज्यों को पत्र अंग्रेज़ी में जाते हैं। ऐसी स्थिति में कोई राज्य भला कैसे हिंदी में काम करके शनि की कोप-दृष्टि को आमंत्रित कर सकता था ?

एक थोथी दलील

शिक्षा-उपमंत्री ने अपने उल्लिखित उत्तर में, जो मद्रास-राज्य में हिंदी को अनिवार्य न करने का कारण नहीं बताया, उसे राज्यमंत्री हाज़रनवीस ने अपने लेख में बताते हुए कहा है— "एकता की भावना मुख्य है और उसी का सब से अधिकार प्रचार और प्रसार करना होगा। और यही एकता बनाये रखने के लिए हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाया गया था ; पर अगर हम शासन के दबाव से हिंदी को लाना चाहें, तो वह कभी नहीं आयगी। उसे तो जनता की इच्छा से ही धीरे-धीरे आसन पर बिठाना होगा।" यह पेटेंट दलील या तो हिंदी-विरोधी देते हैं, या वे लोग, जो ऊपर से तो हिंदी के हिमायती बनते हैं; पर करना कुछ नहीं चाहते। देश की एकता को दृढ़ करने के विचार से जब हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाया गया, तब क्या यह सोचा गया कि यह काम कैसे होगा? शासन द्वारा या केवल जनता की इच्छा और स्वीकृति से? इसके साथ ही इस बात का भी उत्तर अपेक्षित है कि क्या पहले जो फ़ारसी या अरबी या बाद में उर्दू अथवा फिर जो अंग्रेज़ी भारत की राज-भाषाएँ बनीं, वे क्या जनता की इच्छा-अनुमति से अथवा शासन द्वारा? क्या यह सच नहीं है कि देश की एकता एक राष्ट्रभाषा द्वारा ही संभव है, यही समझ कर पूज्य बापूजी ने हिंदी को कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग बनाया था? तब फिर आज जब हम स्वतंत्र हो गये हैं और देश की सर्वोच्च प्रतिनिधि-संस्था संसद् ने राष्ट्रभाषा पर अपना मत दे दिया है, तब 'शासन के दबाव से' हिंदी को लाने की बात सड़े दिमाग़ में ही तो उठ सकती है। यह देश के विघटन को सहायता और प्रोत्साहन देनेवाली ख़तरनाक मनोवृत्ति है। संविधान में हिंदी को देश की एकता का सूत्र मान कर ही राष्ट्रभाषा का स्थान दिया गया और आज हमारे शासक ही यह शोर मचा रहे हैं कि हिंदी से देश की एकता को ख़तरा है।

पर आगे चल कर अपनी इस थोथी दलील का जवाब भी लेखक ने स्वयं दे दिया है। वे कहते हैं—"हमारे संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि १५ वर्ष बाद हिंदी अंग्रेज़ी का स्थान ले लेगी। लेकिन १९६५ तक यह नहीं ले रही है। इससे कुछ लोग कहते हैं कि संविधान भंग होता है। मैं ऐसा नहीं मानता। संविधान बदल सकता है; पर लोगों की भावना नहीं बदलती। संविधान में निश्चय किया गया है, हिंदी इसलिए नहीं आ रही है। वह इसलिए आ रही है कि कोई दूसरी भाषा देश के लिए उपयुक्त नहीं। गोआ का एक उदाहरण मेरे सामने है। गोआ स्वतंत्र होने से पहले पुर्तगाली सरकार का ग़ुलाम था ; पर उस समय भी राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के २७ केंद्र वहाँ काम करते थे। विदेशी शासन रहते हुए भी वहाँ हिंदी का प्रचार बढ़ा।....इसी प्रकार का उदाहरण अंदमान-निकोबार का है। वहाँ पर जगह-जगह से लोग पहुँचे। वहाँ भी केवल एक भाषा है, और वह है हिंदी।" इसके बाद हिंदी-भाषियों की संख्या २५–२६ करोड़ बताते हुए आप कहते हैं—"अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो चीनी और अंग्रेज़ी के बाद संसार में हिंदी ही सर्वाधिक प्रचलित भाषा है।....कहा जाता है कि हमारे देश में दो प्रतिशत लोग अंग्रेज़ी जानते हैं। मैं एक बात और आगे कहना चाहता हूँ। अंग्रेज़ी का यह दो प्रतिशत प्रचलन भी अपनी ताक़त से नहीं हुआ है। शासन के दबाव के कारण अंग्रेज़ी पढ़ी और पढ़ायी गयी, भारत में अंग्रेज़ी तलवार के बल से बढ़ी, तो हिंदी अपनी ताक़त से बढ़ी है। कहा जाता है कि दक्षिण में हिंदी का बड़ा विरोध है। मैं इसे नहीं मानता। वहाँ के लोग बड़ी श्रद्धा

से हिंदी सीख रहे हैं।" यदि इन बातों में कुछ भी सचाई है, तो फिर 'शासन के दबाव से' हिंदी लाने का प्रश्न ही कैसे और क्यों उठता है ?

एक सबक़ : एक चेतावनी

इस सारी लीपापोती के पीछे वह दोहरी और कपटपूर्ण मनोवृत्ति काम कर रही है कि हिंदी के संबंध में सारी अनुकूल बातें मान लो, पर काम-काज चलाओ अंग्रेज़ी में ही। राज्यमंत्री हाज़रनवीस और गृहमंत्री नंदा की दलीलों से यह स्पष्ट है कि ये और इनका शासन अभी देश की एकता के नाम से जनता की इच्छानुसार अंग्रेज़ी को ही जारी रखने के पक्ष में हैं। कोई भविष्य-वाणी करना तो समीचीन नहीं ; पर अगर इस मनोवृत्ति और कार्य-प्रणाली को जारी रहने दिया गया, तो पिछले १५ वर्षों की तरह अगले १५० वर्षों तक भी अंग्रेज़ी जारी ही रहेगी और अंग्रेज़ी-दाँओं का ही बोलबाला रहेगा। अंग्रेज़ जिस तरह ग़ैर-अंग्रेज़ी जानने वाली जनता से अलग-अलग रहे, वही हाल आज अंग्रेज़ीदाँओं का भी है। जन-जीवन से वे अलग हैं। इस तरह अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ियत से देश की एकता को बहुत बड़ा ख़तरा है। अब तक के अंग्रेज़ीदाँओं के आच-रण से हमें यह सबक़ तो मिलता ही है, यह एक चेतावनी भी है। अगर इनका बस चला, तो देश भाषा और संस्कृति की इस नयी ग़ुलामी से कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगा ; अतएव समय रहते हमें इस संबंध में कुछ अवश्य करना चाहिए।

●

खण्ड : ४

हिन्दी संघर्ष समिति

हिन्दी संघर्ष समिति

उत्तर प्रदेश के नागरिकों की आशाओं के विपरीत गत १७ अगस्त ६४ को विधान सभा में अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक चलाने और हिन्दी में राजकाज को रोकने का यह प्रस्ताव पारित किया गया। उस घटना से राजनैतिक स्तर पर विरोधी दलों के नेताओं की बात को बिना सुने हुए कार्रवाई की गई, जिससे हम हिन्दी भाषा-भाषी लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचा है। सारे प्रदेश में यह आक्रोश मौन रूप में चलता रहा। प्रयाग के बौद्धिक एवं चिन्तक वर्ग के अतिरिक्त साधारण जन के मन में भी क्षोभ हुआ।

जिस समय विधेयक विधान सभा में प्रस्तुत किया गया, उसी के साथ सम्मेलन के अधिकारियों ने यह अनुभव किया कि वर्तमान शासन की दुराग्रही नीति हिन्दी पर आघात करना चाहती है।

सम्मेलन की ओर से श्री बालकृष्ण राव, विशेष कार्याधिकारी श्री विद्याभास्करजी ने उस सम्बन्ध में शीघ्रातिशीघ्र सार्वजनिक सभा करके प्रस्ताव का विरोध करने का निश्चय किया। दिनांक १९, ८, ६४ को सम्मेलन के सचिव श्री गोपालचन्द्रसिंह ने निम्नलिखित वक्तव्य द्वारा हिन्दी-प्रेमियों का आह्वान किया और कहा—"उत्तर प्रदेश विधान सभा में अंग्रेजी को कायम रखने और हिन्दी को राजभाषा का पद देने में अनिश्चित विलम्ब करने का विधेयक प्रदेश सरकार की ओर से प्रस्तुत कराया गया है। समस्त हिन्दी-जगत् में इसके विरुद्ध तीव्र रोष है। हिन्दी-प्रेमी प्रयाग निवासियों की ओर से प्रदेश सरकार की इस कार्रवाई पर रोष प्रकट करने और इस विधेयक का तीव्र विरोध करने के लिए एक सार्वजनिक सभा सम्मेलन-भवन के हिन्दी-संग्रहालय में आगामी शनिवार २२ अगस्त १९६४ को सायंकाल ५ बजे से आयोजित की गई है।

मुझे विश्वास है कि इस आयोजन को सफल बनाने में प्रयाग नगर और इलाहाबाद जनपद के समस्त हिन्दी-प्रेमी निवासियों का समर्थन प्राप्त होगा। प्रयाग की हिन्दी सेवी संस्थाओं से हम विशेष रूप से सहयोग की आशा करते हैं।"

उपर्युक्त वक्तव्य के आधार पर दिनांक २२-८-६४ को एक सार्वजनिक सभा श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में सम्मेलन के हिन्दी-संग्रहालय में आयोजित की गई। इस सभा में इलाहाबाद की प्रतिनिधि संस्थाओं के अधिकारी और स्थानीय गणमान्य नागरिक सम्मिलित हुए। जिन संस्थाओं के अधिकारियों ने इस सभा में योग देकर विधेयक के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई वे इस प्रकार हैं—

(१) भारतीय हिन्दी परिषद्	श्री (डा०) रघुवंश
(२) परिमल	डा० जगदीश गुप्त
(३) हिन्दुस्तानी एकेडेमी	श्री विद्याभास्कर
(४) संस्कृत प्रचार परिषद्	श्री प्रभात शास्त्री

(५) नव प्रभात — श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
(६) विवेचना — श्रीमती उमाराव
(७) जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन — श्री सूर्यनारायण मिश्र

इन संस्थाओं के अधिकारियों के अतिरिक्त भाषा विधेयक का विरोध करने के लिए स्थानीय राजनैतिक दलों का भी सहयोग २२-८-६४ की सभा में मिला। इन दलों के प्रतिनिधि इस प्रकार थे—

१. कांग्रेस—श्रीमती रानी टंडन, श्री महावीर शुक्ल, संसद सदस्य, श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय।
२. समाजवादी पार्टी—रजनीकांत वर्मा
३. जनसंघ—डा० मुरलीमनोहर जोशी तथा श्री रामगोपाल सण्ड।

सभा में लगभग ५-६ सौ हिन्दी-प्रेमी एकत्र हुए थे। अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रवक्ताओं ने हिन्दी के प्रति इस अपमानजनक स्थिति का सबने समान रूप से विरोध किया।

अध्यक्ष पद से श्री बालकृष्ण राव ने सार्वजनिक सभा में विधेयक का विरोध करते हुए निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किया :—

"प्रयाग नगर और इलाहाबाद जनपद के हिन्दी-प्रेमी निवासियों की यह सार्वजनिक सभा उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी विरोधी नीति की तीव्र निन्दा करती है और उससे यह माँग करती है कि राजभाषा के सम्बन्ध में जो विधेयक उसने विधान-सभा में उपस्थित कर स्वीकृत कराया है, उसे अविलम्ब रद्द कराने के निमित्त आवश्यक कदम उठाए। उत्तर प्रदेश की भाषा हिन्दी रही है और रहेगी। अंग्रेजी के स्थान पर उत्तरोत्तर हिन्दी का व्यवहार कराने का संकल्प बहुत पहले ही स्वयं सरकार ने भी कर लिया था। अब हिन्दी को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण रूप से राजभाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित करने का मनोयोग से प्रयास करने के बजाय उस संकल्प के विपरीत काम करना और विश्वासघात है। प्रदेश के प्रशासन में और विधान मण्डल के कार्यों में अंग्रेजी को बनाये रखना चाहे वह साधारण और सीमित रूप में ही क्यों न हो, प्रतिक्रियावादी दुर्नीति है और देश और देश की स्वाभाविक प्रगति को रोकने का दुष्प्रयास है। राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने अंग्रेजों के शासन काल में सन् ३५ के भारत शासन के विधान के अन्तर्गत संगठित विधान सभा में हिन्दी को प्रतिष्ठित करा दिया था और देश की स्वाधीनता के कुछ पूर्व से ही शासन ने हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया था। इसके साथ ही, विधानसभा की समस्त कार्रवाई हिन्दी में ही करने का निश्चय राजर्षि टंडनजी की अध्यक्षता में विधानसभा ने कर लिया था। अब, आजादी के १७ वर्ष बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा और अवहेलना कर अंग्रेजों के शासनकाल का मानसिक वातावरण फिर से उत्पन्न करना समस्त राष्ट्रप्रेमियों के लिए अपमान और ग्लानि की बात है।

यह इस सभा का सुनिश्चित मत है कि उत्तर प्रदेश सरकार को अपनी भूल स्वीकार कर उक्त विधेयक को वापस कर लेना चाहिए और यह घोषित करना चाहिए कि सन् १९६५ तक वह प्रशासन का सब काम हिन्दी में करने की व्यवस्था कर लेगी। सभा का मत है कि यदि ऐसा न हुआ, तो सरकार की इस भाषा विषयक दुर्नीति का विरोध अनिवार्यतः उग्रतर होता जायगा, जिसका परिणाम समाज के लिए और अन्ततः स्वयं सरकार के लिए सर्वथा हानिकर होगा।"

श्री राव ने अपने वक्तव्य में कहा कि विधान सभा ने सन् १९६५ से समस्त कार्य केवल हिन्दी में करने का जो निर्णय किया था, उसमें अब संशोधन किये जाने से ही यह सिद्ध हो जाता है

कि मुख्यमंत्री का यह आश्वासन व्यर्थ है कि वर्तमान राजभाषा विधेयक का प्रयोग सीमित क्षेत्र में ही होगा।

आपने दुख प्रकट करते हुए कहा कि गांधीजीने कहा था कि 'अंग्रेजी भले ही रहे, अंग्रेजियत चली जाय' किन्तु उनके (गांधीजी के) अनुयायियों ने इसे उलट दिया।

दूसरा प्रस्ताव—

अध्यक्षीय प्रस्ताव के वाद श्री रामेश्वर मेहरोत्रा ने एक प्रस्ताव लिखकर भेजा। जिसका प्रारूप नीचे दिया जा रहा है। इस प्रस्ताव का समर्थन श्री ओंकार शरद और श्री रणदिवे ने किया। प्रस्ताव में इस बात की माँग की गई थी कि विधेयक के विरोध में हिन्दी-साहित्यकारों को सरकारी समितियों आदि से त्यागपत्र दे देना चाहिए।

"आज की यह सभा उत्तर प्रदेशीय सरकार के भाषा विषयक विधेयक वापस न लेने पर विभिन्न सरकारी समितियों में सदस्य रूप में कार्य करने वाले साहित्यकारों और राष्ट्रभाषा प्रेमियों से आग्रह करती है कि वे अपने पद त्याग दें और सरकार द्वारा बलात् अंग्रेजी लादने के कार्यक्रमों से पूरी तरह असहयोग करें।

डा० जगदीश गुप्त ने अपने भाषण में कहा—"कहा जाता है कि यह विधेयक सीमित उद्देश्य के लिए लाया गया है, किन्तु सरकार की गतिविधि को देखते हुए पूरी आशंका है कि आगे और भी अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ाया जायगा।

आपने कहा—आज का दिन इस बात के संकल्प का दिन होना चाहिए कि हिन्दी के प्रश्न पर अब कोई समझौता नहीं होगा।

दैनिक 'भारत' के प्रधान सम्पादक श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव ने भाषा विधेयक की तीव्र आलोचना करते हुए कहा—प्रतिपक्ष के दृढ़ विरोध के बावजूद जिस ढंग से व जिस शीघ्रता से यह विधेयक पारित किया गया है, उससे ही सरकार के मन का यह चोर प्रकट होता है कि उसे जनता के घोर विरोध का भय था।

आपने कहा—संविधान में सरकार पर यह दायित्व सौंपा गया है कि वह हिन्दी का प्रचार, प्रसार व विकास करे, किन्तु सरकार ने अपने दायित्व का निर्वाह सचाई से नहीं किया, और जनता की भावनाओं का तनिक भी ध्यान नहीं रखा। लोकतन्त्र को सफल बनाने का यह लक्षण नहीं कि जनभावना का इस प्रकार दमन हो।

आपने कहा सरकार की मन्दगति को देखते हुए स्पष्ट है कि आन्दोलन किये बिना अंग्रेजी अनन्तकाल तक चलती रहेगी। आपने जनता से अपील की कि वह इस विधेयक के विरोध में जोरदार आवाज उठाये और सरकार को इसे वापस लेने के लिए विवश कर दे।

श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने विधेयक की आलोचना करते हुए कहा कि १९६५ के बाद हिन्दी की जो स्थिति होगी, यह विधेयक उसकी भूमिका है। आपने कहा—टण्डनजी को पहले ही हिन्दी की ऐसी दशा की आशंका थी, जिसके कारण वह १५ वर्ष की अवधि देने को तैयार नहीं थे। उनकी आशंका आज सत्य सिद्ध हो रही है।

डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने कहा—यह विधेयक इस बात का द्योतक है कि सरकार को जनता का भय नहीं रह गया है।

——डा० रघुवंश ने कहा——भाषा की समस्या भोजन, वस्त्र आदि की समस्याओं से कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमें इस विधेयक के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना चाहिए।

——श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने ओजस्वी भाषण में कहा——जो विधेयक घसीट कर सदन से निकाले गये हैं, इतिहास में वे महान् स्वीकार किये जावेंगे; क्योंकि उन्होंने राष्ट्रभाषा की रक्षा के लिए ऐसा किया।

——श्री श्रीकृष्णदास ने हर्ष प्रकट किया कि समस्त प्रतिपक्षी दलों ने आपसी भेदभाव भुलाकर हिन्दी की रक्षा के लिए एक साथ मिलकर आवाज उठाई।

——सभा में भाषण देते हुए श्रीमती रानी टण्डन ने कहा कि हिन्दी के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पाठ्यपुस्तकों का लेखन और संपादन किया जाय। उन्होंने विधेयक के विषय में बताया कि वह सीमित कार्य के लिए ही होगा।

——कांग्रेसी संसद सदस्य श्री महावीरप्रसाद शुक्ल ने सुझाव दिया कि इस विधेयक को राज्य विधान परिषद् में प्रस्तुत करके दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति को सौंप दिया जाये, समिति द्वारा विचार किये जाने के बाद विधेयक पुनः दोनों सदनों में विचारार्थ आ सकता है।

इस सभा में उपस्थित लोगों ने सामूहिक रूप से यह मांग की कि हिन्दी की एक संघर्ष समिति का निर्माण किया जाय, और विधेयक को रद्द कराने के लिए एक विस्तृत आन्दोलन का सूत्रपात किया जाय। अध्यक्ष महोदय ने आश्वासन दिया कि इस सार्वजनिक मांग पर विचार करने के लिए शीघ्र ही एक गोष्ठी बुलायी जायगी और तब इस पर विस्तार से निर्णय लिया जायगा। तत्पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

२२ अगस्त १९६४ को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय भवन में उत्तर प्रदेश भाषा-विधेयक १९६४ का विरोध करने के लिए हुई सभा में व्यक्त विचारों का आदर करते हुए श्री बालकृष्ण राव ने प्रस्ताविक संघर्ष समिति के संघटन के लिए २८ अगस्त १९६४ को सयंकाल ५ बजे सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में एक सभा बुलाई। उस सभा में हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक, पत्रकार, विचारक एवं अध्यापक सभी सम्मिलित हुए। उपस्थित सज्जनों के नाम इस प्रकार हैं:——

श्री शंकरदयाल, श्रीवास्तव, श्रीवाचस्पति पाठक, श्री नरेश मेहता, डा० जगदीश गुप्त, श्री अमृतराय, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री रामगोपाल सण्ड, श्री गोपीकृष्ण गोपेश, श्री ओंकार शरद, श्री हरिमोहन मालवीय, श्री कुलदीप कपूर, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, श्री रजनीकांत वर्मा, श्री प्रभात मिश्र, श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, श्रीमती उमाराव, श्री उमाशंकर पत्रकार, श्री विष्णुकांत मालवीय, श्रीरामाकान्त तिवारी, श्री रामप्रताप त्रिपाठी, श्री श्रीकृष्ण दास, श्री विद्याभास्कर, श्री ज्योतिप्रसाद निर्मल, श्री सत्यव्रत सिन्हा आदि बैठक की कार्यवाही श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में आरम्भ हुई। निश्चय हुआ कि——(१) उत्तर प्रदेश विधान-सभा में पारित हिन्दी-विरोधी भाषा-विधेयक के विरोध में ८ सितम्बर से १४ सितम्बर तक सभाओं का आयोजन किया जाय और पूरे सप्ताह को हिन्दी सप्ताह के रूप में मनाया जाय।

(२) सभा ने इस आंदोलन को संचालित करने के लिए ३ समितियों का संघटन किया और यह निश्चय किया कि सातों दिन स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ की जायँ। आन्दोलन

को सक्रिय रूप देने के लिए बैठक ने यह निर्णय किया कि एक बुलेटिन का प्रकाशन किया जाय, जो हिन्दी की प्रगति में सहायता दे और आंदोलन को प्रचारित करे।

(३) विधेयक के रूप में मुख्यमंत्री को जनमत से अवगत कराने के लिए ११ आदमियों का एक शिष्ट मंडल चुना जाय और यह निश्चय किया गया कि यह शिष्ट मण्डल लखनऊ भेजा जाय।

(४) निश्चय किया गया कि विधेयक-विरोधी आंदोलन को प्रान्तव्यापी बनाने के लिए उचित व्यवस्था की जाय।

प्रस्तुत बैठक में जिन समितियों का संघटन किया गया वे इस प्रकार हैं:—

(१) प्रचार समिति—इस समिति के निम्नलिखित सदस्य चुने गये और इन सदस्यों में से श्री विद्याभास्कर को समिति के संयोजन का कार्यभार दिया गया। सदस्य ये हैं—

(१) सर्वश्री शंकरदयालु श्रीवास्तव, श्रीकृष्णदास, रमाकान्त तिवारी, हरिमोहन मालवीय, अमृतराय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्री विद्याभास्कर, संयोजक।

(२) जनसम्पर्क समिति—जनसम्पर्क समिति के सदस्य—सर्वश्री (१) श्रीकृष्णदास, (२) हरिमोहनदास टण्डन, (३) श्री जगदीश गुप्त, (४) श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, (५) मुरली-मनोहर जोशी, (६) श्री रामगोपाल सण्ड, (७) श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' (८) श्री नर्म-देश्वर चतुर्वेदी, (९) श्रीमती उमा राव, (१०) श्री सुनीत व्यास, (११) श्री सुरेन्द्र नाथ मित्तल, (१२) श्री मेहदी इलाहाबादी, (१३) श्री सरदार बलवन्त सिंह, (१४) श्री महमूद अहमद हुनर, (१५) श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय (संयोजक)।

३. जुलूस तथा सार्वजनिक सभा समिति—

निर्णय किया गया कि १४ सितम्बर को एक लम्बा जुलूस हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नगर के प्रमुख मार्गों से होता हुआ पुरुषोत्तमदास पार्क में जाय और वहाँ एक सार्वजनिक सभा की जाय, जिसमें विधेयक के विरोध में और हिन्दी के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए बृहत रूप से जन-सम्पर्क स्थापित किया जाय। इस समिति के संयोजक श्री बालकृष्ण राव चुने गये।

सार्वजनिक सभा के सदस्य—

(१) श्रीमती महादेवी वर्मा, (२) श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, (३) श्री कल्याण-चन्द मोहिले, (४) श्री रामगोपाल सण्ड, (५) श्रीमती राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी, (६) श्री गोपीकृष्ण गोपेश (७) श्री ओंकार शरद, (८) श्री लक्ष्मी भूषण वाष्णय, (९) श्री रजनी कान्त वर्मा, (१०) श्री श्रीकृष्णदास, (११) श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, (राजा मुनुआ), (१२) श्री अनन्तनारायण मालवीय, (१३) श्री बालकृष्ण राव संयोजक,

इन तीन समितियों के अतिरिक्त इस दिन की बैठक में एक शिष्ट मंडल की नामावली प्रकाशित की गई। श्री बालकृष्ण राव को शिष्ट मण्डल के संयोजन का भार सौंपा गया।

शिष्ट मण्डल के प्रस्तावित सदस्यों के नाम:—

(१) श्रीमती महादेवी वर्मा, (२) श्री रामगोपाल सण्ड, (३) श्री रजनीकान्त वर्मा, (४) श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, (५) श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन (राजा मुनुआ), (६) श्री विद्याभास्कर, (७) श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव, (८) श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, (९) श्री वाचस्पति पाठक, (१०) श्री श्रीकृष्णदास, (११) श्री बालकृष्ण राव (संयोजक)

दिनांक २९ अगस्त १९६४ को सायंकाल ५ बजे सम्मेलन के विशेष कार्याधिकारी श्री विद्याभास्कर के सम्मेलन कार्यालय में प्रचार-समिति की प्रथम बैठक हुई, जिसमें श्री हरिमोहन मालवीय, श्री श्रीकृष्णदास, श्रीशंकरदयालु श्रीवास्तव, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा उपस्थित थे। श्री बालकृष्ण राव और श्रीमती उमाराव ने प्रचार-समिति की इस बैठक में विशेष आमंत्रण पर भाग लिया।

प्रचार-समिति का कार्यक्रम

(१) सदस्यों का आमेलन :—

संयोजक श्री विद्याभास्करजी ने २८-८-६४ की बैठक में निर्धारित प्रचार-समिति के सदस्यों में ७ व्यक्तियों के नाम को आमेलित करने का प्रस्ताव रखा। उनका प्रस्ताव स्वीकार किया गया और तदनुसार श्री रामप्रताप त्रिपाठी, डा० रघुवंश, श्री बद्रीनाथ तिवारी, श्री कुलदीप कपूर, श्री राधेश्याम एडवोकेट, श्री उमाशंकर पत्रकार तथा श्री विष्णुकांत मालवीय को आमेलित किया गया।

(२) निर्धारित कार्यक्रम पर विचार—

समिति ने निश्चय किया कि विधेयक विरोधी आन्दोलन को उत्तरप्रदेश व्यापी बनाने के लिए जिलों में प्रचारक भेजने का और संघर्ष समिति के कार्यक्रमों को कार्यान्वित कराने के लिए सक्रिय प्रवर्तकों को संघटित करने के लिए निम्नलिखित व्यक्तियों को भेजा जाय :—

(१) श्री बालकृष्ण राव—आगरा, मथुरा

(२) श्री ओंकार शरद्—सुलतानपुर, मिर्जापुर

(३) श्री श्रीकृष्णदास—प्रतापगढ़, जौनपुर

(४) श्री हरिमोहन मालवीय—आजमगढ़

तत्पश्चात् निश्चय किया गया कि—

(एक) विधेयक विरोधी पोस्टर बनवाए जायँ, और उनको प्रत्येक नगर में भेजकर जगह-जगह विधेयक-विरोध को बढ़ाया जाय।

(दो) गणमान्य नागरिकों के हस्ताक्षर से वक्तव्यों को छपवाकर बटवाया जाय।

(तीन) हस्ताक्षर आंदोलन चलाने के लिए बड़ी संख्या में जनवर्ग के हस्ताक्षर एकत्र किए जायँ और उनको सरकार को प्रेषित किया जाय।

(चार) जिला में भेजने के लिए वक्तव्यों को प्रकाशित किया जाय।

(पाँच) मुख्यमंत्री को देने के लिए ज्ञापन पत्र प्रकाशित किया जाय।

(३) निश्चय किया गया कि संघर्ष समिति द्वारा संयोजित आन्दोलन के लिए एक विवरणिका (बुलेटिन) निकालने की शीघ्रातिशीघ्र तैयारी की जाय। लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस अवसर पर बुलेटिन का एक प्रारूप प्रस्तुत किया। जिसे स्वीकार किया गया। समिति ने निर्णय लिया कि इस विवरणिका के सम्पादन का कार्यभार भी श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा और श्री श्रीकृष्णदास सम्पादक के रूप में ग्रहण करें।

(४) प्रचार प्रसार—(१) समिति ने निर्णय लिया कि समाचार-पत्रों के लिए समय-समय पर प्रकाशनार्थ सामग्री भेजने का दायित्व प्रचार समिति का होगा।

(दो) श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव के सुझाव पर समिति ने निश्चय किया कि प्रत्येक दैनिक पत्र से हिन्दी सप्ताह के लिए और विधेयक के विरोध के लिए कालम का स्थान पूरे सप्ताह भर के लिए माँग लिया जय।

(तीन) प्रचार-समिति ने अवसर पर एक ऐसी पुस्तिका को प्रकाशित करने का संकल्प लिया, जिसमें हिन्दी-समर्थकों के सुभाषित छापे जायँ और उनका वितरण किया जाय।

(चार) पोस्टर और पुस्तिका के निर्माण और सम्पादन के लिए श्री हरिमोहन मालवीय से आगामी बैठक में सुझाव रखने का कार्य सौंपा गया। तत्पश्चात् इस निश्चय के साथ गोष्ठी समाप्त हुई कि सम्पूर्ण योजना पर विचारार्थ प्रचार समिति पुनः १ सितम्बर को सम्मेलन के कार्यालय में अपराह्न २ बजे मिले। २९-८-६४ को सायंकाल ६ बजे सम्मेलन-भवन (सत्यनारायण कुटीर) में श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में जनसम्पर्क समिति की प्रथम बैठक हुई। उपस्थित सदस्यों में श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, श्रीमती उमाराव, श्री सुरेन्द्रनाथ मित्तल, श्री श्रीकृष्णदास तथा विशेष आमंत्रण पर श्री बालकृष्ण राव, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा एवं श्री विद्याभास्करजी उपस्थित थे।

निर्णय

समिति ने पहला निर्णय यह लिया कि उसने पूरे नगर को १० क्षेत्रों में विभाजित किया और उन १० क्षेत्रों में भाषा विधेयक-विरोधी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए उनके संयोजक चुने—

१. आर्य समाज चौक—	श्री मंत्री, आर्य समाज
२. कल्याणीदेवी —	श्री रामगोपाल सण्ड
३. भारती भवन —	श्री सुनीत व्यास
४. अग्रवाल कालेज —	श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
५. एनीवेसेण्ट हाल —	श्रीमती उमाराव
६. सिविल लाइन्स —	श्री उपेन्द्रनाथ अश्क
७. नया कटरा —	श्री विद्याभास्कर
८. बहादुरगंज —	श्री रामचन्द्र वैश्य
९. कीडगंज —	श्री रामप्रताप त्रिपाठी
१०. दारागंज —	श्री डा० जगदीश गुप्त

श्रीमती उमाराव ने यह सुझाव दिया कि इन गोष्ठियों में बौद्धिक वर्ग एवं अदालतों से सम्बन्धित वकीलों और जजों तथा शिक्षा से संबंधित प्राध्यापकों, विज्ञान से सम्बन्धित प्रोफेसरों, डाक्टरों तथा इंजिनियरों को भी बुलाने का प्रयास करना चाहिए। उन्होंने कहा—आज देश में ऐसा वातावरण तैयार हो गया है कि इन समस्त वर्गों में से हिन्दी के कट्टर समर्थक आसानी से बुलाये जा सकते हैं।

इस प्रस्ताव पर बोलते हुए श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ने कहा कि सरकारी कर्मचारी होने के नाते इन वर्गों के लोगों को भाग लेने में आपत्ति होगी, किन्तु समिति ने निर्णय किया कि उनसे सम्पर्क स्थापित किया जाय।

समिति ने यह भी निर्णय किया कि प्रत्येक क्षेत्रीय गोष्ठी के आयोजन के लिए संघर्ष समिति २५) व्यय के लिए देगी।

तत्पश्चात्, ३१-८-६४ को जन सम्पर्क समिति की दूसरी गोष्ठी के लिए तिथि निश्चित की गई और सभा विसर्जित की गई।

सार्वजनिक सभा समिति

३१-८-६४ सार्वजनिक सभा समिति की प्रथम बैठक श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में सम्मेलन-भवन (सत्यनारायण कुटीर) में सायंकाल ५ बजे हुई। जिसमें श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, श्री कल्याणचन्द्र मोहिले, श्री रामगोपाल सण्ड, श्री ओंकार शरद, श्री बालकृष्ण राव, श्री रजनीकांत वर्मा, श्री गोपीकृष्ण गोपेश, श्री श्रीकृष्णदास तथा श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा विशेष आमंत्रण पर उपस्थित थे।

निर्णय

(१) निर्णय किया गया कि श्री सेठ गोविन्ददासजी से प्रार्थना की जाय कि १४ सितम्बर १९६४ को वह प्रयाग में आकर हिन्दी सप्ताह के अनुष्ठान को पूर्ण आहुति दें।

(२) निश्चय किया गया कि प्रचार-समिति जिन पोस्टरों को छपाए, उनको जुलूस में ले जाने के लिए उचित व्यवस्था की जाय।

(३) निश्चय किया गया कि उस दिन हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों, विचारकों एवं भाषासेवियों को विशेष रूप से सार्वजनिक सभा में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया जाय।

(४) जुलूस एवं सार्वजनिक सभा को सफल बनाने के लिए यह निश्चय किया गया कि हिन्दी संघर्ष समिति की ओर से स्थानीय स्कूलों, कालेजों में एक पत्र भेजा जाय और अधिकारियों से प्रार्थना की जाय कि १४ सितम्बर को भाषा विधेयक के विरुद्ध आक्रोश प्रदर्शन के लिए स्कूलों-कालेजों को आधे दिन के लिए बन्द कर दें।

(५) सार्वजनिक सभा समिति की इस बैठक में यह प्रस्ताव रखा गया कि प्रचार-समिति ऐसे नारों का संकलन करे, जो आक्रोश व्यक्त करने के लिए जुलूस में लगाये जा सकें।

(६) यह भी निर्णय किया गया कि सार्वजनिक सभा में विधेयक के विरोध के साथ साथ हिन्दी के काम को आगे बढ़ाने के लिए एक सामूहिक प्रतिज्ञा ली जाय। सार्वजनिक सभा समिति ने ऐसी प्रतिज्ञा बनाने का निश्चय किया।

तत्पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

जन-सम्पर्क समिति

जन-सम्पर्क समिति की द्वितीय बैठक श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में दिनांक

३१-८-६४ को सायंकाल ६ बजे सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में हुई। जिसमें श्री रामगोपाल सण्ड, श्री बलवन्त सिंह, श्री सुरेन्द्रनाथ मित्तल, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, श्री सुनीति व्यास, श्री रजनीकान्त वर्मा, श्री अनन्तनारायण मालवीय, श्री गोपीकृष्ण गोपेश, श्री श्रीकृष्णदास, श्री ओंकार शरद् तथा श्री लक्ष्मीकांत वर्मा विशेष आमंत्रण पर उपस्थित थे।

निर्णय

(१) निश्चय हुआ कि प्रत्येक क्षेत्र में जो नोटिस बाँटी जायँ, उनमें उस क्षेत्र के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं के हस्ताक्षर हों।

(२) निर्णय लिया गया कि जन-सम्पर्क समिति द्वारा आयोजित समस्त सभाओं तथा संघर्ष समिति के सदस्य अधिक से अधिक संख्या में उपस्थित हों।

(३) क्षेत्रीय संयोजकों से कहा गया कि वे ३ सितम्बर तक अपने क्षेत्र की कार्य योजना का विवरण सम्पर्क समिति के समक्ष प्रस्तुत कर दें।

(४) निश्चय किया गया कि भाषा विधेयक-विरोधी सप्ताह का पूरा कार्यक्रम ३ सितम्बर ६४ को छपवाकर सम्पर्क समिति को दे दिया जाय।

(५) निश्चय हुआ कि प्रत्येक क्षेत्र में जिस दिन सार्वजनिक सभा का आयोजन किया जाय, उस दिन वहाँ प्रभात फेरियाँ भी निकाली जायँ।

तत्पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

प्रचार समिति

प्रचार-समिति की तृतीय बैठक श्री विद्याभास्करजी की अध्यक्षता में, सचिव कक्ष में १ सितम्बर १९६४ को अपराह्न २ बजे हुई, जिसमें श्री उमाशंकर, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्री श्रीकृष्णदास, श्री विष्णुकांत मालवीय, श्री कुलदीप कपूर, श्री हरिमोहन मालवीय, श्री रामप्रताप त्रिपाठी तथा श्री बद्रीनाथ तिवारी उपस्थित थे।

(१) श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रस्तावित विवरणिका का संशोधित प्रारूप प्रस्तुत किया और समिति ने निर्णय लिया कि ४ पृष्ठों की यह पत्रिका डबल डिमाई आकार में निकाली जाय। निश्चय किया गया कि इस विवरणिका का मूल्य नहीं रखा जायगा।

(२) निश्चय किया गया कि इस विवरणिका में हिन्दी के संघर्ष में जितने भी प्राचीन लेखकों और विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, संकलित किया जाय।

(३) निश्चय किया गया कि इस विवरणिका में प्रतिदिन हिन्दी संबंधी समस्त आंदोलनों का विवरण दिया जाय।

(४) निश्चय किया गया कि इस विवरणिका में वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन की सूची प्रस्तुत की जाय।

(५) निश्चय किया गया कि इस विवरणिका में भाषा विधेयक संबंधी कार्यक्रम की विज्ञप्तियाँ छापी जायँ और समस्त प्रदेश में विधेयक सम्बन्धी आन्दोलनों की सूचनाएँ समाविष्ट की जाएँ।

(६) श्री लक्ष्मीकांत वर्मा श्री हरिमोहन मालवीय ने भाषा-विधेयक विरोधी पोस्टरों का प्रारूप प्रस्तुत किया। जो प्रचार समिति ने स्वीकार किया।

(७) क्षेत्रीय सभाओं में वितरित होने वाले नोटिसों का प्रारूप श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रस्तुत किया और वह स्वीकार किया गया।

(८) हिन्दी के समर्थकों के सुभाषितों का संकलन श्री हरिमोहन मालवीय ने प्रस्तुत किया और वह स्वीकार हुआ।

(९) प्रतिज्ञा-पत्र का प्रारूप स्वीकार किया गया।

(१०) हस्ताक्षर संग्रह करने के लिए पत्रक का आलेख स्वीकार किया गया।

(११) श्री विद्याभास्करजी ने विभिन्न जिलों और जनपदों को भेजे जाने वाले प्रपत्र का आलेख प्रस्तुत किया, जिसे समिति ने प्रकाशनार्थ स्वीकार किया।

(१२) श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव के सुझाव पर यह स्वीकार किया गया कि प्रचार समिति भाषा सम्बन्धी लेखों को प्रकाशनार्थ भेजे।

तत्पश्चात् सभा विसर्जित हुई।

जनसम्पर्क समिति

जन सम्पर्क समिति—की तृतीय बैठक श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में दिनांक ३ सितम्बर ६४ को सायंकाल ८ बजे सत्यनारायण कुटीर में हुई। जिसमें श्री बलवन्त-सिंह, श्री सुनीत व्यास, श्री मुरलीमनोहर जोशी, श्री सुरेन्द्रनाथ मित्तल, श्री हरिमोहनदास टण्डन आदि उपस्थित थे।

उपस्थित क्षेत्रीय संयोजकों ने अपने-अपने क्षेत्रों का कार्य-विवरण मौखिक रूप से बताया और उस पर विचार विमर्श किया गया। सप्ताह की योजना को देखते हुए यह निर्णय लिया गया कि पूरे सप्ताह भर केवल ८ गोष्ठियों का संयोजन किया जाय। तदनुसार कल्याणी देवी, भारती भवन, दारागंज, अग्रवाल विद्यालय, सिविल लाइन्स और एनीबेसेण्ट हाल की गोष्ठियों को कार्य-क्रम के अन्तर्गत स्वीकार किया गया।

इसी बैठक में यह भी निर्णय किया गया कि पूरे सप्ताह भर जन सम्पर्क बढ़ाने के लिए क्षेत्रों के संयोजक अपने-अपने क्षेत्र में छोटी-छोटी गोष्ठियों का भी आयोजन करें।

शिष्ट मण्डल

दिनांक २९-८-६४ को शिष्ट मण्डल के संयोजक श्री बालकृष्ण राव ने प्रदेश की मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी को एक पत्र संघर्ष समिति की ओर से प्रेषित किया। इसमें उन्होंने मुख्य-मंत्री से ७ सितम्बर के पहले कोई तिथि स्थान और समय निश्चित करने के लिए आग्रह किया, ताकि उक्त समय और तिथि पर शिष्ट मण्डल के सदस्य मुख्यमंत्री से मिलकर अंग्रेजी विधेयक, विरोधी समिति के संकल्पों से उन्हें शिष्ट मण्डल अवगत करा सके। उसी तिथि को पत्र से पूर्व श्री राव ने मुख्यमंत्री को इस आशय का एक तार भी भेजा—'भाषा विषयक विधेयक विरोधी

समिति का शिष्ट मण्डल आप से मिलना चाहता है, कृपया सूचित करें। सितम्बर ७ से पहले कब, कहाँ मिलें।'

दिनांक २-९-६४ को मुख्यमंत्री ने श्री राव को सूचित किया कि शिष्ट मण्डल उनसे ४-९-६४ को अपराह्न ३ बजे मिल सकता है। तदनुसार शिष्ट मण्डल ३-९-६४ को रात्रि १०॥ बजे लखनऊ गया। चूँकि सारी बात बहुत जल्दी में तय हुई, इसलिए ३-९-६४ को केवल ७ व्यक्ति ही शिष्टमण्डल में जा सके। जिनके नाम निम्नलिखित हैं:—

१. श्री बालकृष्ण राव २. श्री विद्याभास्कर ३. डा० जगदीश गुप्त ४. श्री श्रीकृष्ण दास ५. श्री रजनीकात वर्मा ६. श्री रामगोपाल सण्ड ७. श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन (राजा मुनुआ) पूर्व निश्चय के अनुसार ५-९-६४ को सायंकाल ७ बजे सत्यनारायण कुटीर में प्रचार, जनसम्पर्क, एवं सार्वजनिक सभा उपसमितियों की संयुक्त बैठक श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में हुई।

लखनऊ से लौटकर आए हुये शिष्ट मण्डल के सदस्य श्री कृष्णदास ने मुख्यमंत्री से मिलकर शिष्टमंडल से जो वार्तालाप हुआ, उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। श्री श्रीकृष्ण-दास ने बताया कि मुख्यमंत्री ने अपने वक्तव्य में यह तो स्वीकार किया कि वह भाषा विधेयक को वापस लेने का मार्ग ढूँढ रही है, किन्तु उसके साथ-साथ उन्होंने शिष्ट मण्डल से यह भी कहा कि हिन्दी में उपलब्ध साहित्य न होने के कारण केवल सुविधा के लिए भाषा विधेयक प्रस्तुत किया है। श्रीमती सुचेता कृपलानी ने यह स्वीकार किया कि हिन्दी संघर्ष समिति द्वारा प्रस्तावित आंदो-लन का ज्ञान उन्हें है, लेकिन उन्होंने शिष्ट मंडल और हिन्दी संघर्ष समिति पर यह आरोप लगाया कि जो भी आंदोलन भाषा विधेयक को लेकर चलाया जा रहा है, उसमें भावुकता अधिक है तथा विवेक संगतियाँ कम हैं। शिष्ट मण्डल की अन्य सूचनाएँ उस दिन इसलिए उपलब्ध नहीं हो सकीं क्योंकि शिष्टमण्डल के संयोजक श्री बालकृष्ण राव हिन्दी संघर्ष समिति की ओर से लखनऊ के साहित्यकारों एवं भाषा विधेयक आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले हिन्दी प्रेमियों से मिल-कर आन्दोलन को लोकव्यापक रूप देने की बात करना चाहते थे। श्री श्रीकृष्णदास के संक्षिप्त वक्तव्य के बाद संघर्ष समिति के सदस्यों ने यह निश्चय किया कि समिति की बैठक ६-९-६४ को सायंकाल ७॥ बजे बुलाई जाय। उस समय तक लखनऊ से श्री बालकृष्ण राव भी आ जायेंगे तब सम्पूर्ण विवरण के प्राप्त हो जाने के बाद आगामी कार्यक्रम का रूप निश्चित किया जायगा। इस निश्चय के बाद बैठक समाप्त की गई।

६-९-६४ को सभी समितियों की संयुक्त बैठक ७॥ बजे सत्यनारायण कुटीर में श्री बाल-कृष्ण राव की अध्यक्षता में हुई। इस बैठक में निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे——

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, श्री कल्याणचन्द्र मोहिले, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्री उमाशंकर, श्री विद्याभास्कर, श्री रमाकान्त तिवारी, श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव, श्री विष्णुकांत मालवीय, डा० जगदीश गुप्त, श्री कुलदीप कपूर, श्री बलवन्तसिंह, श्री रामगोपाल सण्ड, श्री गोपीकृष्ण गोपेश, श्री सुनीत व्यास, श्री श्रीकृष्णदास, श्री कमलेश दत्त त्रिपाठी, श्री रजनीकान्त वर्मा एवं श्रीमती उमाराव।

दिनांक ६-९-६४ को प्रातःकाल उत्तर प्रदेश सरकार के विज्ञप्ति द्वारा समिति के सदस्यों

को यह ज्ञात हो गया था कि भाषा विधेयक को रद्द करने का निश्चय किया जा चुका है। श्री राव ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में शिष्ट मंडल के लखनऊ यात्रा और मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी के भेंट का विवरण प्रस्तुत किया।

श्री राव साहब ने बताया कि यद्यपि हम यह घोषित नहीं कर सकते कि प्रस्तुत विधेयक केवल हिन्दी संघर्ष समिति के सक्रिय प्रयासों का परिणाम है, फिर भी यह सत्य है कि सरकार के मन में दुविधा और भय उत्पन्न कराने में संघर्ष समिति ने उचित योग दिया। श्री राव ने कहा, कि हिन्दी आंदोलन के प्रारम्भ में इस छोटी सी सफलता को श्रेयस्कर मानकर यदि हिन्दी का आन्दोलन चलाने में ढिलाई की गई, तो २६ जनवरी १९६५ तक सरकारी कामकाज से अंग्रेजी निष्कासित करने के संकल्प में शिथिलता आ जायगी। श्री राव ने विधान सभा में दिये गए मुख्य-मंत्री के वक्तव्य का हवाला देते हुए कहा कि मुख्यमंत्री का वक्तव्य पूर्णतया इस बात की घोषणा नहीं करता कि भाषा विधेयक को सदा के लिए सरकार ने वापस ले लिया, उन्होंने कहा कि सम्भव है कि हिन्दी सप्ताह के समाप्त होने के पश्चात् सरकार पुनः उसे किसी अन्य रूप में प्रस्तुत करने का दुःसाहस करे। ऐसी अवस्था में उन्होंने संघर्ष समिति द्वारा चलाये गये आन्दोलन को जारी रखने की सलाह दी।

श्री राव के इस प्रस्ताव पर संघर्ष समिति के सभी सदस्य सहमत थे। विधेयक रद्द हो जाने के बाद समिति ने यह निश्चच किया कि ८ सितम्बर से १४ सितम्बर तक भाषा विधेयक सम्बन्धी आन्दोलन के स्थान पर अब हिन्दी सप्ताह मनाया जायगा।

संघर्ष समिति ने यह भी निश्चय किया कि हिन्दी-आंदोलन सम्बन्धी जितनी योजनाएँ बनाई गई हैं, वह यथावत् रहेंगी। अब विधेयक विरोध के स्थान पर हिन्दी को कामकाज एवं राजकाज में प्रतिष्ठित कराने का आन्दोलन चलाया जायगा।

समिति ने निश्चच किया कि दिनांक ८-९-६४ को सम्मेलन के संग्रहालय भवन में एक बड़ी गोष्ठी से सप्ताह का सभारम्भ किया जाय।

समिति ने निश्चय किया कि अब 'हिन्दी समाचार' नामक विवरणिका (बुलेटिन) के स्थान पर एक डेढ़ सौ पृष्ठों की पत्रिका निकाली जाय, जो हिन्दी के गणमान्य लेखकों, चिन्तकों, विचारकों द्वारा समय-समय पर लिखित एवं प्रकाशित वक्तव्यों, लेखों और निबन्धों का संकलन हो।

निश्चय किया गया कि इस हिन्दी सप्ताह में जन-सम्पर्क और प्रचार का कार्य यथावत् चलाया जायगा। दूकानदारों, व्यवसायियों एवं सरकारी अदालतों द्वारा शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी को स्वीकार करने की बात और तेजी के साथ चलायी जायगी।

समिति ने यह भी निर्णय लिया कि आगामी आन्दोलन में अब हम रचनात्मक पद्धति द्वारा हिन्दी को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया जायगा।

इस नयी स्थिति के पैदा हो जाने से संघर्ष समिति ने निम्नलिखित विषयों पर विचार विमर्श किया—

(१) हिन्दी कैसे कार्यालयों में आ सकती है?

(२) श्रीमती उमाराव ने कहा कि हमें इस आन्दोलन को अहिन्दी प्रान्तों में भी चलाना चाहिए। श्री शंकरदयालुजी ने कहा कि भाषा-विधेयक के रूप में जो भी संगठन का कार्य हमने किया है, उसके द्वारा हमें अपनी योजना को और दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाना चाहिए।

(३) अंग्रजी को अनिवार्य रूप में पढ़ाए जाने वाली प्रकृति के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया गया।

(४) निश्चय किया गया कि विधेयक वापस लेने पर प्रदेश की मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपलानी को एक बधाई का पत्र तथा तार दिया जाय। इस प्रस्ताव पर श्री रजनीकान्त वर्मा ने कहा कि प्रांतों में तो हमारी विजय हुई है; किन्तु दिल्ली के लिए भी हमें प्रयत्न करना चाहिए। हमें ऐसा आन्दोलन करना चाहिए, जिससे वे भी अंग्रेजी को घटाएँ और हिन्दी में काम चलाएँ। उन्होंने कहा सरकार को बधाई तो दी ही जायगी; किन्तु उससे पहले प्रदेश की जनता को बधाई दी जानी चाहिए, जिससे कि उनके जैसे अन्य व्यक्तियों को हिन्दी-आन्दोलन से सहायता मिल सके।

श्री रमाकांतजी ने कहा कि हिन्दी संघर्ष समिति को अब छोटी-छोटी सभाओं का आयोजन करना चाहिए।

(५) निश्चय किया गया कि हिन्दी सप्ताह के साथ-साथ हस्ताक्षर संग्रह, शिक्षा संस्थाओं से सम्पर्क आदि का काम अब और तीव्र गति से होना चाहिए।

हिन्दी संघर्ष समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव द्वारा श्रीमती सुचेता कृपलानी को बधाई का तार एवं पत्र भेजने का निश्चय किया। अन्त में क्षेत्रीय गोष्ठियों एवं ८-९-६४ को सम्मेलन के संग्रहालय में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गयी। उसी जनसभा में हिन्दी-दिवस के दिन अर्थात् १४ सितम्बर १९६४ को एक विराट् सभा के आयोजन की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। इसके पश्चात् उक्त बैठक विसर्जित की गयी।

हिन्दी सप्ताह

पहला दिन [८.९.६४]

सम्मेलन-भवन (हिन्दी संग्रहालय)

दिनांक ८ सितम्बर १९६४ को हिन्दी संग्रहालय में डा० हरदेव बाहरी की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई। डा० हरदेव बाहरी ने हिन्दी सप्ताह का समारम्भ करते हुए कहा——

"हिन्दी की समस्याएँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं और आज तो उसे कई ओर से इनका सामना करना पड़ रहा है। यह समस्याएँ आन्तरिक भी हैं और बाह्य भी। हमें दोनों का सक्रिय रूप से सामना करना है, ताकि हिन्दी सम्पूर्ण भारत में शीघ्रातिशीघ्र लोकप्रिय हो सके।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने कहा कि स्वतंत्रता के समय हिन्दी का जो वातावरण था, वह सरकारी नीतियों के फलस्वरूप ठंडा होता गया। हम शोर मचाएँ तभी सरकार हिलती है। हमने शोर मचाया, तो भाषा विधेयक वापस हुआ। चुप हो गए, तो सरकार कोई शगूफा छोड़ेगी। यदि लगातार शोर मचाते रहे, तो केन्द्र भी हिल उठेगा और वहाँ भी हिन्दी का दमन कार्य रुकेगा।

शंकरदयालु श्रीवास्तव ने भाषा विधेयक की वापसी पर हर्ष प्रकट करते हुए कहा कि यह बड़े खेद की बात है कि हमें हिन्दी भाषी राज्यों में भी हिन्दी की प्रतिष्ठा एवं मान के लिए आन्दोलन करना पड़ता है। उन्होंने कहा कि हिन्दी के पक्ष का आन्दोलन हिन्दी सप्ताह के पश्चात् भी

चलता रहना चाहिए। हिन्दी प्रेमियों की सेवा हिन्दी आन्दोलन संघर्ष के लिए सतत संगठित रहे।

गोष्ठी के अन्य प्रवक्ताओं में श्री मुरलीमनोहर जोशी, रामगोपाल सण्ड, श्री विश्वम्भर-नाथ पाण्डेय, श्री रजनीकान्त वर्मा आदि थे। अन्त में श्री विद्याभास्कर के वक्तव्य और धन्यवाद से गोष्ठी का अन्त हुआ।

दूसरा दिन [९.९.६४]

हिन्दी-सप्ताह के दूसरे दिन की क्षेत्रीय सभा, भारती भवन पुस्तकालय में सायंकाल ७ बजे से श्री बालकृष्ण की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुई।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कहा कि स्वतंत्रता संग्राम में गांधीजी ने हमारे सामने दो अभि-यान प्रस्तुत किये थे—१. अंग्रजी कैसे हटे और २. अंग्रेजियत कैसे हटे। हमारे नेताओं ने इस दूसरे पक्ष की, जिससे देश का मान निर्मित होता है, उपेक्षा की है। फलतः देश की स्वतंत्रता के १५ साल बाद भी अंग्रेजियत नहीं जा सकी, बल्कि और बढ़ रही है।

श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि भाषा-विधेयक वापस हो जाने से हमारा संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता। आपने कहा कि यह संघर्ष उस समय तक चलता रहेगा, जब तक हिन्दी को उसके अपेक्षित स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जायगा। हमें समाज में व्याप्त अंग्रेज़ी विष को तुरत दूर करना है। श्री श्रीकृष्णदास ने कहा कि हम अंग्रेजी द्वारा अपनी भाषा का दमन कदापि सहन नहीं कर सकते। अन्य प्रवक्ताओं में श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, श्री केदारनाथ मालवीय, श्री हरिमोहनदास टण्डन और महेन्द्रकुमार शर्मा थे।

तीसरा दिन [१०.९.६४]

हिन्दी सप्ताह के तीसरे दिन की सभा दारागंज के राधारमण कालेज में श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में हुई। सभा के संयोजक श्री जगदीश गुप्त ने कहा कि हिन्दी का आन्दोलन स्वार्थ का नहीं, बल्कि राष्ट्र के स्वाभिमान का आंदोलन है। अधिक अच्छा होता, यदि सरकार यह दायित्व स्वयं वहन करती। किन्तु हमारे कर्णधार ऐसे आये, जिन्होंने हमारी राष्ट्रभाषा को पीछे ढकेल कर विदेशी भाषा अंग्रेजी को हम पर बलात् लादने की दुश्चेष्टा की है।

श्री विद्याभास्कर ने कहा कि यह हमारे लिए बड़ी लज्जा की बात है कि हमने जहाँ बाहर के लोगों से बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी हैं, वहाँ हमें अपनी भाषा के लिए अपनों से ही लड़ाई लड़नी पड़ रही है। आपने हिन्दी को सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा बताते हुए कहा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का श्रेय हिन्दी इतर भाषी देशों को है। श्री बालकृष्ण राव ने अपने भाषण में कहा कि हम मान भी लें कि अंग्रेजी से मुक्त होकर हमारे समाज में शून्यता फैल जायगी, तो भी उस शून्यता के बाद जो प्राणवायु उसमें समाहित होगी, वह हमारी अपनी होगी। उसमें मौलिकता होगी। सभा के अन्य प्रवक्ताओं में श्री बद्रीनाथ तिवारी, श्री रणदिवे, श्री रामगोपाल संड, श्री प्रेमचन्द्र गोस्वामी, श्रीराम यादव प्रमुख थे। इन व्यक्तियों ने हिन्दी के समर्थन में अपने-अपने विचारों को व्यक्त किया। तत्पश्चात् सभा विसर्जित की गई।

चौथा दिन [११.९.६४]

हिन्दी सप्ताह की चौथी सभा दिनांक ११–९–६४ को श्री वाचस्पति पाठक की अध्यक्षता में नीलाभ प्रकाशन सिविल लाइन में हुई।

श्री बालकृष्ण राव ने अपने भाषण में कहा हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बन पा रहा है और इस वातावरण के न बनने में सरकार का हाथ है। आपने कहा—वातावरण बनाने का काम उतना समाज का नहीं है, जितना सरकार का है। सरकार के पास साधन होते हैं और वह किसी भी चीज के लिए वातावरण बना सकती है। कम से कम अपने हठ से उसने अंग्रेजी के पक्ष में कुछ नहीं से जितना बनाया है, यह उसी का परिणाम है। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दी को लेकर सरकार की नीति गलत है, तो हम अवश्य उसका विरोध करेंगे। उन्होंने बलपूर्वक कहा—यह असंभव है कि अंग्रेजी बलात् शासन की भाषा बनाई जाय और हम चुप-चाप बैठे रहें। देश का बहुसंख्यक वर्ग, जो अंग्रेजी नहीं जानता, जिस दिन भी चाहेगा उस दिन से शासन में भी वही लोग स्थान पा सकेंगे जो देश का शासन राष्ट्रभाषा में ही चलाने में गौरव अनुभव करेंगे।

डाक्टर मुरलीमनोहर जोशी ने अपने वक्तव्य में कहा—अंग्रेजी रहने से देश की किसी भी भाषा की उन्नति या उसका विकास नहीं हो सकता। अंग्रेजी का झगड़ा देश की समस्त भाषाओं से है।

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ने कहा—अंग्रेजी को कायम रखना, अपनी शक्ति को क्षीण करना है। जैसे बालि को यह वरदान था कि वह अपने विरोधी की आधी शक्ति क्षीण कर देता है, वैसा ही अंग्रेजी का भी हाल है।

वक्ताओं में उन महानुभावों के अतिरिक्त श्री गोपीकृष्ण गोपेश, श्री रामचन्द्र वैश्य, श्री श्रीकृष्णदास ने भी भाग लिया।

पाँचवाँ दिन [१२.९.६४]

हिन्दी-सप्ताह के पाँचवें दिन सार्वजनिक सभा का आयोजन अग्रवाल विद्यालय कालेज हाल में श्री विम्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

दूसरी एक विचार गोष्ठी श्री राधाकृष्ण अग्रवाल की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में आयोजित हुई, जिसमें विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के समक्ष भाषा और वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली की समस्या, संभावना और योजना पर विचार करने के लिए श्रीमती उमा राव ने आयोजित की।

अग्रवाल विद्यालय कालेज [१२.९.६४]

अग्रवाल विद्यालय कालेज के हाल में श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ने अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा—आज हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए हमें साहस और धैर्य से काम लेना होगा।

श्री प्रभात शास्त्री ने कहा—अंग्रेजी द्वारा भारतीय विचारधारा और राष्ट्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती।

उपनगर प्रमुख श्री शम्भूनाथ अग्रवाल ने कहा––मैं कल ही से नगर की महापालिका के कार्यों में हिन्दी के अधिकाधिक समावेश का प्रयत्न करूँगा।

श्री रामगोपाल संड ने कहा––यदि सरकार चाहे, तो देश का समस्त प्रशासनिक कार्य एक दिन में हिन्दी के माध्यम से किया जा सकता है।

श्री रजनीकान्त वर्मा ने कहा––भाषा का प्रश्न, रोटी का प्रश्न है। जनता के सामने यह प्रश्न नहीं है कि हिन्दी क्लिष्ट हो या सरल। जनता के सामने वास्तव में यह प्रश्न है कि हिन्दी को जल्दी से जल्दी कैसे लाया जाये।

अन्य वक्ताओं में थे श्री उमाकान्त मालवीय, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, श्री रामचन्द्र वैश्य, श्री सूर्यनारायण मिश्र, श्री श्रीकृष्णदास, एवं श्री ओंकार शरद।

एनीबेसेन्ट हाल [१२.९.६४]

एनिबेसेण्ट हाल में आयोजित विचार गोष्ठी में अध्यक्षीय पद से भाषण देते हुए लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष श्री राधाकृष्ण अग्रवाल ने कहा कि अंग्रेजी का अब अधिक दिनों तक कायम रखना राष्ट्र की प्रतिभाओं के विकास को कुण्ठित करना है। आपने अपने लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के आधार पर कहा कि समझ में नहीं आता, शासन का अंग्रेजी के प्रति इतना मोह क्यों है। आज से सत्रह वर्ष पूर्व जब अंग्रेजी को इतना अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता था, तब उसका स्तर आज से कहीं ज्यादा अच्छा था। आज अंग्रेजी को सरकार पिछले सत्रह वर्षों से प्रोत्साहन दे रही है ; लेकिन फिर भी अंग्रेजी का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है। आपने कहा कि यह इस बात का सूचक है कि जनता के बीच हिन्दी का कोई सम्मान नहीं रह गया है। शासक वर्ग को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक श्री कृष्णजी ने विज्ञान की पढ़ाई और हिन्दी के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी में विज्ञान की पढ़ाई नहीं हो सकती, वह गलती करते हैं। हिन्दी में विज्ञान की पढ़ाई अंग्रेजी से अच्छी हो सकती है। विद्यार्थियों की प्रतिभा को थोड़ा आराम भी मिल सकता है। उसे स्वतंत्र चिन्तन का अवसर मिल सकता है। आपने कहा कि आज के अवसर पर केवल एक धक्का देने की जरूरत है। हिन्दी के सामर्थ्य के प्रति जो लोग सन्देह पैदा करते हैं, वह भ्रम में हैं।

राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक श्री अम्बादत्त ने कहा कि हिन्दी में राजनीति-शास्त्र पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं है। वह तो पढ़ाया ही जाता है। कठिनाई है तो केवल क्लैसिक्स की अनूदित पुस्तकों की। श्री पन्त ने इस बात पर विशेष बल दिया कि संसार के सभी विषयों के क्लैसिक्स का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होना चाहिए।

श्री हरिस्वरूप एडवोकेट ने कानून सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए कहा––कठिनाई तो प्रत्येक काम के करने में आती ही है, लेकिन उसका निराकरण संकल्प शक्ति से किया जा सकता है। आपने वकीलों की कठिनाई का उल्लेख करते हुए कहा––हम हिन्दी में बहस करें भी तो कैसे? जब तक जज हिन्दी में बहस सुनने को न प्रस्तुत हों, तब तक वकीलों को कठिनाई होगी।

श्री रामकुमार अग्रवाल प्राध्यापक मोतीलाल नेहरू इन्जीनियरिंग कालेज ने अपने भाषण में कहा कि इन्जीनियरिंग की पढ़ाई हिन्दी में आसानी से हो सकती है। कुछ कठिनाई पाठ्य पुस्तकों की होगी, किन्तु यदि उचित वातावरण बन जाय, तो पाठ्य पुस्तकों की तैयारी में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

डा० एस० सी० वर्मा प्राध्यापक मेडिकल कालेज ने अपने वक्तव्य में कहा कि भाषा सम्बन्धी कठिनाई सबसे बड़ी यह है कि समस्त उपलब्ध पुस्तकें अंग्रेजी में हैं और उनके हिन्दी रूपान्तर या अनुवाद आदि की कोई व्यवस्था नहीं है, व्यवस्था होना भी कठिन है, क्योंकि उसमें सावधानी की आवश्यकता है।

डा० मुरली मनोहर जोशी ने कहा कि शिक्षा के स्तर पर हिन्दी को तुरत लागू करना चाहिए, क्योंकि बिना उसके अनुसंधान और गम्भीर एवं मौलिक कार्य करने की स्वस्थ परम्परा नहीं बन पाती। विधि और अन्य तकनीकी विषयों में भी हमारा देश उस समय तक प्रगति नहीं कर सकता, जब तक कि हमें मानसिक स्तर की युक्ति नहीं मिलती। इस युक्ति का एकमात्र साधन है हिन्दी का प्रयोग।

श्री बालकृष्ण राव ने कहा—प्रायः यह कहा जाता है कि सहसा अंग्रेजी में शिक्षा समाप्त कर देने से देश की प्रगति रुक जायगी। श्री राव ने कहा कि प्रथम तो ऐसा होता नहीं, लेकिन यदि ऐसा हो भी जाय, तो उससे हानि नहीं होगी, क्योंकि थोड़ा विलम्ब संभलने में लगेगा, उसके बाद गति दूनी-तिगुनी तेज होगी। आपने यह भी कहा कि अंग्रेजी ही क्यों, सभी भाषाएँ जिनमें विशिष्ट साहित्य उपलब्ध हैं, हमारे लिए उपयोगी है। फिर अकेले अंग्रेजी के लिए मोह व्यर्थ है।

अन्त में डा० रघुवंश ने उपस्थित लोगों को और सभा के अध्यक्ष श्री राधाकृष्ण अग्रवाल को धन्यवाद दिया और तब गोष्ठी समाप्त हुई।

छठा दिन [१३.९.६४]

रविवार दिनांक १३-९-६४ को सायंकाल ६॥ बजे कल्याणी देवी पर श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में हिन्दी सप्ताह की छठी सभा आयोजित की गई। अध्यक्षीय पद से भाषण देते हुए श्री बालकृष्ण राव ने कहा—हम सरकार की हिन्दी विरोधी नीति का तब तक विरोध करते रहेंगे, जब तक हिन्दी को उसका उचित स्थान नहीं मिल जाता। किसी राष्ट्र का जीवन एक पीढ़ी का नहीं होगा। हमारी पीढ़ी का धर्म अंग्रेजी का विरोध करना है।

डाक्टर हरदेव बाहरी ने कहा—सरकार का यह दायित्व है कि वह हिन्दी का विकास करे। पूरे संविधान में यह कहीं नहीं है कि सरकार का यह भी दायित्व है कि अंग्रेजी का विकास करे ; किन्तु सरकार ने इसके विपरीत काम किया है। आपने कहा शासन द्वारा हिन्दी की उपेक्षा और अंग्रेजी का समर्थन संविधान के विरुद्ध आचरण है।

श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव ने कहा—केन्द्रीय सरकार ने अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक के लिए जारी रखने का विधेयक पारित करके संविधान के साथ विश्वासघात किया था। ऐसी सरकार को तो राष्ट्रीय कहते हुए भी शर्म मालूम पड़ती है। श्री श्रीवास्तव ने कहा कि यदि

ये हमारे अंग्रेजी भक्त नेता वास्तव में अंग्रेजी के भक्त हैं, तो इन्हें चाहिए कि अगले चुनाव में यह केवल अंग्रेजी की भक्ति के नाम पर ही वोट मांगें। उन्होंने कहा—हमारे वे मंत्री गण जो अब तक हिन्दी में लिखना-पढ़ना नहीं सीख सके हैं, वह हमारे संविधान का घोर अपमान कर रहे हैं।

श्री रामप्रताप त्रिपाठी ने कहा कि अंग्रेजी जड़ से तभी हमारे देश से जायेगी, जब तीसरी कक्षा से अंग्रेजी का अनिवार्यरूप हटाया जायगा।

श्री एम० एन० घोष ने कहा—हिन्दी सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा है। यह एक अकाट्य सत्य है।

इन वक्ताओं के अतिरिक्त सभा में श्री गोपेश, श्री श्रीकृष्णदास, श्री प्रभात शास्त्री, श्री रजनीकान्त वर्मा और श्री हरिमोहन मालवीय के व्याख्यान हुए।

हिन्दी-दिवस : सार्वजनिक सभा [१४.९.६४]

दिनांक १४ सितम्बर १९६४ को सायंकाल ५॥ बजे प्रयाग के पुरुषोत्तमदास टण्डन पार्क में हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार एवं उपन्यासकार श्री अमृतलाल नागर की अध्यक्षता में हिन्दी-सप्ताह की पूर्ण आहुति सम्पन्न हुई। सार्वजनिक सभा में लगभग २००० व्यक्ति उपस्थित थे। श्री विद्याभास्कर ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में हिन्दी सप्ताह के विषय में संघर्ष समिति की कार्यविधि पर प्रकाश डालते हुए श्री अमृतलाल नागर का नाम अध्यक्ष के लिए प्रस्तावित किया। श्री लक्ष्मीकांत ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया। श्री नागर ने अध्यक्षता ग्रहण की। सभा का कार्यक्रम प्रारम्भ करने के पूर्व अध्यक्ष ने हिन्दी के नये चिन्तनशील कवि, लेखक एवम् विचारक श्री गजानन माधव मुक्तिबोध के सहसा अल्पायु में ही दिवंगत होने का शोक-प्रस्ताव रखा। दो मिनट के मौन के बाद श्री बालकृष्ण राव ने पूरे सप्ताह भर के आंदोलन का पर्यवेक्षण किया। हिन्दी संघर्ष समिति के उद्देश्यों और उसके आंदोलन की चर्चा करते हुए आपने कहा—पूरे सप्ताह भर जिस उत्साह और सद्भावना के साथ हिन्दी का आंदोलन चला है उससे हिन्दी के समर्थकों, विचारकों, और लेखकों को बड़ा बल मिला है। आपने संघर्ष समिति के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में जनता की सहायता की माँग की।

सभा के तीन प्रस्ताव पारित किये गये जो इस प्रकार थे:—

प्रस्तावक—रामगोपाल संड, रजनीकांत वर्मा, श्री श्रीकृष्णदास

१. पहले प्रस्ताव में कहा गया है:—

"प्रयाग के नागरिकों, लेखकों और हिन्दी-प्रेमियों की यह सभा हिन्दी के एकनिष्ठ साधक श्री गजानन माधव मुक्तिबोध के असामयिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि उनके संतप्त परिवार को यह आघात सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

प्रस्तावक:—अध्यक्ष श्री अमृतलाल नागर।

२. "आज की सभा उत्तर प्रदेश शासन और उसकी मुख्यमंत्री श्रीमती सुचेता कृपालानी को बधाई देती है कि उन्होंने भाषा-विधेयक के विरोध में उठे जनता के स्वर का समादर करते हुए उस विधेयक को लागू न करने का निश्चय किया है।"

यह सभा विश्वास करती है कि अपनी भविष्य की रीति-नीति में सरकार जन भाषा और जन-भावना का आदर करते हुए २६ जनवरी १९६५ से अपना समस्त प्रशासकीय कार्य राजभाषा हिन्दी में ही करने की व्यवस्था कर लेगी।

प्रस्तावक—श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय।

समर्थक—श्री कल्याणचन्द्र मोहिले।

३. आज की यह सभा उत्तर प्रदेश शासन से माँग करती है कि वह अपने प्रत्येक कार्यालय के समस्त कार्य केवल हिन्दी में करने का आदेश तुरन्त जारी कर दे। यह सभा सरकार को याद दिलाती है कि सन् १९४७ में ही यह निश्चय हो चुका था कि प्रदेश की प्रशासकीय भाषा हिन्दी होगी। उसके प्रतिपालन में सरकार ने जो अब तक ढिलाई दिखाई है, उससे देश की बड़ी हानि हुई है और जनता को उससे घोर असंतोष है; अतः शासन हिन्दी जनमत का आदर करते हुए अविलम्ब अपने कर्तव्य का पालन करे। यह सभा संकल्प करती है कि आंदोलन उस समय तक जारी रखेगी, जब तक शासन संविधान सम्मत मार्ग पर सक्रिय रूप में पूरी तरह नहीं आ जाता।

प्रस्तावकः—श्री रामगोपाल संड, श्री रजनीकांत वर्मा, श्री श्रीकृष्णदास।

४. प्रयाग नागरिकों की यह सभा समस्त हिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी को पूर्णतया राजभाषा के पद पर अविलम्ब प्रतिष्ठित करने के लिए—

सरकार से माँग करती है कि अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा तुरन्त समाप्त कर दी जाय। समस्त प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा केवल हिन्दी के माध्यम से दी जाय।

विद्यालयों से माँग करती है कि दीक्षान्त समारोहों का, प्रशासकीय कार्यालयों का और शिक्षण का माध्यम हिन्दी को ही बनाने की तुरन्त व्यवस्था करे।

उच्च न्यायालयों से माँग करती है कि वे सारा वैधिक कार्य हिन्दी में ही करने की तत्काल व्यवस्था करें।

भारत के प्रत्येक हिन्दी भाषी से यह माँग करती है कि अपना सारा दैनिक कार्य और पत्र-व्यवहार हिन्दी में ही करने का प्रण करे और इस प्रण को दृढ़ता से निभाये।

प्रस्तावकः—डा० हरदेव बाहरी, डा० मुरलीमनोहर जोशी।
डा० राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी।

श्री अमृतलाल नागर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि हम यदि हीनता से ग्रस्त होकर अपने को स्वतंत्र कहते हैं, तो हमारी स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है। ऐसी गुलाम आजादी से गुलामी ही भली। आपने कहा कि गत एक शताब्दी से हिन्दी में अनेक विषयों के ग्रन्थ दूसरी भाषाओं से अनूदित और प्रकाशित होते रहे हैं और हिन्दी भाषा अनेक उपेक्षा के बावजूद अपने को सम्पन्न बनाने में सक्षम रही है। यह हो सकता है कि हिन्दी में अति आधुनिक विषयों पर पुस्तकें न हों; लेकिन यदि सरकार संकल्प कर ले, तो उनके पुस्तकीकरण में विलम्ब नहीं हो सकेगा।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री को और प्रादेशिक विधान सभा को धन्यवाद एवं बधाई का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ने कहा कि सरकार ने यह एक नेक कदम उठाया है।

श्री रामगोपाल संड ने कार्यालयों में हिन्दी चलाने के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए कहा कि यदि स्वतंत्रता के बाद राजस्थान और मध्यप्रदेश में जहाँ अधिकांश रूप में सरकारी कार्यालयों में हिन्दी चलती थी, वहाँ एक दिन में अंग्रेजी चलाई जा सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि आज हम २६ जनवरी १९६५ के बाद अंग्रेजी समाप्त करके हिन्दी में काम न कर सकें।

श्री रजनीकांत वर्मा ने इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि हिन्दी की समस्या जितनी गहरी देश की सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित है, उतना ही गहरा संबंध उसका रोटी और रोजी से है। जो शासन अंग्रेजी चलाकर शासक और शासित के बीच भेद पैदा करके जीवित रहना चाहती है, वह किसी भी रूप में प्रजातांत्रिक नहीं कही जा सकती।

श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव ने कहा कि जो शासन स्वतंत्रता के १७ वर्ष बाद संविधान द्वारा स्वीकृत हिन्दी भाषा को क्षति पहुँचाता है, वह कहीं न कहीं, किसी गरहित कुचक्र में फँसा हुआ है। उससे उसे मुक्त होना चाहिए।

डा० हरदेव बाहरी ने कहा कि विश्व के हर कोने में अलग अलग भाषा का महत्त्व है; किन्तु अंग्रेजी भाषा का नहीं। यह कहना गलत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं यात्रा आदि में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है।

श्री बालकृष्ण राव ने अपने भाषण में कहा कि हिन्दी संघर्ष केवल साहित्यिक व सांस्कृतिक अभियान ही नहीं, राजनीतिक अभियान भी है। राजनीति को दलगत राजनीति की दृष्टि से देखना उसे खण्डित करके देखना है। इस आंदोलन में राजनीतिक दल हमारा साथ छोड़ देंगे, तो भी हमारा आंदोलन चलता रहेगा। जब तक कि हिन्दी को यथोचित स्थान न प्राप्त हो जाय। हम सब हिन्दी की आवाज को इतना बुलन्द करें कि वह सब ओर फैल जाय।

डा० मुरलीमनोहर जोशी ने कहा कि जब तक ऊपर से नीचे तक सारा कार्य हमारी अपनी भाषा में नहीं होगा, तब तक इस प्रदेश व सम्पूर्ण देश की प्रतिभा प्रकट नहीं हो सकेगी। हम ऐसी परिस्थिति पैदा करें कि शासन झुके और हमारी बात माने। हमें अपनी भाषा के माध्यम से भारत माँ की वन्दना करने से कोई नहीं रोक सकता।

श्री श्रीकृष्णदास, श्रीमती राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी, श्री कल्याणचन्द्र मोहिले आदि ने अपने भाषण दिये और अन्त में निम्नलिखित सामूहिक प्रतिज्ञा के साथ सभा विसर्जित हुई।

प्रतिज्ञा

हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक संविधान की धारा ३४८ सच्चे और पूरे अर्थ में लागू न हो जायगी, तब तक हम अपनी शक्ति से हिन्दी के लिए संघर्ष करते रहेंगे और उसे भारत की राजभाषा का पद दिलाकर रहेंगे। हम यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि भारत की किसी भाषा का कोई भी सहज और उचित अधिकार किसी विदेशी भाषा के द्वारा छिनने न देंगे।

इस प्रकार पूरे सप्ताह भर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए इन सभाओं के अतिरिक्त बीस पच्चीस छोटी-छोटी सभाओं का मुहल्लों, स्कूलों और कालेजों में आयोजन हुआ और हिन्दी सप्ताह का कार्यक्रम दिनांक १४-९-६४ की सार्वजनिक सभा के बाद समाप्त हुआ।

हिन्दी संघर्ष समिति की सभी उप-समितियों की संयुक्त बैठक सत्यनारायण कुटीर में

१९-९-६४ को सायं ५।। बजे से श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में हुई। निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे——

श्री उमाशंकरजी, श्री श्रीकृष्णदास, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, श्री हरिमोहन मालवीय, श्री कुलदीप कपूर, श्री रामगोपाल संड, श्री बद्रीनाथ तिवारी, श्री विद्याभास्कर, श्री रामप्रताप त्रिपाठी, डा० मुरलीमनोहर जोशी, श्री ओंकार शरद, श्री रजनीकांत वर्मा, श्री बालकृष्ण राव, श्रीमती उमाराव, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा एवं यशपाल।

गोष्ठी में हिन्दी सप्ताह और भाषा विधेयक से संबंधित कार्यों पर विचार-विमर्श किया। संघर्ष समिति ने निश्चय किया कि शिष्ट मण्डल एवं सार्वजनिक सभा समिति भंग कर दी जाय।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा एक कार्यक्रम का हवाला देते हुए श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि आगामी कार्यक्रम के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके लिए एक सुनियोजित योजना बना कर हिन्दी के कार्य को आगे सशक्त रूप में बढ़ायें।

समिति ने प्रस्तुत प्रारूप पर विचार करने के लिए और योजना के अन्य पहलू पर विचार-विमर्श करने के लिए योजना समिति का निर्माण किया, जिसके निम्नलिखित सदस्य चुने गये——

१. श्री बालकृष्ण राव, २. श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, ३. श्री रामगोपाल सण्ड, ४. श्री डा० मुरलीमनोहर जोशी, ५. श्री विद्याभास्कर, ६. श्री श्रीकृष्णदास, ७. श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, ८. श्री डा० हरदेव बाहरी, ९. श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री,

गोष्ठी ने निश्चय किया कि योजना समिति की बैठक आगामी २१-९-६४ को सायंकाल ७ बजे प्रारूप के विचारार्थ सत्यनारायण कुटीर में बुलाई जाय।

दिनांक २१-९-६४ को योजना समिति की बैठक श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय की अध्यक्षता में सत्यनारायण कुटीर में ७ बजे से हुई। निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे——

डा० मुरलीमनोहर जोशी, श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, श्री श्रीकृष्णदास, श्री रामगोपाल सण्ड, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, डा० हरदेव बाहरी।

योजना को श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने पढ़कर सुनाया। तत्पश्चात् निश्चय हुआ कि इसकी दूसरी बैठक २५-९-६४ को बुलाई जाय और उस बैठक में समिति के सदस्य प्रारूप के अतिरिक्त जो सुझाव देना चाहें दें।

हिन्दी संघर्ष सीमिति

हिन्दी संघर्ष समिति की योजना-समिति की एक बैठक सत्यनारायण कुटीर में २५-९-६४ को सायंकाल हुई। निम्नलिखित सदस्य उपस्थित थे——

१. श्री बालकृष्ण राव, २. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, ३. डा० मुरली मनोहर जोशी, ४. श्री रामप्रताप त्रिपाठी, ५. श्री श्रीकृष्णदास

बैठक की कार्रवाई समाप्त हो जाने के बाद श्री रामगोपाल संड और श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय भी पधारे।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा प्रस्तुत कार्य-योजना पर विचार हुआ और निम्नलिखित निश्चय किये गये——

(१) विभिन्न संस्थाओं और कार्यालयों में हिन्दी समितियों का निर्माण कराया जाय और उनके द्वारा कार्यालयों में हिन्दी के काम को बढ़ाने के उपाय किये जायँ—

श्री रामगोपाल संड को इस कार्य के लिए एक समिति गठित करने, व्यावहारिक योजना बनाने और उसके अनुसार कार्य संचालित करने का दायित्व सौंपा गया। वे ही इस समिति के संयोजक होंगे।

(२) बड़े कार्यालयों, संस्थानों आदि के पदाधिकारियों से मिलकर हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना—

इस कार्य का दायित्व श्री बालष्ण राव पर रहेगा। वे अपनी समिति, जिसके वे संयोजक होंगे, स्वयं गठित करके कार्य-योजना बनायेंगे और तदनुसार कार्य अग्रसर करायेंगे।

(३) विगत १२-९-६४ को एनीबेसेन्ट हाल में हुई संगोष्ठी के नमूने पर विचार-गोष्ठियों का आयोजन—

इस कार्य के लिये श्रीमती उमाराव संयोजक के रूप में समिति गठित करेंगी, योजना बनायेंगी और कार्य अग्रसर करेंगी।

(४) विभिन्न जिलों में संघर्ष समितियों का निर्माण और वहाँ के कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन देना।

यह कार्य श्री रामप्रताप त्रिपाठी को सौंपा गया जो एतदर्थ समिति गठित करेंगे और योजना बनायेंगे।

(५) विश्वविद्यालय के अधिकारियों से मिलकर वहाँ हिन्दी का कार्य अग्रसर करना।

इस कार्य का दायित्व श्री बालकृष्ण राव को सौंपा गया।

(६) व्यापारियों से मिलकर उन्हें अपना समस्त कार्य हिन्दी में करने के लिए तैयार करना।

यह कार्य श्री हरिमोहनदास टंडन को सौंपा गया।

(७) हिन्दी आंदोलन की चेतना जागृत करने और हिन्दी का संदेश घर-घर पहुँचाने के लिए छोटी-छोटी पुस्तकों का प्रणयन और प्रकाशन।

इस कार्य के लिए निम्नलिखित ४ सदस्यों की समिति गठित की गयी जिसके संयोजक श्री विद्याभास्कर होंगे।

१. श्री बालकृष्ण राव, २. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, ३. श्री श्रीकृष्णदास, ४. श्री विद्याभास्कर (संयोजक)

(८) प्रदेश की जनता के मन में यह बात भलीभाँति जमा देना कि सब काम केवल हिन्दी में करना, जो उसका राष्ट्रीय कर्त्तव्य है २५-१-६५ के बाद उसका वैधानिक अधिकार हो जाता है। इसके लिए अनेक प्रकार से प्रचार्य कार्य आवश्यक होगा।

इसकी विस्तृत योजना बनाने और उसके अनुसार कार्य अग्रसर करने के लिए निम्नलिखित लोगों की समिति गठित की गयी—

१. श्री विद्याभास्कर, २. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, ३. श्री रामगोपाल संड, ४. श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री तथा ५. डा० मुरली मनोहर जोशी (संयोजक)

(९) श्री रामप्रताप त्रिपाठी के सुझाव पर निश्चित हुआ कि एक प्रचार प्रश्नावली तैयार कराकर वितरित करायी जाय। प्रश्नावली श्री रामप्रताप त्रिपाठी तैयार करेंगे।

(१०) सरकार से माँग करना कि टेलीफोन डाइरेक्टरी आदि सामान्य जनोपयोगी पाठ्य सामग्री हिन्दी में ही प्रकाशित की जायँ। इस कार्य का दायित्व श्री विद्याभास्कर को सौंपा गया।

(११) अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध आंदोलन——
इसके लिए श्री बालकृष्ण राव संयोजक के रूप में समिति गठित करेंगे और कार्य अग्रसर करेंगे।

(१२) माघमेला क्षेत्र में शिविर लगाकर प्रचार कार्य करना।
यह कार्य प्रचार समिति को सौंपा गया।

(१३) उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी माध्यम की उपयुक्तता को स्वीकार कराना, विरोधी आरोपों का खंडन करना आदि——एतदर्थ गोष्ठियों का आयोजन करना।
इसका दायित्व डा० हरदेव बाहरी को सौंपा गया।

(१४) न्यायालय में हिन्दी के प्रयोग के लिए लोगों को तैयार करना।
इसका दायित्व डा० रामशंकर द्विवेदी को सौंपा गया।

यह भी निश्चय किया गया कि योजना समिति की बैठक प्रति वृहस्पतिवार को सायं-काल ७ बजे सत्यनारायण कुटीर में हुआ करे। इन बैठकों के लिए सूचना निकालना आवश्यक न होगा। प्रत्येक बैठक में हुए निश्चय लिपिबद्ध किये जायँ और समिति के सचिव (श्री रामप्रताप त्रिपाठी) के पास रहें।

●

हिन्दी प्रचार योजना का प्रारूप

संघर्ष समिति द्वारा प्रस्तावित

सम्पर्क-कार्य
शोध-कार्य
प्रचार-कार्य

हिन्दी प्रचार योजना का प्रारूप

संघर्ष समिति द्वारा प्रस्तावित

सम्पर्क-कार्य

हिन्दी आज बहुत-सी जगहों पर इसलिये नहीं चल रही है या प्रयोग में आ रही है; क्योंकि अधिकांश रूप में लोगों में अंग्रेजी का प्रयोग करने की आदत-सी बन गयी थी। बहुत आज भी अंग्रेजी में काम करते जा रहे हैं। सम्पर्क कार्य के अन्तर्गत हम विभिन्न संस्थाओं, संस्थानों और कार्यालयों में हिन्दी समितियों का निर्माण करायेंगे और वहाँ उस क्षेत्र विशेष में उस समिति द्वारा हिन्दी का काम आगे बढ़ाने की चेष्टा करेंगे।

हिन्दी समितियों में रचनात्मक आन्दोलन चल सकेगा। लोगों को हिन्दी के विषय में सूचनाएँ दी जायेंगी। **पारिभाषिक** शब्दों, **आलेखों** आदि को अंग्रेजी से हिन्दी करने में सहायता दी जायगी। उन अधिकारियों से मिला जायगा, जो हिन्दी को चलाने में बाधा पहुँचाते हैं।

सम्पर्क कार्य के अन्तर्गत विचार गोष्ठियों का आयोजन किया जायगा। स्थानीय केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारी कार्यालयों के अधिकारियों को आमंत्रित करके सामूहिक रूप से विचार विनिमय करने, निष्कर्षों को कार्यान्वित कराने में सहयोग प्रदान करना सम्पर्क समिति का एक मुख्य अंग होगा।

इसी प्रकार विभिन्न जिलों में संघर्ष समितियों का निर्माण करना और वहाँ के स्थानीय कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग किये जाने को प्रोत्साहित करना भी सम्पर्क समिति का काम होगा। इन जिलों में भी क्षेत्रीय कार्यालयों के संचालकों को बुला कर उनके साथ बैठ कर विचार विनिमय के साथ-साथ संविधा रूप में हिन्दी के काम को आगे बढ़ाने में जो कुछ भी संघर्ष समिति योजना बनायेगी उसके अनुसार काम आगे बढ़ाना होगा। सम्पर्क समिति विश्वविद्यालयों के अधिकारियों से मिलेगी और विश्वविद्यालय में हिन्दी चलाने के लिए प्रयत्न करेगी।

सम्पर्क एवं प्रचार के आधार पर हम जनमत को शिक्षित करके, दुकानों, बहियों, रसीदों आदि के हिन्दीकरण का भी आंदोलन चला सकते हैं।

हम जितनी सेवाएँ उन पुस्तकों को तैयार कराने के लिए अर्पित करें, जिनके बिना शिक्षा या सरकारी दफ्तरों में हिन्दी का काम आगे नहीं बढ़ रहा है।

शोध-कार्य

हिन्दी को चलाने और अंग्रेजी को हटाने के लिए संघर्ष समिति को सम्पर्क के साथ-साथ शोध भी करना पड़ेगा। इस शोध-कार्य में हमें निम्नलिखित कार्य करना होगा:—

(१) हर संभव फार्म और उसके साथ सरकारी अनुबन्ध पत्रों का हिन्दी प्रारूप छपाना और उसे प्रस्ताव रूप में प्रकाशित करने के साथ साथ प्रत्येक सरकारी कार्यालय में नमूने के रूप में भेजना और इस बात के लिए आग्रह करना कि वे उस रूप को चलायें। सम्मेलन द्वारा अनूदित फार्मों को सरकार से स्वीकृति दिलाना या सरकारी आदेशों के अनुसार उनको तैयार करना।

(२) सरकारी कार्यालयों और विश्वविद्यालयों एवम् शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी के व्यवहार में विभिन्न विषयों में प्रयोग किए जाने वाले विशिष्ट शब्दों के प्रयोगों का संकलन करना और उनका हिन्दी रूप उन कार्यालयों और विश्वविद्यालयों में उपलब्ध कराना। मेरा अपना मत है कि इस कार्य को समय समय पर उन कार्यालयों की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए उनकी शिकायतों को दूर करने की दृष्टि से संयोजित करना चाहिए।

(३) राष्ट्रभाषा और राज-भाषाओं को लेकर विभिन्न देशों में जो आंदोलन हुए हैं उनका संक्षिप्त परिचय प्रदान करना, उससे सम्बन्धित लेख और आलेख प्रस्तुत करना, उन्हें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भेजना और प्रकाशित करना। आवेदन पत्र, छुट्टी के फार्म, रिजर्वेशन फार्म आदि प्रामाणिक रूप में बनाना और उनके प्रारूपों को चलाने का प्रयास करना।

(४) आंकड़े इकट्ठा करना। तकनीकी पुस्तकों के प्रकाशनों की पर्याप्त सूचना रखना। जिनकी आवश्यकता हो उन्हें लिखना, लिखाना और प्रकाशित करवाना। साथ साथ आंकड़ों को भी रखना। तात्कालिक रूप से किसी भी षड्यंत्र या बाधा या गलत प्रचार को रोकने के लिए आवश्यक है।

(५) छोटी छोटी पुस्तकों का प्रकाशन जिनकी सूची संलग्न है।

प्रस्तावना

१. हिन्दी चलाने में संविधान द्वारा प्राप्त अधिकार और उन अधिकारों का हम किस सीमा तक उपयोग कर सकते हैं।	६४ पृष्ठ
२. चार प्रदेशों में हिन्दी चलाने का क्या अर्थ है?	६४ पृष्ठ
३. अंग्रेजी के समर्थकों की तर्कगत विसंगतियाँ।	१२० पृष्ठ
४. न्यायालयों में हिन्दी कैसे चलावें।	१०० पृष्ठ
५. गुलामी की आदतें हिन्दी प्रगति में बाधक।	६४ पृष्ठ
६. अनिवार्य अंग्रेजी पढ़ाने के दुष्परिणाम।	६४४ पृष्ठ
७. अंग्रेजी माध्यम : विषय ज्ञान या भाषा ज्ञान।	१०० पृष्ठ
८. विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी।	१०० पृष्ठ
९. दक्षिण में हिन्दी का काम।	१२० पृष्ठ
१०. व्यापारी, व्यवसायी समुदाय और हिन्दी।	१०० पृष्ठ

यद्यपि संपर्क, प्रसार और शोधकार्य मुख्यतः प्रचार के अर्थ में हैं फिर भी प्रचार का विशेष अर्थ केवल जनमत और जन आंदोलन के सार पर ही होगा।

१. राष्ट्र भाषा की कल्पना और राष्ट्र भाषा	१०० पृष्ठ
२. आंकड़े बोलते हैं......	६४ पृष्ठ
३. बात बोलेगी हम नहीं......	६४ पृष्ठ
४. अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अंग्रेजी का स्थान......	१०० पृष्ठ
५. कुछ सरकारी पत्रकों के अनुवाद......	१०० पृष्ठ

प्रचार-कार्य

यद्यपि संपर्क, प्रसार और शोधकार्य मुख्यतः प्रचार के अंग हैं फिर भी प्रचार का विशेष वर्ग केवल जनमत और जन आन्दोलन के सार पर ही होगा।

(१) पहला काम तो यह करना है कि काफी बड़े पैमाने पर जनता में यह बात फैलानी है कि २५ जनवरी १९६५ के बाद केवल हिन्दी में काम करने का अधिकार उन्हें व्यक्तिगत रूप से प्राप्त है। इसके लिए निम्नलिखित योजनाएँ काम में लाई जानी चाहिए:—

(अ) पोस्टरों द्वारा जगह जगह, गली गली में विशेषकर सरकारी कार्यालयों में यह बात प्रत्येक व्यक्ति के दिमाग में बैठा देना चाहिए कि २५ जनवरी से अंग्रेजी बन्द हो हो गई या हो जायगी।

(ब) जगह जगह पुस्तकालयों और अन्य मोहल्ला समितियों में बिलकुल आंकड़ों के साथ यह बता देना चाहिए कि अंग्रेजी समाप्त हो गई।

(स) सिनेमा घरों में स्लाइड्स की व्यवस्था द्वारा भी २५ जनवरी अंग्रेजी विदा दिवस के रूप में दिखाई जानी चाहिए।

(द) समस्त संस्थाओं में प्रचार विभाग द्वारा साइक्लोस्टाइल्ड पत्रकों के माध्यम से उनके अधिकारों को सूचित करना चाहिए।

(घ) समस्त शिक्षा संस्थाओं और सरकारी कार्यालयों में स्थापित हिन्दी समितियों में जाकर उन्हें सूचना से अवगत कराते हुए हिन्दी में काम करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(न) २५ जनवरी को एक विशेष आयोजन करके इस बात को मुख्य रूप से प्रचारित करने के साथ साथ, विशेष विराट सभा में इसकी घोषणा करनी चाहिए कि यह सभा तभी सफल हो सकती है जब इसको अभी से हम सुचारु रूप से संयोजित करेंगे।

(प) हस्ताक्षर सप्ताह : संगठित करके उन समस्त लोगों को जो हिन्दी में हस्ताक्षर नहीं कर पाते हैं उनको हस्ताक्षर करना सिखाया जाय। इससे हिन्दी के प्रसार में वृद्धि होगी।

(२) दूसरा काम हिन्दी समाचार नामक पत्रिका का लगातार छपने की योजना को सुदृढ़ करना। यह काम हिन्दी समाचार के अंकों द्वारा किया जा सकता है। इस पत्रिका को चार खंडों में विभाजित किया जाना चाहिए। आलेख, तथ्य, और आँकड़े तथा दक्षिण आंदोलन नया संघर्ष। इन चारों स्तम्भों के साथ साथ समसामयिक सूचनाएँ, टिप्पणियाँ और हिन्दी के विकास में बाधाएँ उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियों का भी विवेचन होना चाहिए।

(अ) **आलेख** खंड में भाषा के कुछ सैद्धान्तिक पक्षों द्वारा उसकी प्रकृति, सांस्कृतिक चेतना और विचार ग्राह्यता के विषय में लिखा जाना चाहिए। हमें उसको नियोजित ढंग पर अपनी प्रचार पत्रिका में देकर वास्तविक भाषात्मक एकता को जागृत करना चाहिए।

(ब) तथ्य और आँकड़ों का विज्ञापन नितांत आवश्यक है। कुछ पोस्टर्स तो केवल चेतना और विचारण ग्राह्यता के विषय में लिखा जाना चाहिए। हमें उसको नियोजित ढंग पर अपनी प्रचार पत्रिका में देकर वास्तविक भाषात्मक एकता को जागृत करना चाहिए।

(ब) तथ्य और आँकड़ों का विज्ञापन नितांत आवश्यक है। कुछ पोस्टर्स तो केवल आंकड़ों के आधार पर बनवाना चाहिए जैसे ३७ के शासन ने हिन्दी किस मात्रा में चलाई और फिर पाँच वर्ष के आंकड़ों द्वारा सिद्ध करना चाहिए।

(स) आंदोलन के दो रूप होंगे एक तो रचनात्मक और दूसरा खंडनात्मक।

रचनात्मक आन्दोलन

(१) निजी व्यवहार में हिन्दी लाने के लिए सुझावों को इकट्ठा करना और उनको संकलित करके जनता तक पहुँचाना और उसे आन्दोलन का रूप देना।

(२) व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी को चलाने के लिए माँग करना और जनमत तथा सरकार के बीच माध्यम बन कर हिन्दी के प्रयोग के लिए जागरूक करना और जैसे टेलीफोन डाइ-रेक्टरी, तार, डाक टिकट आदि पर, टिकट मशीनों पर केवल हिन्दी होना।

(३) नगर महापालिका से आग्रह करना कि वह अपने क्षेत्र में विज्ञापन करनेवालों को बाध्य करे कि सारे विज्ञापन हिन्दी में ही हों।

(४) सार्वजनिक संस्थाओं में हिन्दी के प्रयोग के लिए आन्दोलन जैसे रोटरी क्लब आदि संस्थाएँ हैं। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि आज का व्यावसायिक वर्ग रोटरी क्लबों में जाकर आधुनिक बनने का ढोंग करता है।

(५) अनिवार्य अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध आंदोलन को जारी रखने के लिए संगठन तैयार करना और उसको एक सुनियोजित और संगठित रूप देना।

(६) माघ मेला में कैम्प लगाकर प्रचार कार्य संगठित किया जा सकता है। इस साल भी कुम्भ मेले के सिलसिले में देश के हर कोने से यात्री आयेंगे।

खण्डनात्मक आन्दोलन

पिछले सत्रह वर्षों में शासन और अन्य बुद्धिजीवियों द्वारा प्रकार प्रकार की बातें फैलायी गयी हैं। अभी तक इनका खण्डन केवल छुट-पुट रूप में किया गया है। प्रचार समिति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह इनका व्यवस्थित और तथ्यात्मक खण्डन करके सत्य को प्रदर्शित करे।

(१) सरकारी प्रचारों का खण्डन : अंग्रेजी के सम्बन्ध में और उसे स्थायित्व देने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा अनेक प्रकार के नोट और भ्रम फैलाए गए हैं। प्रचार समिति का यह कार्य होगा कि उन समस्त भ्रमों को तथ्यात्मक और प्रामाणिक रूप में खण्डित करके वस्तुस्थिति के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करे। यह काम नितान्त आवश्यक है।

(२) अहिन्दी भाषी प्रान्तों में यदि हिन्दी को लेकर वहाँ के लेखकों और विचारकों

के मन में कोई भ्रम है तो उसका भी खण्डन ठीक ढंग से तथ्यात्मक रूप में करना प्रचार समिति का कर्तव्य है और उसे भी करना चाहिए। यह प्रकाशन प्रदेशीय भाषाओं में भी वितरित होने चाहिए।

(३) शिक्षा संस्थाओं द्वारा हिन्दी के उपयोग न होने के सम्बन्ध में जो मिथ्या आरोप लगाए जाते हैं उनका भी खण्डन हो ही साथ ही जितनी भी गलत पाठ्य पुस्तकें हिन्दी के नाम पर लगी हैं उनका भी आलोचना करके उनको सुधरवाने का प्रयास करना।

(४) विश्वविद्यालयों में शिक्षा माध्यम के रूप में पूर्णतः हिन्दी स्वीकार करने में वहाँ की व्यवस्था अब भी आनाकानी करती है। उनके समस्त आरोपों का तर्कगत खण्डन करके हिन्दी के पक्ष को सुदृढ़ करना। इसके लिए समय समय पर गोष्ठियों का आयोजन करना और उसके उपायों को ढूँढ़ना।

(५) न्यायालयों में हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के तकनीकी कमियाँ गिनाई जाती हैं। विधि से संबद्ध विचारकों और चिन्तकों द्वारा हमें उन समस्त कुतर्कों का खण्डन करवाना चाहिए।